Reg. No. : N-1316/2014-15

May-October 2015
Vol. I, No. II
ISSN 2394-2207

हाशिए के समाज पर केन्द्रित

उन्मेष

Unmesh

An International Half Yearly
Refereed Research Journal

सम्पादक
डॉ० राधेश्याम मौर्य

सह-सम्पादक
शिवेन्द्र कुमार मौर्य

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

iFke [k.M

Ikleknk foe'k % gd gqdd dh oqpkfjdh

Mk- vuqjkx dqekj*

पसमांदा विमर्श की ज़मीन दलित विमर्श और पिछड़े समाज की साझा विरासत है। दलित जीवन का दर्द जिस धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक जटिलताओं पर प्रहार करता हुआ मनुष्यता के नए सन्दर्भों का सृजन करता है उन्ही संदर्भों को पसमांदा विमर्श मुस्लिम समाज की जटिलताओं में देखा है। उन्हीं संदर्भो से पसमांदा विमर्श सिर्फ इस रूप में अलग है कि दलित विमर्श जहाँ हिन्दू धार्मिक संस्था के वर्चस्व निर्मित समाज में दलित होने, भोगने और वंचित होने की अमानवीय वर्ण व्यवस्था और प्रभु वर्गीय पितृसत्ता के खिलाफ वैचारिकी है, वही पसमांदा विमर्श इसी अवस्था को मुस्लिम समाज में व्याप्त शोषण और अमानवीयता के खिलाफ वैचारिकी है।

पसमांदा शब्द फारसी भाषा का शब्द है, जो दो शब्दो 'पस' और 'मांदा' के योग से बना है। पस का अर्थ है 'पीछे' तथा 'मांदा' का अर्थ है 'छूट गया'। अर्थात् पसमांदा का अर्थ हुआ जो किसी समाज (मुस्लिम) में विकास के लाभ से वंचित होकर पीछे छूट गये। विमर्श की नई राह के साथ पसमांदा मुस्लिम समाज का विखरा हुआ कुनबा विकास की नयी तारीख रचने की आशा में अग्रसर सामूहिक चेतना है।

अभेद की वैचारिकी इस्लाम की पूँजी है। इस सत्य की निरंतरता मौजूद होने के बावजूद व्यावहारिक तौर पर नए मंजर को पेश करती है। हिन्दू समाज जहाँ जाति–पांत, वर्णों, ऊँच–नीच तथा आर्थिक अधिकारों की असमानता पर स्थिर है। वहीं मुस्लिम समाज के प्रति यह स्थिर धारणा 'इस्लाम में कोई जात–पांत नहीं होता, सभी मुसलमानों को समान दर्जा प्राप्त होता है।' के उलट कई सवाल पसमांदा विमर्श के तथ्य परक विश्लेषण में उभरते है। क्या हिन्दू समाज की तरह असमानताओं और उपेक्षाओं का शिकार मुस्लिम समाज भी है? पसमांदा विमर्श की वैचारिकी इन सवालो के साथ गैर बराबरी और उपेक्षा के शिकार जोलाहा, हलालखोर, लालबेगी, भटियारा, गोरकन, बक्खो, मीर शिकार, चिक, रंगरेज, दर्जी इत्यादि की आवाज को एक मंच देता है और मुस्लिम समाज के प्रति स्थापित पूर्व की धारणाओं का खण्डन करता है।

'आशराक','अजलाफ' और 'अरजाल' की व्यावहारिक बाँट में बँटा मुस्लिम समाज सैद्धान्तिक रूप से भले ही एक हो परन्तु भीतर–भीतर वह भी कटुता और घृणा का सबब लिए हुए है। इस बँटवारे का सबसे ज्यादा भुगदण्ड 'अरजाल' आजादी ने झेला। 'के दामोदरन' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन परम्परा', पृष्ठ–304 पर इस सन्दर्भ में लिखा है, ''इस्लाम धर्म भी भारत की धार्मिक–दार्शनिक प्रणालियों में से एक बन गया और जाति–भेदों का दूर होना तो दूर रहा, वे इस्लाम में भी प्रकट होने लगे। उँची जाति के जिन हिन्दुओं ने इस्लाम अपनाया, उन्हे 'शरीफो' में शामिल होने का सौभागय प्राप्त हुआ जबकि नीच जाति वाले ऐसे हिन्दू 'अजलाफ' ही रह गये। इस्लाम अपनाने वालों ने अपना धर्म तो बदल दिया, लेकिन उनके लिए अपने रीति–रिवाजों और परंपराओं को बदलना आसान नहीं था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि समाज में अपनी आर्थिक स्थिति को बदलना उनके लिए आसान नही था। इस्लाम को स्वीकार कर लेने के बाद भी, नीची जाति के लोगों को दूर–दूर ही रखा जाता था।''[1]

---

*एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

धर्म परिर्वतन के इस यथार्थ को के0 एम0 अशरफ ने स्पष्ट लिखा है, ''इस्लाम स्वीकार कर लेने वाला औसत मुसलमान अपने पुराने वातावरण को, जो जात–पांत के भेद–भाव और आम सामाजिक अलगाव से अत्यधिक प्रभावित था, बदल नहीं पाता था। फलतः भारतीय इस्लाम धीरे–धीरे हिन्दू धर्म के व्यापक लक्षणों को आत्मसात करने लगा। जिन अलग–अलग वर्गों से मुस्लिम समुदाय का गठन हुआ था, वे एक ही शहर में एक–दूसरे से दूर–दूर , और यहाँ तक कि अलग–अलग बस्तियों में रहने लगा।''[2]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय मुस्लिम समाज अपनी आरंभिक अवस्था में जहाँ शेख, सैयद, पठान आदि के रूप में शासक वर्ग का हिस्सा था वहीं धर्म परिवर्तन से मुस्लिम समाज का विस्तार हुआ। इस विस्तारित समाज की अपनी कमजोरियाँ थीं जो कभी भी दूर न की जा सकीं। शरीफों का तबका 'अशराफ' और कामगार किसानों तथा मजदूरों का तबका 'अजलाफ' के रूप में अपनी हैसियत बनाए रखा। 'अरजाल' इन सबसे छूटे हुए लोग थे जो हर समाज में अछूत ही थे। समाज में भेद को बनाए रखने के प्रयास होते रहते थे। हिन्दू धर्माधिकारी की तरह मुल्ला भी जाति भेदों के अस्तित्व में बने रहने के लिए प्रोत्साहित करते थे और भेद परक समाज व्यवस्था को अल्लाह का फरमान मानते हुए उसे कायम रखने पर बल देते थे। बाकिर खां ने 1612 में अपनी रचना 'सरकार को आदेश में लिखा–''शासकों को बुरे स्वभाव वाले अयोग्य लोगों को उन लोगों की बराबरी करने की इजाजत नहीं देनी चाहिए, जो पवित्र कुल में जन्में और बुद्धिमान हैं। उन्हें चाहिए कि वे अलग–अलग श्रेणियों को कायम रखना हुकूमत का बुनियादी उसूल और रिवाज मानें।''[3]

भेद–भाव की कोशिशों को झेलता मुस्लिम समाज उत्तरोत्तर विस्तार लेता रहा। अरबी भाषा के शब्द 'अशराफ' जिसकी व्युत्पत्ति 'शर्फ' शब्द से हुई है। जिसका अर्थ है 'शरीफ', 'अजलाफ' शब्द 'जल्फ' से निष्पन्न है जिसका अर्थ है नीच और अरजाल शब्द 'रज्ल' से बना है जिसका अर्थ है निकृष्ट। पसमांदा विमर्श मानता है कि मुस्लिम समाज में भेद–भाव के बीज हिन्दू समाज के इस्लाम परिर्वतन से पूर्व ही मौजूद थे। अगर ऐसा नहीं होता तो ये शब्द व्यवहार रूप में अरब से चलकर हिन्दुस्तान नहीं आते। यह दिगर है कि धर्म परिवर्तित मुसलमान अपने साथ अपनी जाति और समाज में स्थान को लेकर ही मुस्लिम समाज में प्रवेश किया। इससे भी पहले मुस्लिम समाज में ऊँच–नीच का भेद (भारत से बाहर जहाँ हिन्दू समाज मौजूद नहीं था) आकार ले चुका था। इस तथ्य को 'शाह अब्दुल अजीज देहलवी' की पुस्तक 'सुल्तान उल–उ़ल–मुहद्देसीन' में जिक्र की गयी घटना के बरक्स समझा जा सकता है बुखारा के अमीर खलिद बिन अहमद जिलही ने अपने बच्चों को तालीम देने के लिए धर्म शिक्षक अबु अब्दुल्लाह मोहम्मद उल–बुखारी (सन् 810–870 ई0) को अपने घर बुलाना चाहा क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे हाईक (जुलाहों) और इसक़ाफ (चमारो) के साथ बैठकर मदरसे में शिक्षा ग्रहण करे। रक्त–गोत्र, ऊँच–नीच को बनाए रखने का उसने अनेक प्रयास किया लेकिन धर्म शिक्षक अड़ा रहा कि वह सभी बच्चों को एक साथ एक समान शिक्षा देगा। इसके एवज में धर्म शिक्षक को बुखारा में प्रभावी अमीर ने अपने प्रभाव के बल पर बुखारा से निकलवा दिया।

इस रूप में हम देखते हैं कि गैर भारतीय मुस्लिम समाज भी ऊँच–नीच के असमान सामाजिक बँटवारे का उतना ही शिकार था जितना भारतीय मुस्लिम समाज। पसमांदा विमर्श की वैचारिकी मानती है कि ऊँच–नीच का भेद–भाव इस्लाम के भारत प्रवेश से पूर्व भी मौजूद थी, जो नव्य परिवर्तित भारतीय मुसलमानों से धार्मिक बिरादाराना का व्यवहार तो करती थी लेकिन लोक व्यवहार में अशराफ, अजलाफ और अरजाल के अन्तर में बँटी हुई थी। यह अन्तर आजादी के बाद आजतक बना हुआ है। सदियों से दबाई गयी मुस्लिम समाज की पसमांदा जमात अपने हक़–हुकूक़ के लिए उठ खड़ी हुई है। जो मुस्लिम समाज में दलित और पिछड़ों की नुमाइंदगी करती है और अभिजात वर्ग की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक हैसियत का पुनर्मूल्यांकन। इस क्रम में वह यह तय करती है कि उसने अतीत (इतिहास) से वर्तमान तक क्या पाया और क्या खोया।

पसमांदा विमर्श इतिहास का मूल्यांकन दलित–पिछड़ों के हक से जुड़े सवालों के परिप्रेक्ष्य में करती है। अतीत की उस राह को वह रेखंकित करती है जिस पर उसे चलने के लिए मजबूर किया गया तथा उसके हक को जुबाँ नहीं दी गयी। अगर ऐसी कोई आवाज उभरी तो उसे तत्क्षण दबा दिया गया। मौलाना अतीकुर्रहमान आरवी ऐसी ही आवाज थे जो पसमांदा वैचारिकी के प्रेरणा स्रोत हैं। इन्हे डोमवा मौलवी के नाम से तंज किया गया। मौलाना अतीकुर्रहमान अब्दुल कय्यूम अंसारी के समकक्ष थे। दोनों ने कायदे–आज़म जिन्ना की दो कौमी हठ का जमकर विरोध किया और पसमांदा तबकों की उन्नति के लिए आवाज उठायी। लोक श्रुत या मौखिक इतिहास के अनुसार मौलाना अतीकुर्रहमान आरवी नासरीगंज के मजहबी जलसे में जिन्ना की दो कौमी नीति के खिलाफ बोल रहे थे। वहाँ मौजूद मुस्लिम लीग के समर्थकों ने उनका विरोध किया। मौलाना अतीकुर्रहमान ने दो कौमी राष्ट्र की नीति के खिलाफ तर्क दिया कि हिन्दू–मुसलमानों की धार्मिक मान्यताएँ भले अलग–अलग हों परन्तु दोनों की कौम और खून एक है ऐसा ऐसे कि ''कुरआन में इन्सान लब्ज है, हिन्दू या मुसलमान नहीं। खुदा की नजर में सभी इन्सान बराबर है। सभी खुदा के बन्दे हैं चाहे वे किसी मुल्क, किसी खानदान, किसी कौम से ताल्लुक रखते हों। हरिजन हो या पंडित, जुलाहा–धुनिया हो या सैयद–पठान, सबको खुदा ने ही पैदा किया है। उसने नेमते देने में कोई भेदभाव नहीं किया। सही बात यह है कि हम सभी एक ही माँ–बाप, आदाम–हव्वा की औलाद है।'' यह सुनकर किसी ने कहा कि यह कहना सरल है निबाहना मुश्किल है। अगर ऐसा आप मानते हैं तो क्या आप किसी मेस्तर का झूठा पानी पी सकते हैं। मौलाना ने हामी भर दी और कहा हाँ पी सकता हूँ वह चाहे हिन्दू मेस्तर हो अथवा मुस्लिम मेस्तर। गंगवा मेस्तर को नहला–धुला कर लाया गया। गंगवा के हाथ में एक गिलास पानी देकर कहा गया कि आधा पानी पीकर मौलाना को पीने को दो। मौलाना ने बिना किसी संकोच और झिझक के गंगवा मेस्तर का जूठा किया हुआ पानी पी लिया। उन्हें मुस्लिम समाज के तथाकथित शरीफ लोगो ने 'डोमवा मौलवी' नाम से नवाज दिया। ये वे लोग थे जो धर्म के नाम पर जिस अलग देश की माँग कर रहे उस धर्म को मानने वाली 'अजलाफ' और 'अरजाल' जनता के लिए वहाँ कोई जगह नहीं थी।

यह घटना इस तथ्य का प्रमाण है कि मौलाना जैसे बहुलांश के हक की वकालत करने वाले लोगों की वैचारिकी को राजनीति और समाज के बड़े ओहदे पर बैठे लोगों की वैचारिकी के बरक्स हीन मानने वाले वे ही लोग हैं जिनका समाज में ऊँचा रसूख है और उन्हे धर्म के ठेकेदार गैर बराबरी में बँटी जनता पर शारीरिक और मानसिक शोषण करने का अधिकार देते हैं। इस शोषण का पूरा रंग सामंती है। यही स्थिति हिन्दू समाज में दलितों और पिछड़ों की रही है। इस सत्य को पसमांदा विमर्श बेबाकी से उठाता है। इस रूप में पसमांदा विमर्श मुस्लिम समाज की बाहरी शक्ल के पीछे छिपे भीतरी दर्द की समीक्षा करता है। यह विमर्श साहित्यिक न होकर सामाजिक और राजनीतिक उभार लिए हुए है।

25 अक्टुबर 1998 को बिहार राज्य की राजधानी पटना में विधायक क्लब हॉल में एक बैठक आयोजित की गयी जिसमें 'पसमांदा मुस्लिम महाज बिहार' का गठन किया गया। इस तरह पसमांदा विमर्श ने एक संगठित शक्ल में उभार लिया। इन नव निर्मित संगठन ने 13 दिसम्बर 1998 को पटना में अशराफ समूह को आरक्षण के हक से बाहर करते हुए विकास की नयी इबादत रचने का काम किया। इस महाज (मोर्चा) ने पसमांदा समाज के उत्थान के लिए काम करने का संकल्प लिया तथा राजनीतिक और धार्मिक हलको में पसमांदा मुस्लिमों की ज्यादा से ज्यादा हिस्सेदारी तय करने के सवाल को मजबूती से उठाया। इस संगठन और इसकी वैचारिकी को मुस्लिम समाज और पूरे मुल्क के लिए खतरा बताने वाले संगठनों ने इसके खिलाफ जबरदस्त माहौल बनाने की जी तोड़ कोशिश की। वे अपने इरादे में सफल नहीं हो सके। वे पसंमांदा महाज को मुसलमानों में फूट डालने की राजनीति के तौर पर लेते रहे।

अली अनवर ने अपनी पुस्तक 'मसावात की जंग' में पसमांदा मुस्लिम महाज के बनने से होने वाली सियासी तथा सामाजिक हलचलों पर लिखते हुए स्पष्ट किया कि पसमांदा महाज का प्रमुख

एजेण्डा क्या है। ''पसमांदा महाज ने मुस्लिम एजेण्डा–99 के अन्तर्गत (सभी मुस्लिमों को आरक्षण तथा मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र) के जबाब में 'पसमांदा मुस्लिम एजेण्डा : नयी सदी की ओर', जारी किया, जिसमें टोटल रिजर्वेशन और मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की मांगों को साम्प्रदायिक और अलगाववादी करार दिया गया। मुसलमानों की नुमाइंदगी बढ़ाने के लिए महाज ने दलित मुस्लिम आरक्षण और पसमांदा तबको को उनकी आबादी के हिसाब से टिकट देने की मांग की। बिहार से पसमांदा तबको के सांसद (1999 का लोकसभा चुनाव) नहीं जीते, इसके लिए तबका–ए–अशराफिया के सियासी और मजहबी लीडर किसी भी गंदे खेल से बाज नहीं आये। इसमें उन्हें कामयाबी भी मिली, लेकिन इसकी कीमत भी उन्हें चुकानी पड़ी। बिहार में उनके सांसद पाँच से घट कर तीन हो गये। पसमांदा मुस्लिम महाज तो कोई सियासी संगठन है नहीं कि खुद चुनाव में भाग लेता लेकिन लोगों में सियासी शऊर, बेदारी पैदा करना तो उसके उद्‌देश्यों में शामिल था ही।''[4]

अली अनवर जिस जज्बे को पसमांदा वैचारिकी का प्रमुख तत्व बताते हैं वह काबिले–गौर है महाज के एजेण्डे से यह स्पष्ट होता है कि पसमांदा महाज धर्म की गंदी सियासत को तवज्जो नहीं देता इसके साथ ही वह भारतीय अखण्डता के प्रति संवदेनशील है। उसका लक्ष्य मुस्लिम समाज को टुकड़ों में बाँटना न होकर पसमांदा मुसलमानों की तरक्की का मौजूँ रास्ता तलाशना है। पसमांदा समाज की तरक्की के लिए पसमांदा महाज मानता है कि भारतीय लोकतंत्र में पसमांदा आबादी के ज्यादा से ज्यादा प्रतिनिधि शामिल हों, तभी उनके हक की मुकम्मल पूर्ति हो पाएगी। सन् 2000 के विधानसभा चुनाव में 95 के चुनाव की तुलना में मुसलमानों के जीत का प्रतिशत बढ़ा उन्हें पहले की अपेक्षा ज्यादा सीटें प्राप्त हुई। इस तरह बिहार राज्य में पसमांदा तबके जहाँ हाशिए पर थे, धीरे–धीरे उनकी आवाज बुलंद होने लगी है। पसमांदा विमर्श मुख्यतः पसमांदा तबके के विकास का कायल है। इसके लिए वह अतीत से वर्तमान तक के इतिहास का सर्वेक्षण ही नहीं करता अपितु पसमांदा के बनने बनाने की प्रक्रिया से लेकर, हक और हिस्सेदारी के यथार्थ को नंगा करते हुए मुस्लिम समाज में ज्यों अछूत की निर्मम सच्चाई को सामने लाता है। पसमांदा विमर्श अपने प्ररेणा स्त्रोतो जैसे जनश्रुतियों में जीवित 'डोमवा' मौलाना अतीकुर्रहमान आरवी, अब्दुल कय्यूम अंसारी, बत्तख मियां आदि (जिन्हें भुला दिया गया) की वैचारिकी तथा कार्यों को पुनः पसमांदा समाज की आवाज बनाते हुए मुस्लिम दलित और पिछड़ों के हक की लड़ाई (जिसे इन महापुरूषों ने लड़ी) को आगे बढ़ाने का संकल्प लेता है। अली अनवर इन प्रेरणास्पद शख्सियतों को बड़े सम्मान के साथ याद करते हैं और इनकी चिंता को पसमांदा समाज की ही चिंता नही मानते बल्कि वे इन्हें पूरे मुल्क की बेहतरी सोचने वाली शख्सियतें मानते हैं। पसमांदा विमर्श दबे–कुचले पसमांदा मुस्लिमों की स्थिति को देखता है तो उसे उनके हक और हुकुक में इजाफा नजर नहीं आता। अली अनवर इस संदर्भ में लिखते हैं,''जश्ने आजादी की पचासवीं साल गिरह के मौके पर दलित मुसलमानों का यह तबका अपनी हालत पर गौर करता है और उसका मिलान अपने पड़ोसी हिन्दू दलित भाइयों से करता है तो उसे बहुत बड़ा फर्क नजर आता है। ....। ऐसा करते हुए वह सोचता है कि कमोवेश एक ही तरह की समाजी, तालीमी और माली सतह से उसकी आजादी का सफर शुरू हुआ था। कपड़ा हम भी धोते थे, कपड़ा वो भी धोते थे। धोबी उन्हे भी कहा जाता, धोबी नाम से हम भी पुकारे जाते। फर्क सिर्फ इतना था कि उन्हे डोम और भंगी कहा जाता और हमें मेस्तर और खाकरोब या हलालखोर नाम से जाना जाता। इस तरह लालबेगी, हलालखोर, मोची, पासी, भांट, भटियारा, पमरिया, नट, बक्खो, डफाली, नालबन्द, धोबी, साई वगैरह दर्जनों जातियाँ ऐसी हैं, जिनका धर्म भले अलग–अलग (हिन्दू–मूस्लिम) हो लेकिन पेशा तथा सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक स्थिति एक जैसी है। हिन्दू समाज में जहाँ इस तरह के लोगो को आज भी 'अस्पृश्य' समझा जाता है। वहीं मुस्लिम समाज में ये लोग अरजाल (निकृष्ट) शुमार किये जाते हैं। मगर आजाद भारत के संविधान ने जहाँ हिन्दू दलितों–आदिवासियों को अनुसूचित जाति और अनसूचित जन–जाति का दर्जा देकर उन्हें समाज में अपने को ऊपर उठाने के लिए एक बहुत बड़ा हथियार दिया, वहीं मुस्लिम दलित खुदा के भरोसे छोड़ दिए गये।''[5]

मुस्लिम दलित, हिन्दू दलित की अपेक्षा ज्यादा तंग हाली में जीवन बसर कर रहे हैं। आजादी के बाद जिस पसेमंजर का बयां अली अनवर करते हैं वह हमें ऐसे सत्य के समक्ष खड़ा करता है जिसकी कल्पना भर से रूह काँप उठती है। दलित विमर्श की अभिव्यक्तिया, जूठन, अक्करमासी, अछूत, मेरा बचपन मेरे कंधो पर, मुर्दहिया, मणिकर्णिका इत्यादि दलित जीवनियाँ/उपन्यास हमारा साक्षात्कार जिस सच से कराते हैं उस सच से जुदा मुस्लिम दलित जीवन नहीं है। दलित समाज को जहाँ अम्बेडकर मिले वहीं मुस्लिम दलित समाज को अतिकुर्रहमान और अब्दुल कय्यूम अंसारी जैसी शक्सियतें मिलती तो हैं लेकिन वे अम्बेडकर साहब की तरह मुस्लिम दलित समाज की मुकम्मल आवाज नहीं बन पातीं। यह मसला अब ज्यादा पेचीदा हो चुका है। संविधान निर्माण के वक्त जैसा कि अली अनवर अपनी पुस्तक में लिखते हैं – ''मुस्लिम समाज में ऊँच–नीच के भेदभाव और इसके एक तबके की हिन्दू दलितों से भी खराब हालत अब इस कदर उजागर हो रही है कि इसे नजरन्दाज करना किसी के लिए मुमकिन नहीं है। भारत का संविधान लिखे जाने के वक्त मुस्लिम लीडरों ने अपने समाज के दलित तबकों के लिए किसी तरह का आरक्षण नही मांगा। यह अपने मरहुम रहनुमाओं की नीयत पर शक नहीं, बल्कि पिछले पचास सालों के अनुभव का पीड़ादायक पहलू है कि अपने अन्दर की तफरीफ (भेदभाव) और गैर बराबरी छिपाने का नतीजा अब नासूर के रूप में फूट रहा है। मुस्लिम समाज का एक तबका लगातार पिछड़ेपन का शिकार है। . ...। इस झूठे गुरूर में कि हमारे समाज में जात–पांत, आला–अदना और छुआछूत जैसी बिमारी नहीं है, गैर सरकारी सतह पर भी कोई प्रयास नहीं किया गया और न ही मजहबी सतह से इसलाह मुआशरा (समाज सुधार) के लिए कोई पहल की गयी।''[6]

इस मुस्लिम दलित समाज की अनदेखी की गयी और इन्हे संविधान की व्यवस्था के मुतालिक दलित अथवा पिछड़ा नहीं माना गया। पसमांदा महाज मानता है कि दलित मुस्लिमों को आरक्षण की व्यवस्था में शामिल किया जाय क्योंकि उनके हालात आजादी से पूर्व और आज आजादी के बाद भी हिन्दू दलितों से बदतर है। अतः दलित मुसलमानों का सवाल मुस्लिम राजनीति के राष्ट्रीय एजेंडा पर आना चाहिए और मुस्लिम समाज का सवर्ण तबका भी इस वैचारिकी में ईमानदारी से शामिल होकर दलित मुस्लिम समाज को उबारने में सहयोग करें।

पसमांदा महाज के बनने के बाद से लेकर अब तक महाज ने अनेक पहल की जिसके चलते पसमांदा समाज संगठित रूप से अपनी आवाज सियासत के गलियारे में उठाने में कामयाब हुआ है। पसमांदा महाज के प्रयासों के फलस्वरूप बिहार राज्य ने केन्द्र सरकार को दलित मुस्लिम आरक्षण लागू करने के लिए प्रस्ताव भेजकर सिफारिश की कि उन्हें अनुसूचित जाति का दर्जा दिया जाय ताकि इन्हें भी वे सभी सहूलियतें प्राप्त हो सकें जो अन्य दलित संवर्ग को प्राप्त हैं। इस पहल से निश्चित ही पसमांदा समाज का विकास हो पाएगा। ऐसा प्रस्ताव लाने वाला बिहार देश का पहला राज्य है। बिहार मंत्रिपरिषद ने दिसम्बर 2000 में ऐसा प्रस्ताव पारित किया। इसी समय दिसम्बर 2000 में मुस्लिम लीग के एक सदस्य के मुस्लिम आरक्षण के गैर सरकारी प्रस्ताव को लोकसभा में स्वीकार नहीं किया गया। इन प्रयासों और पहलों ने दलित मुस्लिमों की आवाज को नयी पहचान दी है। इसके फलस्वरूप आज दलित मुस्लिम आरक्षण की माँग देश के अनेक राज्यों से उठ रही हैं। पसमांदा मुस्लिम महाज और पसमांदा समाज से संबंधित अन्य संगठनों द्वारा आयोजित संगोष्ठियों, धरना–प्रदर्शन, सभाओं ने पसमांदा मुस्लिम समाज के विकास के सवाल को लगातार मजबूत किया है। सियासी रूप से सभी राजनीतिक पार्टियों और उनके नेता इस आवाज से भली–भाँती परिचित हैं। इसके साथ ही आज 'अरजाल' के प्रति भेद परक मुस्लिम समाज का नंगा सच भी उजागर हुआ है। पसमांदा विमर्श भेदपरक सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ता का पर्दाफाश करते हुए अपने हक़ की लड़ाई को लगातार लड़ रही है। इस लड़ाई की सोची समझी और मुकम्मल वैचारिकी लोकतांत्रिक संकल्पना की उद्देश्यपरक समानता को प्राप्त करने की है। यह वैचारिकी विकास की दौड़ में पसमांदा समाज को शामिल कराने का विमर्श और पहल है। इन अर्थों में यह धार्मिक फाँक में बँटा हुआ विमर्श भर न होकर

लोकतंत्र की जमीन पर पैदा हुआ ऐसा विमर्श है जो मनुष्यता, न्याय, सुरक्षा, विकास और बराबरी के समाज की निरंतर माँग करता है।

lUnHk %

1. के दामोदरन, 'भारतीय चिन्तन परम्परा', 'इस्लाम का प्रादुर्भाव और उत्तरकालीन सामन्तवाद, पृष्ठ–304, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, वर्ष–1982
2. के0 एम0 अशरफ, 'लाइफ एण्ड कन्डीसन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, पृष्ठ–78
3. थियोडोर दे बेरी (सं0), 'सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रेडीशन, 'पृष्ठ–517–18.
4. अली अनवर, 'मसावात की जंग (पसेमंजर : बिहार के पसमांदा मुसलमान), 'पृष्ठ–16, वाणी प्रकाशन, वर्ष–2001
5. वहीं पृष्ठ – 23, 24
6. वहीं, पृष्ठ – 23

****

^dkjtk^ miU;kl esa nq[k ls vkØkar efLye efgyk,¡

fnus'k iky*

Þ[ksrksa ls /kku dh Qly dkV yh xbZ Fkh vkSj vc
NksVs&NksVs cPps gkFkksa esa Vksdus fy, [kkyh [ksrksa
esa /kku dh fxjh gqbZ ckysa <w<+ jgs FksA cLrj esa
bl fØ;k dks ^dkjtk^ dgrs gSa] gYch Hkk"kk esaAß[1]

जिस प्रकार खेतों में अनाज कट जाने के बाद कुछ बालियाँ तथा उसके टुकड़े गिर जाते हैं, जिन्हें गरीब लोग बटोरकर एकत्रित करते हैं और अपनी पेट की आग को शांत करते हैं, ठीक उसी प्रकार कई परिवार के टूटे–बिखरे महिला सदस्यों को एकत्रित कर एक परिवार बना है, जो 'कोरजा' उपन्यास के केन्द्र में बिलख रहा है। इस अधमरे परिवार में 'अरमान बी(नानी)', 'साजो खाला', 'रब्बो आपा(राबिया)', 'नसीमा' और साजो खाला के तीन छोटे–छोटे बच्चे हैं। इस परिवार के सभी सदस्य जीवन से जूझते हुए समाज रुपी गाँठ पर कठोर प्रहार करते हैं। प्रसिद्ध कथाकार 'मेहरुन्निसा परवेज़' ने अपने उपन्यास(कोरजा) में इस निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार की महिलाओं के माध्यम से मुस्लिम समाज में नारी की दुर्दशा का यथार्थ चित्रण किया है। इस पुरुष –प्रधान समाज में नारी के तन और मन पर होने वाले अत्याचार कितने वीभत्स और भयावह होते हैं, जिनका कोई अन्त नहीं रहता, इसका जीता–जागता उदाहरण इस महत्वपूर्ण उपन्यास में देखा जा सकता है।

'मेहरुन्निसा परवेज़' का यह उपन्यास उन स्त्रियों की दुनिया को समेटे हुए है जहाँ 'अरमान बी (नानी)', 'फातमा', 'नसीमा', 'रब्बो', 'साजो', 'कम्मो' और 'मोना' जैसी महिलाओं का संघर्ष है, जिनके लिए समाज में परिवार को समेटते हुए जिन्दा रह सकने का सवाल सबसे बड़ा सवाल बना हुआ है। 'अरमान बी' परिवार का खर्च चलाने के लिए तमाम प्रकार के छोटे–छोटे कार्यों को करती है। अगल–बगल का कपड़ा सिलना, मुर्गी पालना तथा उसके अण्डे बेचना इत्यादि। इतना सब करने के बावजूद सूखी रोटी, भुँजा हुआ बेसन और रात को गर्म किये हुए खाने से न जाने कितने दिन काम चलाना पड़ता है। घर का छोटा बच्चा कह उठता है– "आपा अब तो अम्मा तरकारी भी नहीं पकातीं, मुझसे रुखा खाना नहीं खाया जाता।"[2] यह बदहाल स्थिति सिर्फ अरमान बी या फातमा के परिवार का ही नहीं है, बल्कि अनेक निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार का है। इस उपन्यास के केन्द्रीय परिवार को रहने के लिए अपना घर भी नहीं बचा है, और घर का किराया चुकाने के लिए पैसा भी नहीं। इसी मजबूरी या गरीबी का फायदा उठाते हुए 'जुम्मन खाँ' जैसा मक्कार आदमी नानी से एक सौदा करता है– "घर में रहने का किराया नहीं लूँगा अगर रोज रात को साजो यहाँ आएगी तब।"[3] 'साजो' को यह सौदा लाचार होकर मंजूर करना पड़ता है, जिसमें नानी की मौन सहमति रहती है। यह हमारे समाज की कितनी बड़ी विडम्बना है कि एक बेवा को गरीबी के कारण एक बूढे के साथ मजबूरी वश सोना पड़ता है। मजबूरी ऐसा जहर है जो जान– बूझकर भी पीना पड़ता है। 'जुम्मन खाँ' के माध्यम से लेखिका ने सेक्स के रौद्र एवं वीभत्स रुप को भी उजागर किया है। साजो खाला एक दिन रो–रोकर अपनी माँ (नानी) को बताती है– "अम्मा वह बूढ़ा मुझे नंगी करके सारी रात खड़ा रखता है, मेरे बदन

*शोध छात्र,हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

को झिंझोरता है। मैं विरोध नहीं करूँ इसलिए मुझे खम्भे से बाँध देता है और हँसते हुए मेरे शरीर पर हाथ फेरता नोचता रहता है। पूरे सौ पावर का बल्ब जलता रहता है और मैं नंगी खड़ी रहती हूँ वह वहशी हँसता हुआ शराब पीकर घूमता रहता है।"[4] 'साजो' की बात सुनकर नानी घण्टों रोती रही पर उसे वहाँ जाने से मना नहीं कर सकी। 'रब्बो' कहती है– "जानती है नसीमा, मैंने नानी को मुँह में कपड़ा ठूँसकर रोते देखा है।"5 'सीमोन द बोउवार' कहती हैं कि– "औरत अपने आपको एक कच्चे फल की तरह पत्तों में छिपाकर रखना चाहती है ताकि पुरुष को उसकी झलक तो दिखे किंतु वह उसे पा नहीं सके।"[6] परन्तु यहाँ जुम्मन खाँ सौ पावर के बल्ब के सामने औरत को नंगा करके रखता है। इस उपन्यास में सिर्फ जुम्मन खाँ के अन्दर ही पशुता नहीं है, बल्कि लगभग सभी पुरुष पात्रों के भीतर पशुता के लक्षण टिम–टिमाते नजर आते हैं। ये सभी पुरुष स्त्री को मात्र भोग की वस्तु समझते हैं। द्रष्टव्य है अरमान बी(नानी) के शौहर 'रहमान खाँ' का वक्तव्य– "अरे खुद कुरान–शरीफ में खुदा ने फरमाया है कि मैंने तुम्हारे लिए औरत पैदा की है, खाने के लिए परिंदे और ऐष के लिए औरत। भई, जैसे एक ही कमीज तीन दिन पहनो तो बदन काटने को दौड़ता है, वैसे हीं एक औरत के साथ कुछ दिन रह लो तो साला मुँह का मजा ही खराब हो जाता है।"[7] इतना हीं नहीं रहमान खाँ को बाहर की औरत ऐसी लगती है जैसे किसी को पान के साथ तंबाकू खाने की लत लग जाए– "बिना तंबाकू के पान चबाओ तो 'थू३३''। ऐसा लगता है जैसे घास चबा रहे हैं। वैसे हीं घर की औरत में उन्हें घास का सा मजा आता था और बाहर की औरत में तंबाकू का–सा तीखा–चुरपुरा।"[8] कुत्तों से बदतर व्यवहार करने वाले ऐसे पुरुषों को तो बौराये कुत्तों के बीच फेंक देना चाहिए। यही यदि इनके घर की स्त्री करे तो जिंदा दफन करने को तैयार हो जायेंगे। रहमान खाँ के वक्तव्य से ऐसा लगता है जैसे मुँह सिर्फ पुरुषों के पास है जो मजा और तीखा–चुरपुरा खोजता है, स्त्रियों के पास नहीं।जबकि हम सभी जानते हैं कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की जीभ ज्यादा स्वाद लालायित होती है, और पुरुषों से ज्यादा काम(वासना/संभोग) क्षमता रखती हैं फिर भी अपने तन–मन को संयमित रखती हैं। यदि एक–दो स्त्री अपने मुँह का मजा खोजने लगती है तो ये पुरुष तमाम प्रकार की उपमाओं से उसे सुशोभित करने में जुट जाते हैं।

'एहसान' के धोखा देने पर लेखिका 'रब्बो' के माध्यम से मुखर विरोध करती है – "बस ऐसे ही खत्म अफसाने होते हैं नसीमा। अच्छा हुआ वहम टूट गया। मर्द हमेशा से बेरहमी कुत्ते रहे हैं३३'बस हड्डियाँ चिचोड़ना जानते हैं–और कुछ नहीं।"[9] यह कथन ऐसा लग रहा है जैसे वर्षों से पल रही ज्वाला फूट कर बाहर आ गयी हो। 'रब्बो', 'अरमान बी' के ननद की लड़के की लड़की है। 'रब्बो' के लिए जिन्दगी ने सिर्फ धोखे और पीड़ा में सने पल दिये। पहला धोखा वह अपनी कच्ची उम्र में 'जमषेद' की हवश का शिकार होकर पाती है और दूसरा धोखा 'एहसान' से। उपन्यास में रब्बो ही एक ऐसी पात्र है जो विवाह के पूर्व ही शारीरिक शोषण का शिकार होकर दो बार माँ बन चुकी है। 'जमशेद' 'रब्बो' की सौतेली माँ के दूर के रिश्ते का छोटा भाई है, जिसका शरीरिक संबंध सौतेली माँ के साथ भी कायम है। 'एहसान' 'रब्बो' की सहेली 'कम्मो' का चचेरा भाई है। 'एहसान' अपनी समस्याओं का बहाना बनाकर 'रब्बो' के साथ विवाह करने से इंकार कर देता है तब 'नसीमा' 'कम्मो' से कहती है– "आपा(रब्बो) ने न जाने कैसे–कैसे सुन्दर सपने देखे थे, आज सब धरे रह गए, कुछ दिनों की हँसी सारी उम्र भर का रोना हो गया।"[10] लेखिका कम्मो से मधुर जवाब दिलवाती है– "प्यार३प्यार३दरअसल में कुछ नहीं है नसीमा। महज एक भुलावा, एक छल, उम्र की भावुकता, बस।"[11] प्रेम में थकी–हारी 'रब्बो' का विवाह एक अधेड़ व्यक्ति से लग जाती है जिसके पास दो बच्चे पहले से हैं पर पत्नी नही है। 'कम्मो' पूरी आत्मीयता के साथ समझाते हुए 'रब्बो' से कहती है– "शादी से इंकार कर दे रब्बो।"[12] परन्तु 'रब्बो' शादी से इंकार कैसे करे? गरीबी इंसान की आकांक्षाओं के पर कतर देती है। 'रब्बो' 'कम्मो' के सामने रोते हुए बोलती है– "सुख का इंतजार करते–करते मैं नानी पर बोझ नहीं बनूँगी। गरीब की लड़कियाँ जो मिलता है उसे खा लेती हैं,पहन लेती हैं और जी लेती हैं। मेरे नसीब में जो है उसे हँस कर सहूँगी,बस।"[13] यह सिर्फ रब्बो की नहीं बल्कि हजारों–लाखों गरीब लड़कियों का यही

हाल है, मजबूरी में अनचाहा समझौता करना पड़ता है। यहाँ ऐसा एहसास होता है कि आर्थिक रुप से स्वतंत्र होना स्त्रियों को कितना आवश्यक है। लेखिका ने इस उपन्यास में यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि नयी पीढ़ी की स्त्रियाँ अब ऐसे जीने को मजबूर नही हैं, बल्कि वो खुद से निर्णय करने लगी हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण आगे चलकर 'रब्बो' की बेटी 'रन्नो' के यहाँ देखने को मिलती है। 'रन्नो' शादी से पहले ही अपने प्रेमी के साथ खुलकर जीवन जीती है और गर्भवती भी हो जाती है। यह एक प्रकार से लेखिका का इस कुंठित समाज पर करारा प्रहार है। 'रन्नो' को शादी के दिन उलटी होने लगती है तब 'रब्बो' 'नसीमा' से कहती है– "नस्सो इसे दिन चढ़े हैं, दोनो एकदम खुलकर साथ रहते थे। मेरी ही जिद पर यह शादी जल्दी हो रही है, वरना यह दोनो को तो कोई चिंता नहीं थी, क्या जमाना आ गया है।"[14] 'रन्नो' के निकाह में लेखिका ने रस्म को पेश करते हुए समाज में व्याप्त विवाह व्यवस्था तथा उसमें बली का बकरा बनती हुई नारी पर तीखा व्यंग्य किया है– "अशफाक भाई याने रन्नो के अब्बा और आपा के शौहर आए और बेटी का हाथ अपने समधी के हाथ में सौंपने लगे तब तो माहौल और रंजीदा हो उठा, औरतें ऊँचे स्वर में रोने लगीं। काफी देर तक यह रस्म चली, याने पहले अशफाक भाई ने बेटी सौंपी फिर आपा ने रोते हुए अपनी समधिन को बेटी सौंपी।"[15] यहाँ बेटी सौंपने की रस्म को दखकर ऐसा लग रहा है, जैसे कोई माता–पिता अपनी बेटी का विवाह नहीं कर रहे हैं बल्कि गाय के स्वामी हों जो अपने खूटे से पगहा निकाल कर दूसरे स्वामी के हाथ में थमा रहे हों। यह पुरुष प्रधान समाज की विकराल विडम्बना है। यहाँ डॉ॰ श्रद्धा सिंह की ये पंक्तियाँ मुझे लिखने को मजबूर कर रही हैं– "बहुत से पुरुष अपनी पत्नियों को इसलिए सजा–सँवारकर रखना चाहते हैं, ताकि उनकी इज्जत बढ़ सके। ठीक वैसे हीं जैसे किसान अपनी गाय–भैसों के लिए खूबसूरत झालर,घण्टी,घुँघरु आदि खरीदकर लाता है और उसे सजाकर खुश होता है।"[16] निम्न वर्गीय या निम्न मध्यवर्गीय परिवार की स्त्रियों की दुनिया बहुत संकुचित होती है। वह तमाम प्रकार की नवीनतम् सुख–सुविधओं से वंचित रहकर रिश्तों की भँवर–जाल में उलझी रहती है। इसी कड़वे यथार्थ को लेखिका(मेहरुन्निसा परवेज़) 'रब्बो' के माध्यम से बयाँ करती हैं– "रन्नो की शादी के बाद तो अब मुझ पर और भी जवाबदारियाँ होंगी। आज सास बन रही हूँ कल नानी बन जाऊँगी। बस। औरत इन्हीं रिश्तों की भँवर में ही तो गुम हो कर रह जाती है खो जाती है।"[17]

मुस्लिम समाज में स्त्री के मानसिक शोषण का सबसे बड़ा हथियार मुस्लिम पुरुष समाज 'तलाक' शब्द को बनाये हुए है और इसी 'तलाक' शब्द के भय ने मुस्लिम स्त्रियों को अमानवीय स्थिति में भी अपनी जिन्दगी को घसीटने के लिए मजबूर कर दिया है। उपन्यास में नसीमा की माँ तथा अरमान बी की बेटी 'फातमा' भी इसी स्थिति से गुजरती है–

"मैं कहती हूँ अपनी दाढ़ी की सलामती चाहते हैं तो सब मेरे घर से चले जाओ, वरना मैं चूल्हे की कोतली से सब के मुँह झुलस दूँगी, अम्मा चीख रही थी।

'क्या पागल–सी बक रही है? हरामजादी, ज्यादा चरबी चढ़ गई है? घर तेरा है या मेरा, जा अपने बाप के घर में हक जमा' अब्बा कुर्सी से उठते हुए बोले, 'यह लोग कहीं नहीं जाएँगे, तेरा फैसला करने आए हैं। मैं तलाक चाहता हूँ, तलाक।३३३३''

'मैं कोई भागकर आई हुई लौंडिया नहीं हूँ, चार के सामने ब्याह के आई हूँ। क्यों जाऊँ अपने बाप के घर? यह मेरा घर है, तुम्हें जाना है, जाओ।'

'ज्यादा जबान मत चला, चार के सामने ब्याह कर आई है तो चार के सामने तलाक भी दे रहा हूँ।"[18]

–मानो तलाक न हुआ कोई कीमती समान हुआ जो चार लोगों के सामने दिखाकर लाया गया और चार लोगों के सामने दिखाकर लौटाया जा रहा है। हालाँकि 'फातमा' ने तलाक नहीं दी बल्कि 'करीम मियाँ' को ललकारती रही। यहाँ लेखिका ने पुरुषों के सामने घुटना टेकने की बजाय स्त्रियों को डटकर सामना करने के लिए प्रेरित किया है। 'करीम मियाँ' 'फातमा' के फनकार के सामने मजबूर होकर घर छोड़ देता है और 'फातमा' अपने स्वाभिमान को बरकरार रखते हुए उसी घर में तलाकशुदा

औरत की तरह जिन्दगी गुजारती है, भले ही गरीबी में दुःख से जूझते हुए मौत के मुँह में समा जाती है। उसके मरने के बाद उसकी बेटी 'नसीमा' अनाथ सी हो जाती है, जो बाद में 'अरमान बी (नानी)' के यहाँ पलती–बढ़ती है।

'नसीमा' इस उपन्यास की वह स्त्री पात्र है जो इन सभी स्थितियों– परिस्थितियों की प्रत्यक्ष गवाह रही है। बचपन अभावों और तकलीफों में गुजारती हुई वह नानी की पनाहगाह में पहुँची। उपन्यास में लेखिका 'नसीमा' के अपने जीवन के प्रति किसी भी प्रकार के शिष्टकोण को उजागर नहीं करती है बल्कि वह उपन्यास के प्रत्येक पात्र के जीवन के सुख–दुःख की गवाह के रुप में खड़ी दिखती है। 'मोना दीदी' का 'कोरजा' के सम्बन्ध में यह वक्तव्य पूरी तरह 'नसीमा' की जिन्दगी पर सटीक बैठता है– "जीप का पीछे का परदा उठाकर पीछे खेतों में झांकते हुए, कटे हुए खेतों में 'कोरजा' चुनने आये बच्चों को नीहार कर मोना दीदी ने कहा था– नसीमा, हमारी जिन्दगी में भी क्या ऐसी भूली–बिसरी स्मृतियाँ नहीं हैं, जिन्हें हम सारी उम्र इसी 'कोरजा' के रुप में चुनते हैं।"[19]

इस उपन्यास की सबसे बोल्ड स्त्री–पात्र 'मोना दीदी' हैं, जो आजीवन कुंवारी रहती हैं और अपने परिवार अर्थात् दोनों भाइयों एवं माँ की खातिर अपनी जिन्दगी को सँवारने के बारे में सोचना ही छोड़ दिया। अपने सारे सुखों का दामन लपेटकर, इस परिवार के लिए अपने आप को झोंक देती है। 'मोना दीदी' इस उपन्यास की इकलौती ऐसी पात्र हैं जो विवाह से पूर्व शारीरिक सुख भोगती हैं और आत्मग्लानि की जगह गौरवान्वित महसूस करती हैं। अपने शारीरिक सुख को निःसंकोच बयाँ करती हैं– "मैने भी प्यार किया है नसीमा। मैंने भी शादी न होते हुए भी शारीरिक सुख आँख मूँद कर महसूस किया है।"[20] 'मोना दीदी' का प्रेम सफल नहीं हो पाता है जिसकी तड़प उनके ही शब्दों में देखा जाय– "नसीमा तू प्यार को नहीं जानती। जानती है–प्यार का फोड़ा तब भरकर टीसता है जब कोई आस–पास न हो।"[21] तन्हाई के दिन कितने पीड़ादायक होते हैं यह 'मोना दीदी' की उपर्युक्त पंक्तियाँ हमें आसानी से समझाती हैं।

जिस तरह 'गोदान' में 'प्रेमचंद' ने 'मालती' और 'मेहता' के माध्यम से एक बहस छेड़कर अपनी स्त्री–पुरुष संबंधी अवधारणाओं को अभिव्यक्त किया है, ठीक उसी प्रकार मेहरुन्निसा परवेज़ ने 'अमित' और 'कम्मो' के माध्यम से एक लम्बी बहस छेड़कर अपनी धारणाओं को अभिव्यक्त किया है। फर्क केवल इतना है कि 'कोरजा' में वर्तमान व्यवस्था, आदिवासियों का शोषण, स्त्री–शोषण और शहरीकरण आदि को समेटा गया है, जबकि 'गोदान' में स्त्री–पुरुश संबंधों तक ही बहस को सीमित रखा गया है। 'कम्मो' उपन्यास की एक ऐसी पात्र है जो पाठकों को पूरी तरह झकझोर कर रख देती है। 'कम्मो' आत्मनिर्भर और विचारों की स्वतंत्रता के साथ जीने वाली लड़की के रुप में सामने आती है। इसका चरित्र लेखिका ने आधुनिक स्त्री के चरित्र के रुप में गढ़ा है। अनाथ होते हुए भी 'कम्मो' के लिए जीवन उतना ही रुचिकर रहा जितना घर परिवार में रहते हुए हो सकता था। 'कम्मो' के अकेलेपन में 'अमित' का प्रवेश होता है जो अपनी नपुंसकता के कारण शराबी हो चुका है। इसी शराबी 'अमित' के प्रति 'कम्मो' के भीतर प्रेम का बीज अंकुरित होता है और आगे चलकर उसके प्रेम सरोवर में डूब जाती है। 'कम्मो' 'अमित' को संभाल कर सही रास्ते पर लाने का अथक प्रयास करती है। वह बार–बार अमित से आग्रह करती है कि धीरे–धीरे ही सही पर शराब को त्याग दो। 'अमित' जैसे बिखरे–छितरे पुरुष को समेटने के लिए पेन और डायरी थमाती है– "लो अमित, अपने बिखरेपन को इसमें समेटो, टुकड़े–टुकड़े होकर मौत की ओर मत बढ़ो।"[22] यह सर्वविदित है कि एक पुरुष को सफल बनाने में एक स्त्री का सराहनीय योगदान होता है। लेखिका कहती भी है– "पुरुष हमेशा अबोध रहा है। उसने बिना उँगली पकड़े चलना नहीं सीखा, बचपन में माँ के सहारे, जवानी में पत्नी या प्रेमिका के।"[23] अफसोस कि इतना होने के बावजूद भी पुरुष को स्त्री मात्र शरीर नजर आती है, जिसे जरुरत के अनुसार उपयोग करता है फिर गड्ढ़े में ढकेल देता है। लेखिका 'कम्मो' के मुख से कहलवाती है कि स्त्रियाँ खुद के पैरों पर खड़ा होने के लिए लालायित हैं न कि पुरुषों के सहारे। कम्मो कहती है–"नहीं अमित, अभी अकेली चल सकती हूँ, अभी से सहारे की इतनी आदि मत बनाओ कि कल खुद अपने

पैरों पर खड़ी न रह सकूँ।"[24] यह सिर्फ कम्मो नहीं कह रही है बल्कि आज की तमाम औरतों की ओर से पुरुषों को चेतावनी है। लेखिका ने 'कम्मो' से 'अमित' नामक हिन्दू युवक के साथ प्रेम कराकर आज के लव जिहादियों के गाल पर तमाचा जड़ दिया है। उपन्यास में 'अमित' और 'कम्मो' का प्रेम वासनात्मक नहीं है, ये दोनों भावनात्मक रुप से जुड़े हैं। 'अमित' कहता है– "हम दोनो ने दोस्ती से हटकर, प्रेम से हटकर कभी एक–दूसरे से ज्यादा नहीं चाहा या कमी महसूस नहीं किया।"[25] परन्तु लेखिका ने प्रेम में वासना को सब्जी में नमक की तरह मिलाने का प्रयास किया है। एक दिन बारिश में भीगने के बाद 'कम्मो' 'अमित' को अपनी बाहों में जकड़ लेती है।'कम्मो' के धड़कते गर्म शरीर के स्पर्श से 'अमित' घबरा जाता है और अलग होकर बोलता है–"कम्मो, लगता है अब तुम्हें अपनी सच्चाई बतानी ही पड़ेगी। जानती हो कम्मो, मैं एक नपुंसक मर्द हूँ।"[26] इतना सुनते ही 'कम्मो' का बदन इस प्रकार ठण्डा पड़ जाता है जैसे चूल्हे पर उफनते दूध में पानी के छीटे पड़ गये हों। 'अमित' तुरन्त कहता है–"मैं नहीं जानता था कि प्यार में शरीर का इतना स्थान होता है। शरीर से हटकर आत्मा से किसी को प्यार किया जा सकता है–बस यही मैं सोचता था।" आगे पुनः कहता है–"यह सही है कि प्यार में शरीर का भी स्थान होता है। खाना खाने के बाद कोई पानी न पीये, जैसे यह एकदम अनहोनी बात है उसी प्रकार प्यार में शरीर का महत्व न हो यह भी अनहोनी बात है।"[27] प्रेम के संदर्भ में कुछ ऐसा ही मत 'सीमोन द बोउवार' का भी है–"बार–बार और नियमित सम्भोग से दोनों में शारीरिक घनिष्ठता बढ़ जाती है।"[28] कुछ फ्रांसीसी उपन्यासकार और नाटककार दावा करते हैं कि "वैध प्रेम में कामनात्मक इच्छाओं का भी समन्वय हो सकता है।"[29] बहरहाल 'अमित' कुछ ही दिनों में शराब पीते–पीते अपने जिन्दगी को श्मशान के लिए सौंप देता है। 'अमित' के जाते ही 'कम्मो' टूट जाती है और एक दिन अपने कमरे के पंखे से गले में फंदा लगाकर झूल जाती है।'कम्मो' की मौत बहुत भयावह बन जाती है। उसकी लाश कमरे में सड़कर महकने लगती है। पुलिस ताला तोड़वाकर लाश को निकालती है और सिर्फ चार लोग उसके जनाजे में जाते हैं तथा कब्र में ढँक देते हैं।लेखिका हिन्दू और मुस्लिम दोनों के अंतिम संस्कार पर प्रकाश डालते हुए लिखती है–"कितना अजीब है, मौत ने दोनों को कितना दूर कर दिया। एक की कब्र शहर के एक छोर पर है,दूसरे की राख नदी में बह गई। कितने फासले पर हो गये दोनों। हिन्दुओं की जलाने वाली जगह कितनी दूर है। पता नहीं भगवान् के यहाँ मिल भी पाए या नहीं?"[30]

उपर्युक्त विवेचन के बाद आसानी से समझा जा सकता है कि 'कोरजा' उपन्यास में 'अरमान बी', 'साजो', 'रब्बो', 'नसीमा' आदि मुस्लिम स्त्रियाँ कैसे दुःख के आक्रांत का क्रंदन कर रही हैं। यह सिर्फ इन पात्रों की ऐसी स्थिति नहीं है, बल्कि निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार की अधिकांश महिलाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। लेखिका ने इन पात्रों के माध्यम से समाज के ऊपर तीखा प्रहार किया है।

lanHkZ %

1 .कोरजा–मेहरुन्निसा परवेज़,वाणी प्रकाशन,संस्करण–1992,पृष्ठ सं॰–171
2. वहीं, पृ॰–37
3. वहीं, पृ॰–95
4. वहीं, पृ॰–72
5. वहीं, पृ॰–73
6. स्त्रीः उपेक्षिता–अनु॰ डॉ॰ प्रभा खेतान (The Second Sex & सीमोन द बोउवार)–हिन्द पॉकेट बुक्स, संस्करण–2002,पृ॰–156
7. कोरजा–पृ॰–20
8. वहीं, पृ॰–19
9. वहीं, पृ॰–181
10. वहीं, पृ॰–180
11. वहीं, पृ॰–180
12. वहीं, पृ॰–195

13. वहीं, पृ॰—195
14. वहीं, पृ॰—18
15. वहीं,पृ॰—17—18
16. आधी आबादी : संदर्भ एवं प्रसंग—डॉ॰ श्रद्धा सिंह, कला मन्दिर प्रकाशन—संस्करण : 2014
17. कोरजा, पृ॰—15
18. वहीं, पृ॰—23
19. वहीं, पृ॰—223
20. वहीं, पृ॰—160
21. वहीं, पृ॰—208
22. वहीं, पृ॰—132
23. वहीं, पृ॰—133
24. वहीं, पृ॰—89
25. वहीं, पृ॰—211
26. वहीं, पृ॰—212
27. वहीं, पृ॰—212
28. स्त्रीःउपेक्षिता—पृ॰—209
29. स्त्रीःउपेक्षिता—पृ॰—200
30. कोरजा, पृ॰—227
31. भारतीय मुसलमान : हिन्दी उपन्यासों के आईने में—नामदेव, अनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा॰)लि॰, संस्करण—2009

****

ekuo bfrgkl dh /kekZU/krk % curs ikfdLrku

jes'k dqekj ;kno*

कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास भारतीय समाज व्यवस्था, संस्कृति और इतिहास की बहुआयामी एवं विस्तृत तस्वीर अपने अन्दर समेटे हुए है। यह जटिल कार्य कमलेश्वर जैसे बहुमुखी प्रतिभा–सम्पन्न रचानाकार के लिए ही संभव था। 'कितने पाकिस्तान' पाँच हजार वर्ष के इतिहास को अपने अन्दर समेटे हुए है। निश्चित रुप से कमलेश्वर ने लंबी तैयारी के पश्चात् इसे मूर्त रूप प्रदान किया होगा।

मन के भीतर लगातार चलने वाली एक ही जिरह का नतीजा है, जो आज भी जारी है, जिसके तहत् आदमी और जात, कबीले, राष्ट्र, सभ्यता, धर्म आदि। विविध समूहों के आपसी जानलेवा संघर्ष की समस्या से वे सदैव जूझते रहे हैं। समय और इतिहास ही उसके अद्‌भुत उपन्यास में 'नायक' और महानायक है। इसमें लेखक अदीब की कचहरी बिठाकर उन्होंने दुनिया भर की सभी सभ्यताओं में चलने वाले संघर्ष की समस्याओं को उठाया है, जो साहित्य के इतिहास में अपनी तरह का पहला सार्थक प्रयोग है। भारत में वर्तमान इतिहास में हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष, पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन आदि घटनाओं को भी उन्होंने इस उपन्यास में विस्तार से दिया है। और इसके माध्यम से देश के भविष्य को देखने की कोशिश की है।

उपन्यास में आदिकाल, आर्यों का आगमन, उनका संघर्ष, मोहन जोदड़ो सभ्यता, वेदों में असुरों के युद्धों की अनुगूँज, महाभारत युद्ध, आर्पाना के डेरियस और चूनानी मिलिडयाडिस का मैराथन के मैदान में हुआ युद्ध, झेलम, कैने, सोमनाथ, तराइन, क्रेसी, पानीपत जैसे युद्धों का गहन अन्वेषण मानवीय धरातल पर किया है।

'कितने पाकिस्तान' में कमलेश्वर की मानवीय जीवन मूल्यों में आस्था दिखाई पड़ती है। प्राचीन संस्कृति में देवताओं का जीवन पूर्णतया भोग–विलास से युक्त था। स्त्री उनके लिए भोग की वस्तु थी। उन देवताओं के पास मित्रता जैसे पावन रिश्तों की समझ नहीं थी ''तुम्हारे पास केवल वासना है। प्रेम नहीं है। केवल वैयक्तिक श्रेष्ठता का द्वेष है इसलिए मित्रता नहीं। तुमने स्त्री को मात्र भोग्या मानकर अवैध संतानों का देवलोक स्थापित कर लिया है, पर इस देवलोक के पास कोई संस्कार या परम्परा नहीं है''......

पूरे विश्व में फैल रहे आतंक, घृणा, साम्प्रदायिकता, नस्लवाद, जातिवाद एवं रंग भेद के कारण हररोज पाकिस्तान बनने की रूपरेखा तैयार हो रही है। पाकिस्तान को यहां प्रतीक रूप में लिया गया है, पाकिस्तान एक देश ही नहीं है, बल्कि साम्प्रदायिक आधार पर दो मजबूत धर्म का बंटवारा है, ऐसा बंटवारा जिसकी आवश्यकता नहीं थी, लेकिन हुआ। धर्म के आधार पर देशों का बंटवारा हो, सीमाएं अलग–अलग हों तथा लाखों लोगों का कत्लेआम हो, हजारों बेघरबार हों तथा औरतों पर धर्म के नाम पर अत्याचार किये जायें, यह विश्व इतिहास कहीं देखने को नहीं मिलता। जो कहीं नहीं हुआ वह यहां पर अंग्रेजों ने कर दिखाया। यदि अंग्रेज नहीं चाहते तो पाकिस्तान नहीं बन सकता था, केवल जिन्ना के चाहने और मुसलमानों के विद्रोह के कारण ही पाकिस्तान नहीं बना। सत्ता पर बैठे अंग्रेजों ने 1857

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

के पहले स्वाधीनता संग्राम में हिन्दू–मुस्लिम एकता को देखा था, उन्होंने गोरे अंग्रेजों का अपमान देखा था, इसलिए वे उसे तोड़ना चाहते थे, वे उस सबक को हमेशा के लिए भुला देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने नब्बे वर्षों में घृणा और मतभेद को पूरी तरह उभारा। हिन्दू–मुसलमानों के बीच ऐसी खाइयां पैदा कर दीं, जिन्हें पाट पाना किसी के बस में नहीं था। जो काम औरंगजेब नहीं कर पाया वह अंग्रेजों ने किया। यदि औरंगजेब चाहता तो यह काम आसानी से कर सकता था, लेकिन वह राज करने आया था, राज्य को मजबूत बनाने के लिऐ उसे जहां धर्म की आवश्यकता हुई उसका उपयोग किया, बाकी से उसे कोई मतलब नहीं था।

'बांटो और राज करो' की नीति पर चलते हुए अंग्रेजो ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच ऐसी–ऐसी बातें फैला दीं। जिनसे आज मुक्ति नहीं हो पा रही है। आज अंग्रेज तो चले गये लेकिन उनके बोये बीज फल–फूल रहे हैं। अब दोनों धर्मों के संगठनों ने अपनी–अपनी राजनीतिक रोटियां सेकने के लिए धर्म का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है और यह काम इतनी आसानी से किया जा रहा है कि किसी के कोई शर्म नहीं आती। आज देश के सामने सबसे बड़ी समस्या मन्दिर और मसजिद मुद्दा है। इस बीच में उदारीकरण के नाम पर सामूहिक सम्पत्तियों को निजी हाथों में बेचने का काम किया गया। बेरोजगारी और गरीबी निरन्तर बढ़ रही है पर इस ओर सोचने वाला कोई नहीं है। हमारी सबकी निगाहें मन्दिर और मसजिद मुद्दे पर टिकी हैं। जनता में यह भ्रम फैलाया जा रहा है कि पहले मुगल सम्राट बाबर ने बाबरी मसजिद राम मन्दिर तोड़कर बनवाई थी। यह भ्रम इस तरह फैला दिया गया है कि इसका विरोध करने वाले को हिन्दुस्तान से बाहर पाकिस्तान जाने की सलाह दी जाती है और घृणा से देखा जाता है।

कमलेश्वर ने ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन करते हुए लिखा है कि 'हिजरी 930 यानी करीब 17 सितम्बर, 1523 में इब्राहिम लोदी ने उस मसजिद की नींव रखवाई थी, जो 10 सितम्बर, 1524 को बनकर तैयार हुई, जिसे अब बाबरी मसजिद कहा जाता है। (पृ0 72) कमलेश्वर केवल यह तथ्य बताकर ही शान्त होने वाले नहीं हैं वे यह भी बताते हैं कि राम मन्दिर तोड़ने का इल्जाम इब्राहिम लोदी पर इसलिए नहीं लगा कि उसकी दादी हिन्दू थी। इब्राहिम लोदी पर किसी ने राम जन्मभूमि मन्दिर तोड़ने का इज्लाम नहीं लगाया, क्योंकि पहली बात वहाँ मंदिर था ही नहीं और दूसरी बात कि इब्राहिम लोदी की दादी हिन्दू थी... हिन्दू दादी का खून उसकी रगों में बहता था, इसलिए भी उस पर इल्जाम नहीं लगाया गया। (पृ0 72)

कमलेश्वर ने अदालत का दृश्य उपस्थित करके बाबर से पूछा कि अयोध्या में आपका सूबेदार मीर बाकी था उसने आपके नाम पर बनवा दी होगी, तो बाबर ने कहा, तभी तो उसने उस मसजिद को मेरे नाम पर चस्पा कर दिया होगा। आप तो जानते हैं कि ये सूबेदार–मनसबदार वगैरह कितने चापलूस होते हैं। (पृ0 72) लेकिन बाबरी मसजिद को बाबर के नाम से प्रचलित करने की बुनियाद फैजाबाद के गजेटियर लेखक एच0आर0 नेविल ने डाली। उसने ही यह भ्रम फैला दिया कि बाबर ने मन्दिर को तोड़कर उस स्थान पर मसजिद बनाने का आदेश दिया था। सन् 1528 की गर्मियों यानी अप्रैल और अगस्त के बीच तुम अयोध्या पहुचे, वहाँ तुम एक हता रूके और तुमने प्राचीन राम मन्दिर को तोड़ने का आदेश दिया और वहां मसजिद तामीर करवाई, जिसे बाबरी मसजिद का नाम दिया गया। (पृ0 72)

आर्केलाजीकल आफ इण्डिया के डायरेक्टर ए0 यूहरर ने 1889 में मसजिद में एक शिलालेख पढ़ा था, जिसमें मन्दिर को तोड़कर मसजिद बनाने वाली बात कहीं नहीं थी, बल्कि यह था कि यह मसजिद इब्राहिम लोदी ने बनवाई है। इसलिए अदालत में ए0 यूहरर को बुलाया गया जो 1889 के उस शिलालेख के बारे में बता सके, जिसे उसने स्वयं पढ़ा था। उसने कहा, हमारी पालिसीज बदलीं और तब यह तय किया गया कि हिन्दू और मुसलमान, जो 1857 में एक हुए थे, उन्हे अलग–अलग रखा जाये, नहीं तो अंग्रेजी हुकूमत चलने नहीं पायेगी। इसीलिए मैंने बाबरी मसजिद पर लगा इब्राहिम लोदी का जो शिलालेख पढ़ा था, उसे जान बूझ कर मिटाया गया लेकिन मैंने उसका अनुवाद किया था, वह

आर्कियोलॉजीकल सर्वे आफ इण्डिया की फाइलों में पड़ा रह गया। उसे नष्ट कराने का ख्याल किसी को नहीं आया। इसी के साथ बाबर—नाम के वो पन्ने गायब किये गये जो इस बात का सबूत देते है कि बाबर अवध में गया तो जरूर, पर कभी अयोध्या नहीं गया... और उसके बाद हमारी अंग्रेज कौम न और खास तौर से एच0 आर0 नेविल ने जो फैजाबाद गजेटियर तैयार किया, उसमें शैतानी से यह दर्ज किया कि बाबर अयोध्या में एक हफ्ते ठहरा और इसी ने प्राचीन मन्दिर को मिसमार किया।

'कितने पाकिस्तान' में दूसरी बड़ी समस्या पाकिस्तान बनने की उठाई है। पाकिस्तान बनने का कारण अंग्रेज तो थे ही साथ ही देश के वे राजनेता भी थे जो धर्म के आधार पर दो देश बनाना चाहते थे। इन्हें धर्म से कोई लेना—देना नहीं था पर वे धर्म के आधार पर राज तो करना चाहते ही थे। वे जानते थे कि धर्म में वह शक्ति है जो जनता में सीधा असर करती है।

दरअसल, जिन्ना को बरगलाने का काम अंग्रेजों ने किया, वे मानते थे कि जिन्ना में ही वह ताकत है जिसके बल पर हिन्दुस्तान के दो टुकड़े किये जा सकते है। इस्लाम के नियमों को मानने के बावजूद, पूरी तरह प्रगतिशील होते हुए भी मुसलमानों में उनका व्यापक असर है, इसलिए अंग्रेज उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। जिन्ना के लिए जो लोग कहते है कि उन्होंने इतिहास बनाया वह गलत है। वास्तविकता यह है कि जिन्ना ने इतिहास नहीं बनाया... साम्राज्यवादी ताकतों के इतिहास ने जिन्ना को बनाया है।

कमलेश्वर पाकिस्तान बनने की घटना के ऐतिहासिक कारण ढूंढ़ते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह साम्राज्यवादी ताकतों की कुटिल चाल का नतीजा था, जिसने अपने रहते हुए हिन्दु—मुसलमानों को आपस में लड़वाया और जाते हुए ऐसे बीज बोकर चले गये जिससे वे हमेशा आपस में लड़ते रहें।

कमलेश्वर का यह उपन्यास मानवता के दरवाजे पर इतिहास और समय की एक दस्तक है. .. इस उम्मीद के साथ कि भारत ही नहीं, दुनिया भर में एक के बाद एक दूसरे पाकिस्तान बनाने की लहू से लथपथ यह परम्परा अब खत्म हो....।

lUnÒ %

1. कमलेश्वर — कितने पाकिस्तान, पृ0 29
2. कमलेश्वर — कितने पाकिस्तान, पृ0 72
3. वहीं, पृ0 72
4. वहीं, पृ0 72
5. वहीं, पृ0 72
6. कमलेश्वर — कितने पाकिस्तान, पृ0 73
7. कमलेश्वर — कितने पाकिस्तान, पृ0 279
8. कमलेश्वर — कितने पाकिस्तान, पृ0 106

****

आदिवासियों की शिक्षा एवं साहित्यः एक अवलोकन

डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह*

-: संक्षिप्त :-

शिक्षा एवं शिक्षण का महत्व सर्वकालिक है। इतिहास साक्षी है कि शिक्षित होने के पश्चात् ही कोई समाज विकास की गति को पकड़कर मुख्य धारा में शामिल हो पाया। डॉ. अम्बेडकर ने सम्पूर्ण दलित समाज के लिए तीन मंत्र दिए शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो। इन तीनों घोषवाक्यों में से जिस समुदाय ने भी प्रथम का ही अनुपालन कर लिया वही आगे बढ़ सका। जहां तक आदिवासी समाज का प्रश्न है, तो सर्वप्रथम 'आदिवासी' शब्द को हम देखें तो पाते हैं कि इसमें 'आदि' और 'वासी' दो शब्दों की संधि है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है–प्रथम, या प्राचीन निवासी। अर्थात् जो किसी भूमि का मूल निवासी हो। जहां तक बात है भारत की, तो यहां भी आदिवासी इस भूमि की 'आदि संतान' तथा 'आदि पुत्र' हैं और इन्हीं को वास्तविक रूप में इस भारत भूमि का उत्तराधिकारी माना जाना चाहिए था। परंतु भारत में प्रचलित मनुवादी विचाराधारा और ब्राह्म्णवादियों ने भारत की मूल संतानों को ही समाज से परे जाने के लिए मजबूर कर दिया। आज आदिवासी शब्द के उच्चारण से ही हमारे सम्मुख सदियों से छला–सताया, नंगा किया और सोची–समझी साजिश के तहत वन–जंगलों में जबरिया भागने के लिए मजबूर किया गया असंगठित मनुष्य और उसका असंगठित एकाकी समुदाय का चित्र उपस्थिति हो जाता है। जिसमें कहीं–कहीं तो एक परिवार के रूप में दो चार ही सदस्य बचे हुए हैं और उनके इस दुनिया से विदा होते ही खत्म हो जाएगी एक परंपरा, एक संस्कृति। वह मनुष्य, जो अपनी स्वतंत्र परंपरा सहित, सहस्त्र वर्षों से गांवों–देहातों–कस्बों से दूर घने जंगलों में वास करनेवाला संदर्भहीन मनुष्य है, जो एक विशेष पर्यावरण में अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को प्राणों की कीमत पर भी संजोये रखने के लिए दृढ़संकल्पित हैं, प्रकृतिनिष्ठ, प्रकृति–निर्भर, कमर पर मात्र अपने यौनांगों को ढकने भर के वस्त्र या पत्र लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर, भक्ष्य की खोज में शिकारी बना, दर–दर भटक रहा है। स्त्रियां भी बहुत कम कपड़ों या पत्रों के माध्यम से अपने यौनांगों को ढ़के हुए रहती हो, वो आदिवासी परिवार इस देश की मूल संतानें हैं। बहुत से ऐसे भी स्थान हैं जहां आदिवासियों को उनके शरीर को ढकने के लिए किसी आवरण की भी आवश्यकता होती है इसका ज्ञान तक नहीं हो पाया है। अंडमान एवं मध्य प्रदेश में आज भी ऐसे कई गांव हैं जहां आदिवासी सम्पूर्ण निर्वस्त्र पाए जाते हैं। आदिवासियों को अभी तक वनवासी ,दास, जंगली, दस्यु कहा जाता है जिसने लंबे अरसे तक प्रकृति से जुड़ी अपनी संस्कृति धर्म और सामाजिक जीवन की परंपरा और व्यवस्था कायम की है। यही प्रकृति वन–जंगल आदिवासियों का अपना संसार समाज और घर है –

''इंद्रावती गोदावरी शबरी स्वर्ण रेखा तीस्ता बराक कोयल
सिर्फ नदियां नहीं उनके वाद्ययंत्र हैं
मुरिया बैगा संथाल मुंडा उरांव डोंगरिया कोंध पहाड़ियां
महज नाम नहीं वे राग हैं जिन्हें वह प्राचीन समय से गाता आया है

*सहायक प्रोफेसर (हिंदी), राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जलेसर, एटा, उत्तर प्रदेश।

और यह गहरा अरण्य अध्यात्म नहीं उसका घर है।''

(मंगलेश डबराल,नये युग में शत्रु, 2013 पृ.सं. 16)

भारत में लगभग 700 आदिवासी समूहों का निवास है और ये हमारे देश जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा अपने आप में समाए हुए हैं। भारत के आदिवासी, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ, राजस्थान, गुजरात, आन्ध प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल में अल्पसंख्यक तथा पूर्वोत्तर राज्यों में बहुसंख्यक है। इन पूर्वोत्तर राज्यों में गुरूंग, लिंबू, लेपचा, आका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपी, मिकिर, राम, कवारी, गारो, खासी, नागा, कुकी, लुसाई, चकमा इत्यादि प्रसिद्ध हैं जबकि संथाल, मुंडा, उरांव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, जुआग, खोंड, सवरा, गोंड़, भील, बैगा, कोरकू, कमार इत्यादि मध्य क्षेत्र में एवं भील, ठाकुर, कटकरी आदि (पश्चिमी क्षेत्र में) तथा चेंचू, कोंडा, रेड्डी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरूंबा, बडागा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, उराली, कनिक्कर इत्यादि दक्षिण क्षेत्र में निवास करते हैं। कई नृविज्ञानी इसका प्रयोग उन समाजों के लिए करते हैं जो मोटे तौर पर कुटुंब के आधार पर संगठित हुए। यहां भारत में सरकारी भाषा में एक आदिवासी समुदाय मूलतः प्रशासनिक और राजनीतिक अवधारणा है। इस अवधारणा में आदिवासी होने का सामाजिक और आर्थिक पक्ष गायब है।

भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत का विभाजन चार प्रमुख क्षेत्रों में किया जा सकता है अर्थात् उत्तरपूर्वीय क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र। उत्तर पूर्वीय क्षेत्र के अंतर्गत हिमालय अंचल के अतिरिक्त तिस्ता उपत्यका और ब्रह्मपुत्र की यमुना–पद्या–शाखा के पूर्वी भाग का पहाड़ी प्रदेश आता है। इस भाग के आदिवासी समूहों में गुरूंग, लिंबू, लेपचा, आका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपी, मिकिर, राम, कवारी, गारो, खासी, नाग, कुकी, लुशाई, चकमा आदि उल्लेखनीय हैं। मध्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर–प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी ओर राजमहल पर्वतमाला के पश्चिमी भाग से लेकर दक्षिण की गोदावरी नदी तक है। संथाल, मुंडा, उरांव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, जुआंग, खोंड, सवरा, गोंड, भील, बैगा, कोरकू, कमार आदि इस भाग के प्रमुख आदिवासी हैं। पश्चिमी क्षेत्र में भील, ठाकुर, कटकरी आदि आदिवासी निवास करते हैं। मध्य पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण में सह्याद्रि तक का पश्चिमी प्रदेश इस क्षेत्र में आता है। गोदावरी के दक्षिण से कन्याकुमारी तक दक्षिणी क्षेत्र का विस्तार है। इस भाग में जो आदिवासी समूह रहते हैं उनमें चेंचू, कोंडा, रेड्डी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरूंबा, बडागा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, उराली, कनिक्कर आदि उल्लेखनीय हैं।

वंचितों, दलितों एवं उपेक्षितों संबंधी विमर्शों का सीधा संबंध सबल्टर्न विमर्श से है। इसके अंतर्गत आदिवासी विमर्श भी आता है क्योंकि यथापूर्व उल्लेख यह समुदाय भी सदियों से उपेक्षित एवं पीड़ित है ही। आदिवासियों को भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजाति के नाम से संबोधित किया गया है। यथाप्रचलन आदिवासी शब्द का प्रयोग प्रस्तुत शोधालेख में किया जा रहा है। भूस्वामित्व खोना, विस्थापन, स्वास्थ्य, पारंपरिक ज्ञान और संस्कृति का नष्ट होना, सामुदायिक स्वामित्व से बेदखली, जैव विविधता में खलल, अशिक्षा, यौन शोषण, और आदिवासी महिलाओं के विरुद्ध हिंसा और सामाजिक–आर्थिक रूप से सत्ता में अल्पतम भागीरदारी आदि आदिवासियों की प्रमुख समस्याएं हैं। भारतीय साहित्य में 'सबअल्टर्न साहित्य' यानी समाज के पराधीन, दुखी, सताए हुए और निचले तबके के लोगों का साहित्य। भारतीय समाज के चार वर्गों, यथा– दलित,आदिवासी, नारी और हिजड़े। विषय विस्तार से बचने के लिए यहां आदिवासी समुदाय पर ही विचार करना समीचीन होगा।

vkfnokfl;ksa dh f'k{kk %&

आदिवासियों की शिक्षा को दो रूपों में देखा जा सकता है प्रथम आदिकालीन शिक्षा पद्धति तथा द्वितीय वर्तमान शिक्षा पद्धति।

आदिवासी समाज या जनजातीय समाज का अध्ययन करना मानव शास्त्र और समाजशास्त्र की लंबी परंपरा रही है। वनों का सुरक्षा से ही आदिवासियों की परंपरागत मान्यताएँ, प्रथाएँ लोक

कथाएँ, लोकगीत, लोक नृत्य, उनकी बोली–भाषा अथवा उनके जादू–टोने आदि के वाह्य संसार के हस्तक्षेप से रक्षा प्राप्त होती रही है। वनों से उन्हें अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं जैसे– आश्रम, भोजन, रोजगार एवं सुदृढ़ संस्कृति की प्राप्ति। यही प्रकृति इन्हें नानाप्रकार से शिक्षा भी देती आई है। आदिवासियों की परंपरागत शिक्षा तकनीक में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है घोटुल या गोतुल। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण घोटुल के माध्यम से पता चलता है कि प्राचीन काल से ही आदिवासी समुदाय अपने युवक–युवतियों की प्रगति के लिए कितने सजग हैं। प्रायः समस्त आदिवासियों में 'घोटुल' नामक संस्था की स्थापना का प्रचलन है। बोली की विविधता के कारण इसके कई नाम प्रचलित हैं। मुड़िया (मुरिया) इसे 'घोटुल' कहते हैं तो भुइयां समाज में यह 'धंगर बस्सा' कहा जाता है। मुंडा एवं हो इसे 'गतिओरा' कहते हैं। उरांव आदिवासियों में यह संस्था 'धुमकुरिया' कही जाती है। असम के नागा आदिवासी इसे 'याकिचुकी' कहा करते हैं। उत्तर–प्रदेश के आदिवासी समुदायों द्वारा इसे 'रंग–बंग' नाम से नाम दिया हुआ है। यह संस्था पूर्णरूपेण अविवाहित कुमारों एवं कुमारियों को अपनी संस्कृति, धर्म आदि के ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम है। रात्रि में आदिवासी अविवाहित युवक एवं युवतियां इस मोहक–गृह में रहकर जीवनोपयोगी ज्ञान प्राप्त करते हैं। कहा जाता है कि यह 'घोटुल' आदिवासियों के लिंगो देवता का वरदान है। 'घोटुल' डिंडामहल अर्थात् अविवाहितों का राजप्रासाद है।

साधारणतः 'घोटुल' गांव के पास हरे–भरे, सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में बनाए जाते हैं, जिसका निर्माण आदिवासी युवकों एवं युवतियों द्वारा स्वयं किसी बड़े की देख रेख में बनाया जाता है। दीवारों पर कई देवी–देवताओं की आकृतियां विविध रंगों में चित्रित की जाती हैं। युवा–गृह में एक बड़ा लंबा कमरा होता है, जो घास–फूस से छाया जाता है। इसमें प्रवेश के लिए एक छोटा सा दरवाजा बनाया जाता है। संध्या होते ही गांव के कुमार एवं कुमारियां इस गृह में जाते हैं और इसकी सफाई करने में लग जाते है। कतिपय आदिवासी जातियों में कुमारों के लिए पृथक् और कुमारियों के लिए अलग 'गोतुल' होते हैं, लेकिन ऐसे भी कई रंगबंग (घोटुल) हैं, जिनमें अविवाहित युवक–युवतियां एक साथ रहते हैं। यहां नृत्य–गानादि की शिक्षा भी दी जाती है और यौन विषयक प्रशिक्षण भी इन 'गोतुलों' में उपलब्ध होता है। मद्यपान और भोजन के बाद शीतकाल में युवागृह के प्रांगण में अलाव जलाए जाते हैं, जिनके पास बैठकर कहानियां सुनाकर मनोविनोद किया जाता है। कामशास्त्र की शिक्षा इन गृहों में अनुभवी प्रौढ़–प्रौढ़ाएं ही देती हैं। शिकार करना, तीर चलाना, प्रकृति संरक्षण, वनोषधियों का ज्ञान आदि सभी कुछ दिया जाता है यहां बड़ी पीढ़ी द्वारा आगामी पीढ़ी को। युवक युवतियां अपनी इच्छानुसार युवक युवतियों को चुनते हैं और फिर विधिवत् इनका विवाह संपादित किया जाता है। कहा जाता है कि 'गोतुल' में गर्भाधान वर्जित है, लेकिन प्रेम स्वातंत्र्य के कारण यहां कभी–कभी चारित्रिक पतन भी हो जाता है।

or'eku f'k{kk i.kkyh ,o vkfnokl h %&

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार द्वारा आदिवासियों की शिक्षा के लिए प्राथमिक स्तर से उच्च शिक्षा तक के विभिन्न प्रावधान किए हैं। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार जनजातीय कार्य मंत्रालय अनुसूचित जनजातियों के विकास कार्यक्रमों के लिए समग्र नीति, आयोजना और समन्वय के लिए नोडल मंत्रालय है। क्षेत्र के कार्यक्रमों और इन समुदायों की नीति, आयोजना, निगरानी, मूल्यांकन आदि के विकास की योजनाओं के विषय में, इनका समन्वय संबंधित केंद्रीय मंत्रालयों या विभागों, राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्रों के प्रशासन का दायित्व होगा। प्रत्येक केंद्रीय मंत्रालय या विभाग जो इस क्षेत्र से संबंध रखता है, नोडल मंत्रालय या विभाग होगा। जनजातीय कार्य मंत्रालय का गठन अक्टूबर 1999 में भारतीय समाज के सबसे वंचित वर्ग अनुसूचित जनजाति के एकीकृत सामाजिक–आर्थिक विकास के समन्वित और योजनाबद्ध उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए किया गया था। जनजातीय कार्य मंत्रालय, अनुसूचित जनजाति के विकास के लिए चलाई जा रही समग्र नीति, योजननओं और उनका समन्वयन इसी मंत्रालय के माध्यम से किया जाता है। जनजातीय कार्य मंत्रालय की गतिविधियां भारत

सरकार (व्यापार आवंटन) नियमावली, 1961 के तहत आवंटित विषयों से संबंधित हैं। इसके अनुसार अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक बीमा, जनजाति कल्याण योजना, परियोजना तैयार करना, अनुसंधान, मूल्यांकन, सांख्यिकी एवं प्रशिक्षण, जनजाति के कल्याण के संबंध में स्वैच्छिक प्रयासों का संवर्धन और विकास, अनुसूचित जनजातियां, जिसमें इन जनजातियां के छात्रों के लिए छात्रवृत्तियां,अनुसूचित जनजातियों का विकास से संबंधित मामले आदि शामिल हैं।

भारत सरकार ने आदिवासी समाज को भारत के संविधान की पांचवी अनुसूची में 'अनुसूचित जनजातियों' के रूप में मान्यता प्रदान की हुई है। इन्हें अनुसूचित जातियों के साथ एक ही श्रेणी 'अनुसूचित जातियों और जनजातियों' के अंगर्तगत रखा गया है। संवैधानिक प्रावधान को अनुसूचित जनजातियों के लिए रक्षोपाय, दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम रक्षात्मक तथा द्वितीय विकासात्मक। अनुच्छेद 15 (4) सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक हितों के संवर्धन से संबंधित है। अनुच्छेद 19 (5) आदिवासी हितों की रक्षा से संबंधित है जिसमें व्यक्गित रक्षा के साथ उनकी संस्कृति आदि का रक्षण भी शामिल है। अनुच्छेद 23 मानव तस्करी को रोकने से संबंधित है। बहुत से आदिवासी क्षेत्रों से आदिवासी बालिकाओं, बालकों को बंधुआ मजदूर बनाए जाने का प्रचलन रहा है और इसी रोकथाम के लिए इस अनुच्छेद का निमार्ण किया गया। अनुच्छेद 29 आदिवासियों के सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार से संबंधित है। इसके अनुसार एक सांस्कृतिक या भाषाई अल्पसंख्यक अपनी भाषा या संस्कृति के संरक्षण का अधिकार है। राज्य इस पर समुदाय की अपनी संस्कृति के अलावा अन्य किसी भी संस्ःति थोपने का कार्य नहीं करेगा। अनुच्छेद 335 के अनुसार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों सेवाओं और संघ या किसी राज्य के मामलों के संबंध में पदों के लिए नियुक्तियों बनाने में ध्यान में रखा जाएगा। अनुच्छेद 338 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाने वाले अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष अधिकारी की होगी कि कहते हैं इसे राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग, 338(।) के तहत स्थापित किया गया है। अनुच्छेद 339 (1) के अनुसार राष्ट्रपति किसी भी समय और संविधान लागू होने के 10 वर्ष की समाप्ति पर आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और राज्यों में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण पर रिपोर्ट करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करेगा सकता है। नागालैंड (371 ए), असम (371 बी) और मणिपुर (371 सी), महाराष्ट्र और गुजरात (371) के राज्यों के संबंध में विशेष उपायों और प्रावधानों का प्रावधान है।

vkfnokfl;ksa dh Hkk"kk,¡%&

अधिकांश आदिवासी संस्कृति के प्राथमिक धरातल पर जीवनयापन करते हैं। क्षेत्रीय समूहों में रहना इनकी विशेषता हैं और उनकी संस्कृति अनेक दृष्टियों से स्वयंपूर्ण रहती है। इन संस्कृतियों में ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव पाया जाता एवं ऊपरी तौर बहुत कम पीढ़ियों तक यथार्थ इतिहास किंवदंतियों और पौराणिक कथाओं के सम्मिश्रण के रूप् में मिलता है। सीमित परिधि तथा लघु जनसंख्या के कारण इन संस्कृतियों के रूप में स्थिरता रहती है, किसी एक काल में होनेवाले सांस्कृतिक परिवर्तन अपने प्रभाव एवं व्यापकता में अपेक्षाकृत सीमित होते हैं। परंपरा केंद्रित आदिवासी संस्कृतियाँ इसी कारण अपने अनेक पक्षों में रूढ़िवादी सी परिलक्षित होती हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से उन्हें आस्ट्रो–एशियाई, द्रविड़ और तिब्बती–चीनी–परिवारों की भाषाएँ बोलनेवाले समूहों में विभाजित किया जा सकता है। भारत में सभी आदिवासी समुदायों की अपनी विशिष्ट भाषा है। भाषाविज्ञानियों ने भारत के सभी आदिवासी भाषाओं को मुख्यतः तीन भाषा परिवारों में रखा है। द्रविड़, आस्ट्रिक और चीनी–तिब्बती। लेकिन कुछ आदिवासी भाषाएं भारोपीय भाषा परिवार के अंतर्गत भी आती हैं। आदिवासी भाषाओं में 'भीली' बोलने वालों की संख्या सबसे ज्यादा है जबकि दूसरे नंबर पर 'गोंडी' भाषा और तीसरे नंबर पर 'संताली' भाषा है। भारत की 114 मुख्य भाषाओं में से 22 को ही संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इनमें कुछ वर्ष पूर्व शामिल की गयी संताली और बोड़ो ही मात्र आदिवासी भाषाएं हैं। अनुसूची में शामिल संताली (0.62), सिंधी, नेपाली, बोड़ो (सभी 0.25), मिताइ (0.15), डोगरी और संस्कृत भाषाएं एक प्रतिशत से भी कम लोगों द्वारा बोली जाती हैं। जबकि

भीली (0.67), गोंडी (0.25), टुलु (0.19) और कुडुख 0.17 प्रतिशत लोगों द्वारा व्यवहार में लाए जाने के बाद भी आठवीं अनुसूची में दर्ज नहीं की गयी हैं। भारतीय राज्यों में एकमात्र झारखण्ड में ही 5 आदिवासी भाषाओं– संताली, मुंडारी, हो, कुडुख और खडिया – को 2011 में द्वितीय राज्यभाषा का दर्जा प्रदान किया गया है।

vkfnokfl ;k dk lkfgR;%&

साहित्य लेखन की ओर रूख किया जाये तो कहना होगा कि आदिवासी रचनाशीलता की मुख्य विधाएं हैं–कविता, कहानी, उपन्यास और संस्मरण। आलोचना और व्यंग्य को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने की दृष्टि से बुदु उरांव और मंजु ज्योत्नो के नाम लिये जा सकते हैं, लेकिन यह जोड़ते हुए कि उनके काम का परिमाण अभी तक अल्प है। झारखंडी भाषाओं के नवोन्मेष के लिए समर्पित कृतिकारों की तालिका लंबी हो सकती है, तो भी पीटर शांति नवरंगी, रामदयाल मुंडा और हरि उरांव के नाम–काम भुलाये नहीं जा सकते।

कहानी विधा में आदिवासी कलम का कोई चर्चित कथाकारों की संख्या कम है। वाल्टभर भेंगरा के दो कहानी संग्रह बहुत पहले छप चुके थे–'देने का सुख' और 'लौटती रेखाएं'। पीटर पाल एक्काट के तीन कहानी संग्रह भी आठवें दशक में आ चुके थे–'खुला आसमान बंद दिशाएं', 'परती जमीन' और 'सोन पहाड़ी'। जेम्स टोप्पो का कहानी संग्रह 'शंख नदी भरी गेल' भी इस श्रृखंला का संग्रह है। मंजु ज्योत्नाजे का कहानी संग्रह 'जग गयी जमीन' कम चर्चित रहा। एलिस एक्कां की कहानियां 'आदिवासी' पत्रिका में प्रकाशित हुई। रोज केरकेट्टा ने प्रेमचंद की दस कहानियों का अपनी मातृभाषा खड़िया में अनुवाद किया और स्वयं भी 'भंवर' जैसी मजबूत कहानी लिखी। आदिवासी कथाकारों के एकल कहानी संग्रहों की अभी भी कमी है।

उपन्यास लेखन के क्षेत्र में हेराल्डर एस. टोपनो के 'अधूरे' उपन्यास को पढ़ते हुए एक विस्फोटक संभावनाओं का साक्षात्कार होता है। आठवें दशक में आदिवासी कलम का हिंदी उपन्यास आया 'सुबह की शाम' जिसकी रचना वाल्टसर भेगरा ने की। ये उपनाम 'तरूण' से भी लिखते थे। सत्य भारती प्रकाशन, रांची से तीन उपन्यासों–'तलाश','गैंग लीडर' और 'कच्ची कली' का प्रकाशन दसवें दशक में हुआ। वरिष्ठ उपन्यासकार पीटर पाल एक्का का 'जंगल के गीत' उपन्यास पर्याप्त रूप से चर्चित रहा है। उन्होंने इस उपन्यास के माध्यम से 'महान बिरसा' के उलगुलान के संदेश को सामयिक संदर्भ में तुंबा टोली गांव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के कथोपकथन के जरिए प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास से पहले उनका एक और उपन्यास 'मौन घाटी' भी प्रकाशित हो चुका है। आदिवासी कथाकारों द्वारा साहित्य लिखा तो जा रहा है परंतु आधुनिक विषयों की कमी खलती है। उनके उपन्यास प्राचीन अवधारणाओं एवं कसौटियों पर ही अधिक आधारित रहे हैं। समग्रता में देखें तो समकालीन लेखन परिदृश्य से उनके गहन परिचय के सुयोग से एक बंद समाज की अन्तःक्रिया का दुर्लभ सिलसिला शुरू हो चुका है। झारखंडी भाषाओं के कथा साहित्य और हिंदी में भी, वस्तु कथन या प्रस्तुति का नया अंदाज एक बड़े दायरे को आंदोलित करने में समर्थ भी हो सकता है।

साहित्य तथा विमर्श के क्षेत्र में तथाकथित विद्वान वेमतलब का अस्मिता संघर्ष दिखाते हुए साहित्य को कई भागों में बांटने का प्रयास करते हुए देखे गए हैं जैसे– आदिवासियों के द्वारा लिखा गया ही आदिवासी साहित्य है। अन्य के द्वारा लिखे गए साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं कहा जा सकता है। ये विभाजन ठीक दलित विमर्श के आधार पर कर लिया गया है। वैसे मेरे विचार से साहित्य समाज का होता है और व्यापक स्तर पर सभी समाज का हिस्सा है। इसलिए किसी भी समुदाय के व्यक्ति द्वारा लिखा गया वह साहित्य जो किसी समुदाय विशेष का विवेचन करता हो उसे उस समुदाय का साहित्य माना जाना चाहिए। उसमें निहित चेतना, संवेदना पर ध्यान दिया जाना चाहिए न कि रचनाकार की जाति पर। कुछ मामलों में ये हो सकता है कि जिसने भोगा नहीं उसे क्या मालूम की वास्तविक दर्द क्या होता है परंतु वैसी स्थिति में भी आदिवासी इतर साहित्यकारों द्वारा लिखे साहित्य को जो कि पूरी तरह से आदिवासियों की संवेदना पर आधारित है उसे आदिवासी विमर्श का साहित्य

ही माना जाना चाहिए। क्योंकि साहित्य पर किसी व्यक्ति विशेष या समुदाय का एकाधिकार कभी नहीं रहा और न ही भविष्य में ऐसा हो पाएगा। इसका चाहे तो विभाजन कर आदिवासियों द्वारा रचित साहित्य का आदिवासी साहित्य कहा जा सकता है और आदिवासी इतर साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्य को आदिवासी संवेदना का साहित्य तो कहा ही जा सकता है।

आदिवासियों का मौखिक साहित्य अत्यंत समृद्ध है। पुरखा (लोक) कथाओं, गीतों, कहावतों और मुहावरों की वाचिक परंपरा आदिवासी समुदायों में भरी–पूरी है। अपनी इस वाचिक परंपरा को आदिवासी 'पुरखा साहित्य' (वंदना टेटे, 2012) कहते हैं जबकि हिंदी में इन्हें 'लोक साहित्य' एवं अंग्रेजी में 'फोक लिटरेचर' कहा जाता है। भारत के आदिवासी भाषाओं में कम से कम 1500 से अधिक लेखक हैं जो नियमित रूप से साहित्य रचना कर रहे हैं। अकेले संताली में ही लेखकों की संख्या 1000 से ऊपर है। प्रत्येक वर्ष झारखंड और देश के दूसरे आदिवासी क्षेत्रों में लगभग 100 पुस्तकों का प्रकाशन और लोकार्पण होता है। राष्ट्रीय स्तर पर देशज और आदिवासी लेखकों के कई बड़े संगठन हैं जिनमें झारखंडी भाषा साहित्य संस्.ति अखड़ा, ऑल इंडिया संताली राइटर्स एसोसिएशन, कुडुख लिटरेरी सोसायटी, आदिवासी साहित्य सम्मेलन महाराष्ट्र आदि प्रमुख हैं। जो मूलनिवासियों और आदिवासियों के नेतृत्व में संचालित हैं। समुदाय स्तर पर भी हर समुदाय का अपना साहित्यिक संगठन है, जैसे, मुण्डा साहित्य सभा, बोड़ो साहित्य सभा आदि। (आदिवासी साहित्य–http://www.lakshyacompetition.com)

विगत दो दशकों में हिंदी साहित्य जगत में आदिवासी लेखकों की पैठ और पहचान बहुत हद तक बन चुकी है और स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि लेखन–प्रकाशन के बहुमुखी क्रियाकलापों के बल पर आदिवासी साहित्य लेखन क्षेत्र की प्रतिभाओं के मार्ग खुले हैं और कई समर्थ संभावनाओं की उपलब्धियों को आधार भी मिला है। नागपुरी, कुरमाली और खोरठा जैसी क्षेत्रीय भाषाओं और मुंडारी, कुडुख, संताली और खड़िया जैसी जनजातीय भाषाओं में साहित्या की प्रमुख विधाओं में लगातार लिखा–पढ़ा जा रहा है, किताबें छप रही हैं, पत्रिकाएं निकल रही हैं। कुछ समय पहले तक शिक्षित आदिवासी जन हिंदी भाषा–साहित्य के नियमित पाठक भर थे, अब उनमें बहुत से हिंदी के लेखक के रूप में स्थापित हो चुके हैं। मंच, मीडिया, पत्रिकाओं और किताबों के मेले में उनके कदम .ढ़ता से अग्रसर हो रहे हैं। सृजन और विचार की यह सतरंगी दुनिया कभी तो कोरस के सामूहिक अंदाज में साकार होती है तो कभी एकल .तित्वों की उपलब्धियों के बल पर प्रभावी बन जाती है। वर्तमान तिथि में में आदिवासी कलम की धार आंचलिक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर तक प्रभावी बन चुकी है।

i=] if=dk,¡ rFkk oc lkbV %&

पत्र–पत्रिकाओं में छिटपुट लिखने वाले युवा कवियों–कवियत्रियों पंक्ति अब लंबी होती नजर आ रही है। आदिवासी कलम की हिंदी कविता बृहत्तर हिंदी पट्टी की शेष कविता से अपनी अलग पहचान जिस साझा रूझान से रेखांकित करती है, वह है प्रतीक चरित्रों और घटनाओं का संश्लिष्ट कथात्मक निवेश और प्रतिरोध के आंचलिक रंग। इनमें वर्णित यथार्थ का अर्थ अमूर्त स्थितियों का हवाई सर्वेक्षण और अखबारी समाज चेतना की अनुकृति कतई नहीं है। फ्रांसिस्का कुजूर अपनी मातृभाषा कुडुख के साथ हिंदी में भी कविताएं और कहानियां लगातार लिख रही हैं और अपने परिवेश की दुर्दशा के प्रति सजग संवेदना के लिए पढ़ी–सराही जा रही हैं। झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा पिछले दस वर्ष से राज्य की पारंपरिक भाषा–संस्कृति को समृद्ध कर रहा है। वंदना टेटे इसकी संस्थापक महासचिव हैं। आज अखड़ा न केवल राज्य के आदिवासी लेखकों को एक मंच दे रहा है, बल्कि आदिवासी साहित्य के जरिए राष्ट्रीय परिदृश्य में आदिवासी सवालों पर सार्थक हस्तक्षेप भी कर रहा हैं। वंदना पिछले आठ सालों से अपनी त्रैमासिक पत्रिका 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' के माध्यम से सभी झारखंडी भाषाओं के साहित्य को प्रकाश में ला रही हैं। नागपुरी में 'जोहार सहिया' मासिक पत्रिका और 'जोहार दिसुम खबर' नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन भी कर रही हैं। फाउंडेशन की ओर से अब तक आदिवासी, क्षेत्रीय और

हिंदी भाषाओं में लगभग सवा सौ किताबें प्रकाशित कर चुकी हैं। 'प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन' ने भी वंदना टेटे के नेतृत्व में कई उल्लेखनीय कार्य निष्पादित किए हैं। वर्ष 2002 में देश–विदेश तक अपनी आवाज पहुंचाने के लिए 'खड़किया डॉट इन' नामक वेबसाइट संचालित करना प्रारंभ किया, जो कि हिंदी, झारखंड की आदिवासी व दस क्षेत्रीय भाषाओं में सूचना उपलब्ध कराने वाली भारत की पहली व एकमात्र साइट रही। इनके सहयोग से झारखंडी भाषाओं में 'पांजा', 'आखांइन', 'गोतिया', 'सांगोम' आदि दर्जन भर पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। खोरठा, नागपुरी और हिंदी में अनेक वेबसाइटों का निर्माण भी फाउंडेशन ने करवाया गया है। हिंदी एवं आदिवासी भाषा 'खड़िया' में लेख, कविताएं, कहानियां स्थानीय एवं राष्ट्रीय पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा आकाशवाणी रांची (झारखंड) से लोकगीत, वार्ता व साहित्यिक रचनाएं प्रसारित, झारखंड आंदोलन की पत्रिका 'झारखंउ खबर' (1990–92,रांची) का उप–संपादन। झारखंड की पहली आदिवासी बहुभाषायी (आदिवासी, क्षेत्रीय एवं हिंदी सहित 11 भाषाओं में) त्रैमासिक पत्रिका 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' का नियमित प्रकाशन एवं संपादन 2004 से झारखंड की आदिवासी–देशज भाषा 'नागपुरी' में मासिक पत्रिका 'जोहार सहिया' का नियमित प्रकाशन एवं प्रधान संपादक। फरवरी 2007 से खड़िया मासिक पत्रिका 'सोरिनानिंग' का संपादन–प्रकाशन। सन् 2008 से प्रकाशित पुस्तकें हैं– पुरखा लड़ाके (आदिवासी इतिहास), किसका राज है (आदिवासी समुदाय के सामाजिक–आर्थिक सवालों पर विमर्श), झारखंड एक अंतहीन समरगाथा (बच्चों के लिए झारखंड के इतिहास पर सचित्र पुस्तिका),असुर सिरिंग (असुर लोकगीतों का संग्रह–संपादन सुषमा असुर के साथ),आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन (आदिवासी साहित्य सिद्घांत) इत्यादि। (http:// www.prabhatkhabar.com/news/46951 & story. html) साप्ताहिक 'ग्राम निर्माण' के संपादन से जुड़े आदित्य मित्र संताली, 'तरंग भारती' की कार्यकारी संपादक पुष्पा टेटे, 'देशज स्वन' से जुड़े सुनील मिंज, अखड़ा की वंदना टेटे और सांध्य दैनिक 'झारखंड न्यूटज लाइन' के संपादक वरिष्ठि पत्रकार शिशिर टुडु अन्य प्रमुख दिग्गज हैं जो झारखंडी भाषाओं की श्रीवृद्धि में लगे हुए हैं। अब तक जिन आदिवासी हिंदी लेखकों की पुख्ता पहचान बन चुकी है, उनमें आदित्यख मित्र संताली, एलिस एक्का,पीटर शान्तिल नवरंगी, रामदयाल मुंडा, निर्मला पुतुल, रोज केरकेट्टा, मंजु ज्योअत्नाता, पीटर पॉल एक्काद, जेम्स टोप्पो, हेराल्डु एस. टोपनो, वाल्टर भेंगरा, मार्टिन जॉन अजनबी, ग्रेस कुजूर, महादेव टोप्पो , मोतीलाल, वासवी किड़ो, दयामनी बरला, सुनील मिंज, शिशिर टुडु, पुष्पा टेटे, जोवाक तोपनो, जेवियर कुजूर, वंदना टेटे, सरिता सिंह बड़ाइक, शान्ति खलखो और फ्रांसिका कुजूर इत्यादि। सृजन और विचार के क्षेत्र में झारखंड की आदिवासी कलम के अवदान के कई पक्ष और विधाएं हैं। इस देश के विचारकोश को समय–समय पर अनेक धरतीपुत्रों ने समृद्ध किया है। लेकिन पत्र–पत्रिकाओं में जिनकी नियमित उपस्थिनति से सार्वजनिक प्रश्नों और समस्याओं को पर छाया धुंध का कोहरा छंटता रहा है, उनमें सबसे पहले याद आते हैं 'जंगल गाथा' से अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाले लेखक–पत्रकार हेराल्ड एस. टोपनो और बहुमुखी सृजनशीलता के धनी डॉ. रामदयाल मुंडा। सामाजिक–राजनीतिक विश्लेषण के लिहाज से एनई होरो, निर्मल मिंज, रोज केरकेट्टा, प्रभाकर तिर्की, सूर्य सिंह बेसरा और महादेव टोप्पो जैसे कई लोगों ने अपनी भागीदारी को बार बार अर्थपूर्ण बनाया है।

dfork %&

हिंदी कविता में झारखंड का जो आदिवासी नाम सर्वाधिक जाना–पहचाना बन चुका है, वह है संताली कवयित्री निर्मला पुतुल का। उनकी कविता पुस्तक 'नगाड़े की तरह बजते' शब्द बहुत चर्चा में रही है। रामदयाल मुंडा के दो कविता संग्रह भी हिंदी में खासे चर्चित हुए हैं– 'नदी और उसके संबंधी तथा अन्य गीत' और 'वापसी, पुनर्मिलन और अन्य गीत'। उनकी परवर्ती कविताओं में प्र.ति और मनुष्य के आदिम राग–विराग की जगह राजनीति और समाज की विसंगतियों ने ले ली है। 'कथन शालवन के अंतिम शाल का और विकास का दर्द जैसी उनकी कविताएं उजाड़ बनते आदिवासी

साहित्य की व्यवथा–कथा और विसंगतियों को उकेरती हैं। ग्रेस कुजूर, मोतीलाल, और महादेव टोप्पो की कई कविताएं भी प्रभावी रही हैं।

भले ही आदिवासी समाज वैश्वीकरण के चमकते दर्पण में अपना रूप ग्रहण नहीं कर पाता परंतु महिला सशक्तिकरण की नीति उन्हें एक दरजा ऊपर स्थान प्राप्त कराने में सक्षम है, जो कि तथाकथित सभ्य और मुख्यधारा के समाज के लिए पथप्रदर्शक का कार्य कर सकता है। इस संदर्भ में संस्कृत की यह उक्ति सार्थक है कि, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' अर्थात जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं। यदि शेष भारत मे नारियों के प्रति क्रांतिकारी बदलाव आधुनिक या कि उत्तर आधुनिक समाज की देन है तब आदिवासी समाज में यह परम्परागत उत्स के रूप में प्राप्त है। जब एक तरफ भूमंडलीकरण के दौर में सामंती विचारधारा की धज्जियाँ उड़ाती मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, उषाप्रियवंदा, मन्नू भंडारी इत्यादि नारी लेखिकाएँ है, तो दूसरी तरफ निर्मला पुतुल की यह कविता है, जिसमें पुरूष मानसिकता की पोल खुल जाती है– ''क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए/एक तकिया/कि कहीं से थका–माँदा आया/और सिर टिका दिया/कोई खूंटी/कि ऊब उदासी थकान से भरी/कमीज उतारकर टाँग दी/या आँगन में तनी अरगनी/कि घर–घर के कपड़े लाद दिए/कोई घर/कि सुबह निकला/शाम लौट आया?'' (साहित्य अमृत',संपादक, त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, मई 2011, वर्ष 16, अंक 10, पृष्ठ–66)

समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले प्रमुख कवियों में हैं– मदन कश्यप, कवि लालसिंह बोयपाई, रवि गौड, महादेव टोप्पो, हरीराम मीणा, रामदयाल मुंडा, ग्रेस कुजूर, निर्मला पुतुल, रणेन्द्र, विनोद कुमार शुक्ल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, एकांत श्रीवास्तव आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को पहचाने की बात कही है। और आदिवासी कविता के खिलाफ हो रहे इस सारे षड्यंत्र को समकालीन कविता अपना विषय ही नहीं बनाती बल्कि उनके खिलाफ प्रतिरोध की एक जमीन तैयार करने का काम करती है।

कवि लालसिंह बोयपाई 'सारंडा वन' कविता में झारखंड के सौंदर्य– उसके वनों के सौष्ठव और समृद्धि का वर्णन करते नहीं अघाते कवि को झारखंड स्थित खजाने का आभास और एहसास दोनों है। विदेशी कंपनियों सूंघकर इन खजानों की टोह लगा लेती रही है। इसलिए कवि कहते हैं–''सात सौ फुट ऊंची चोटी वाली पहाड़ियों की श्रृंखलाएं। एक से बढ़कर एक खड़ी हैं। उनपर खनिज लदा। हर पहाड़ी में खनिज भर है। खनिज संपदाओं का खजाना। यह सारंडा वन है।''(युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता पृ. 7)

विस्थापन आदिवासियों की बहुत ही प्रमुख समस्या है। इसकी झलक हमें मदन कष्यप की कविता 'आदिवासी' में देखने को मिलती है – '' बस अपना यह जंगल नदी पहाड़ हमें दे दो/हम इन्हें निचोड़ कर देश को आगे ले जाएँगे/दुनिया में अपनी तरक्की का मादल बजाएँगे/और यदि बचे रहे तो तुम्हें भी नाचने–गाने के लिए बुलाएँगे।''(मदन कष्यप, http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=1889&pageno=[1])

"ओ रे/मानवता के आदिम नुमाइंदों/तुम जंगली ढ़ोर गँवार हो/एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की/रोपना होगा, मुख्यधारा की उर्वरा भूमि पर।"(हरिराम मीणा,अंडमान आदिवासियों को सभ्य बनाने की सलाह',सुबह के इंतजार' काव्य संग्रह", पृष्ठ सं. 41–42)

रवि गोंड आदिवासी कविता के क्षेत्र में उभरता हुआ नाम है। ''आदिवासी अभिव्यक्ति और आदिवासी संवेदना की लंबी कविता'' लिखी जो कि 60 पृष्ठों की है।''वह कहता है –'''मैं इतिहास हूं/मुझे भुलाने की कोशिश/स्वयं के अस्तित्व को भुलाना होगा/ मैं तुम्हारा इतिहास हूं।''(रवि गोंडःअनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015)

आदिवासियों का अस्तित्व संकट के साथ पहचान की भी समस्या निरंतर बढ़ती जा रही है। सवर्ण लोग उन्हे सामान्य मनुष्य के तौर पर नहीं बल्कि जंगली, वनवासी, असभ्य और संविधान में आरक्षित मनुष्य के रूप में ही परिभाषित करते हैं। आदिवासी समाज की इस विडंबना पूर्ण स्थिति को

महादेव टोप्पो की कविता 'त्रासदी' अभिव्यक्त करती है.–''"इस देश में पैदा होने का/मतलब है–/आदमी का जातियों में बंट जाना/और गलती से तुम अगर हो गए पैदा/जंगल में/तो तुम कहलाओगे/आदिवासी–वनवासी–गिरिजन/वगैरह–वगैरह/आदमी तो कम से कम/कहलाओगे नहीं ही।" (रमणिका गुप्ता,'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' पृष्ठ सं. 49)

डॉ. मंजू ज्योत्स्ना ने 'ब्याह' कविता के माध्यम से एक आदिवासी स्त्री को अपने माता–पिता का घर छोड़ दूसरे के घर जाने के बाद की पीड़ा को व्यक्त करती है। ससुराल में लड़कियों के साथ शोषण, अत्याचार, दहेज के लिए जलाना, खेत और घर को संभालना और यह सब बुधनी, मंगरी, सोमरी जैसी पीड़ित सहेलियों के उदाहरण देखे हैं। वह ऐसे पुरुष जाति का विरोध करती है जो स्त्री को सिर्फ चूल्हा और बिस्तर के माफिक समझता है। वह कहती है–''"पिता मेरी शादी मत करना/मैंने देखी है–बुधनी की जिंदगी/बाल बच्चे सँभाल खेत में खटती है/उसका मर्द साँझ, सवेरे, रात/मारता है कितना।(आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी– सं. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन,संस्करण,2008. पृष्ठ सं–98)

महाराष्ट्र में कुल 47 आदिवासी जनजातियाँ पायी जाती है। अन्य राज्यों तक तरह यहां भी आदिवासियों की जिंदगी बहुत ही दयनीय है। स्वतंत्रता के 69 साल बाद भी अपनी आदिम अवस्था में जी रही है। सह्याद्री, सातपुडा, गोंडवाना में यही परिलक्षित होता है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार और सभ्य समाज द्वारा उपेक्षा का व्यवहार झेलते आदिवासी अब अपनी प्रगति के लिए चिंतन करने लगे हैं। महाराष्ट्र में आदिवासी लेखकों द्वारा वेदना और विद्रोह का साहित्य अच्छी मात्रा में लिखा जाने लगा है। भुजंग मेश्राम, वाहरु सोनवणे, डॉ. विनायक तुमराम, वामन शेडमाके, नेताजी राज गडकर, उषा किरण आत्राम आदि कुछ प्रमुख नाम हैं। विनायक तुमराम कविता के माध्यम से आशावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। वे अपने काव्य के माध्यम से एकलव्य से बातचीत करते हैं और एकलव्य के साथ हुए अन्याय को वह अपनी कविता के माध्यम से मुखरित करते हुए कहते हैं –''"मित्रवर तुम्हारे तरकश में/तड़पने वाले तीक्ष्ण तीर से/ करुंगा मैं क्रांति, बनाऊंगा क्रांति की मशाल/तुम्हारे अंगुठे से बहे रक्त से लिखूंगा मृत्युलेख।"(आदिवासी साहित्य यात्रा– संपा. रमणिका गुप्ता, संस्करण, 2008,पृष्ठ सं. 60)

उपर्युक्त के अतिरिक्त अरुण कमल की कविता 'तमसो मा ज्योर्तिगमय',(आदिवासी केंद्रित हिंदी साहित्य–सं. ऊषा कीर्ति राणावत, पृ.148), वाहरु सोनवणे की 'स्टेज (आदिवासी स्वर और शताब्दी–रमणिका गुप्ता, पृ. 101), लक्ष्मण सिंह कावडे की 'आज भी वैसी'(आज भी वैसी–लक्ष्मणसिंह कावडे), महादेव टोप्पो की 'सबसे बड़ा खतरा'(आदिवासी स्वर और शताब्दी–रमणिका गुप्ता, पृ. 50) भी बहुत अच्छी कविताएं हैं। नन्हें सरिता बड़ाइक का कविता संग्रह 'सपनों का सुख' (रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली) बहुत ही अच्छा काव्य संग्रह है।

dgkuh %&

प्यारा केरकेट्टा (3 जून 1903 – 25 दिसंबर 1973) का झारखंडी समाज के शैक्षणिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में प्यारा केरकेट्टा का योगदान अद्वितीय है। उन्होंने बेरथा बिहा कहानी लिखकर खड़िया भाषा में आधुनिक शिष्ट साहित्य की शुरुआत की। वाल्टेर भेंगरा के कहानी संग्रह 'देने का सुख' और 'लौटती रेखाएं' प्रकाशित हुए हैं। अस्सी के दषक में पीटर पाल एक्का के 'खुला आसमान बंद दिशाएं', 'परती जमीन' और 'सोन पहाड़ी' तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हुए। 'शंख नदी भरी गेल' जेम्स टोप्पो का कहानी संग्रह है। मंजु ज्योत्ना का कहानी संग्रह 'जग गयी जमीन' भी अच्छा कहानी संग्रह है। एलिस एक्कां की कहानियां 'आदिवासी' पत्रिका में प्रकाशित हुई। आदिवासी भाषाओं के अनुवाद के क्षेत्र में रोज केरकेट्टा ने प्रेमचंद की दस कहानियों का अपनी मातृभाषा खड़िया में अनुवाद किया तथा 'भंवर' उनकी बहुत ही मजबूत कहानी है। ''आदिवासी कहानियाँ'' कहानी संग्रह, केदारनाथ मीणा का अलक प्रकाशन, जयपुर से प्रकाशित अच्छा कहानी संग्रह है।

miU;kl %&

14 भागों में प्रकाशित इनसाक्लोपीडिया मुंडारिका को आज समूची दुनिया जानती है, परंतु बहुत कम लोगों को मालूम है कि अगर मेनेस राम नहीं होते तो फादर जौन हौफमैन इस विश्वविख्यात

पुस्तक की रचना नहीं कर पाते। मेनेस राम ओड़या का जन्म 1883 ई. में बुरुरमा गांव में हुआ था। मुंडारी कथा–साहित्य में मेनेस राम ओड़ेया की प्रकाशित पुस्तक 'मतुराअ कानि' मुंडा जाति के जीवन का औपन्यासिक कोश है। यह उपन्यास पांच भागों में प्रकाशित है और मुंडा जीवन, समाज एवं संस्कृति की एक ऐतिहासिक कृति के रूप में लोकप्रिय है। आपका निधन 1968 में हुआ। (http:// adivasivimarsh.blogspot.in)

देवेंद्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिए' (1950) उपन्यास आदिवासी समाज एवं उनकी विस्थापन की समस्या को समाज के सामने रखता है।

सन् 1954 में आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रकाशित होने वाला फणीशवरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' से हिंदी में एक नई उपन्यास पम्परा की शुरुआत होती हैं। 'मैला आँचल' वैसे तो आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध है लेकिन इसमें संथाल आदिवासी समाज की समस्याओं को चित्रित किया गया हैं।

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ'(1958) उपन्यास में राजस्थान के ब्रज प्रदेश की सीमा पर स्थित बैर क्षेत्र के नट आदिवासियों के सामजिक–सांस्कृतिक परिवेश को यथार्थ के साथ चित्रित किया है। रांगेय राघव का 'धरती', राजेंद्र अवस्थी का 'जंगल के फूल'(1960) तथा 'सूरज किरण की छाँव' इस समय के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं ।

शिवप्रसाद सिंह के 'शैलूष'(1989) उपन्यास में मिर्जापुर–विंध्याचल क्षेत्र में जीवनयापन करनेवाली खानाबदेश आदिवासी नट जाति के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश के साथ–साथ उनके जीवन संघर्ष का चित्रण किया गया है ।

श्री प्रकाश मिश्र के 'जहां बांस फूलते है ' (1997) उपन्यास में मिजोरम के आदिवासी संघर्ष की कथा का वर्णन किया गया है, जो श्री प्रकाश मिश्र के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर है। मनमोहन पाठक का 'गगन घाटा घहरानी' एक महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक .ति है जो सन् 1991 में 'कतार' पत्रिका के वार्षिक विशेषांक में प्रकाशित हुआ।

संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास आदिवासी धारू जाति और डाकुओं एवं राजनीतिज्ञों के आपसी लड़ाई को प्रदर्शित करता है। समकालीन हिंदी कथा साहित्य में 'संजीव' का नाम अग्रणीय पंक्ति में आता है। संजीव ने अपने साहित्य में किसी ग्रामीण, अंचल विशेष के आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं उनके जीवन संघर्ष को उनकी ही ग्रामीण, देशज भाषा में चित्रित किया है। 'पांव तले दूब' के केंद्र में झारखंड का पंचपहाड़ अंचल के आदिवासियों के अस्तितत्व, अस्मिता के इर्द–गिर्द विकसित और गुंफित हुई एक बेबाक कथा है। 'धार' एवं 'सावधान नीचे आग है' उपन्यासों में एक नई भूमि की तलाश है । 'सावधान नीचे आग है' में कोयला अंचल में मजदूरी करनेवाले आदिवसियों का जीवनसंघर्ष यथार्थ के रूप में हमारे सामने आता है।

वीरेंदर जैन के 'पार' उपन्यास में विस्थापन की समस्या से संघर्ष करती हुई राउत जनजाति का जीवनसंघर्ष का चित्रण उपन्यासकार ने बेखुबी से किया है।

झारखंड के पीटर पॉल एक्का द्वारा रचित 'जंगल के गीत' में कथावस्तु आदिवासी प्रेमी युगल के इर्द–गिर्द घूमती है फिर भी आंचलिक, प्राकर्तिक, आदिवासी संस्कृति के अन्य पक्षों तथा जीवन के अन्य प्रसंग भी अभिव्यक्त हुए है।

मंगल सिंह मुंडा का 'छैला संदु' का कथानक एक प्रेम कहानी पर आधारित है।
'लौटते हुए' वाल्टर भेंगरा 'तरुण' का उपन्यास है । इस .ति में झारखण्ड अंचल की एसी महिलाओं के दु:ख व शोषण को अभिव्यक्ति दी गई है जिन्हें रोजगार की तलाश में दूरस्थ महानगरों एवं अन्य राज्यों की और पलायन करना पड़ता है ।

मैत्रेयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' (2000) में प्रकाशित उपन्यास में बुंदेलखंड की कबूतरा आदिवासियों के जीवन त्रासदी का चित्रण किया है। लेखिका ने आदिवासी समाज के अन्तर्विरोध, जीवनसंघर्ष और विस्थापन की गहरी समस्या को उठाया है ।

तेजिन्दर का 'काला पादरी'(2000) उपन्यास में दो संस्कृतियों की टकराहट से पैदा होने वाली जटिलताओं का खूबसूरत चित्रण हुआ है । इस उपन्यास के केंद्र में धर्मांतरण है और प्रमुख आदिवासी पात्र अपने परम्परागत धर्म को छोड़कर ईसाई बन जाता है । धर्मांतरण के जरिए सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करना नहीं है । इसका लक्ष्य उन लोगों को अपने धर्म के अंतर्गत लाना है।

रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2013) में प्रकाशित बहुत ही चर्चित उपन्यासों में से एक है। इसमें आदिवासी जीवन की प्रमाणिक, संतुलित एवं व्यवस्थित उपस्थिति प्रस्तुत की गई है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखंड के आदिवासी असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष का दस्तावेज कह सकते हैं। वैदिक साहित्य से शुरू होकर, रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों में निर्मित असुरों की यह छवि एक और उसके समुदाय और जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है। वैदिक काल में आर्यों ने असुरों को राक्षस, दैत्य, दानव कहा उपनिवेशकाल में अंग्रेजों ने असभ्य, अधार्मिक व जन्मना अपराधी घोषित किया, आजादी के बाद देश की वर्तमान सरकार नक्सलवादी, माओवादी कहकर उनका शोषण कर रही है।

हरिराम मीणा ने राजस्थान के बांसवाडा अंचल में निवास करनेवाली भील एवं मीणा जनजाति को केंद्र में रखकर 'धूणी तपे तीर, उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास में राष्ट्रिय आंदोलन में आदिवासियों के योगदान को हमारे सामने रखता है।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' का केन्द्र पात्र हारिल जैसे उन सैकड़ों युवाओं को श्रद्धाजंलि देता है जिनका नाम इतिहास के पन्नों पर दर्ज नहीं है।

मणि मधुकर के उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना'में राजस्थान के रेगिस्तान क्षेत्र में यायावर जीवन जीनेवाले गाड़िया लुहारों के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश का गहराई से जीवंत चित्रण किया है। मणि मधुकर ने 'पिंजरे में पन्ना' में पन्ना और रम्या में जिस चेतना को पिरोया है उसका अभी तक पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। नारी विमर्श के इस दौर में ग्रामीण, पहाड़ी, जनजातीय, आंचलिक नारी आज भी उपेक्षित है।

हिमांशु जोशी का 'अँधेरा और' उपन्यास में थारू आदिवासियों के जीवन संघर्ष का नग्न यथार्थ देखने को मिलता है। इसमें आदिवासियों का पुलिस–जमींदारों द्वारा किया जानेवाल शोषण चित्रित हुआ है। शोषण के केंद्र में नारी है । पुलिस–जमींदारो के खिलाफ संघर्ष करने वाला पात्र परसिया सशक्त, प्रतिरोधी, विद्रोही एवं जीवंत पात्र बनकर समाज के सामने आता है जो शोषित समाज के लिए एक प्रेरणा बन जाता है।

उपन्यास लेखन के क्षेत्र में हेराल्ड एस. टोपनो के 'अधूरे' उपन्यास को पढ़ते हुए एक विस्फोटक संभावनाओं का साक्षात्कार होता है। आठवें दशक में आदिवासी कलम का हिंदी उपन्यास आया 'सुबह की शाम' जिसकी रचना वाल्टसर भेगरा ने की। ये उपनाम 'तरूण' से भी लिखते थे। सत्य भारती प्रकाशन, रांची से तीन उपन्यासों–'तलाश','गैंग लीडर' और 'कच्ची कली' का प्रकाशन दसवें दशक में हुआ।

वरिष्ट उपन्यासकार पीटर पाल एक्का का 'जंगल के गीत' उपन्यास पर्याप्त रूप से चर्चित रहा है। उन्होंने इस उपन्यस के माध्यम से 'महान बिरसा' के उलगुलान के संदेश को सामयिक संदर्भ में तुंबा टोली गांव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के कथोपकथन के जरिए प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास से पहले उनका एक और उपन्यास 'मौन घाटी' भी प्रकाशित हो चुका है।

शरद सिंह का उपन्यास 'बेडनी' भी मध्य प्रदेश की बेड़िया जनजाति पर आधारित बहुत ही अच्छा उपन्यास है।

vkykpukRed lkfgR; %&

विगत दशक में आदिवासी साहित्य पर बहुत से आलोचनात्मक ग्रंथ आए है। आदिवासी दुनिया, आलेख, हरिराम मीणा का नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली से प्रकाशित अच्छा आलोचनात्मक ग्रंथ है। इस पुस्तक में आदिवासियों की भाषा, इतिहास और मिथकों इत्यादि पर आलेख है। इस

पुस्तक में सभी आदिवासी जातियों की गोत्र समेत सूची भी दी गई है। ''आदिवासी साहित्य विमर्श' गंगा सहाय मीणा, द्वारा संपादित आलोचनात्मक पुस्तक हैं जो कि अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह के संपादन में तीन ग्रंथों का सेट 'वंचित संवेदना का साहित्य'' नाम से आकांक्षा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली से 2014 में प्रकाशित किया गया । इसके तृतीय खंड 'वंचित संवेदना का साहित्य, आदिवासी विमर्श'' में कुल 25 रचनाकारों के लेख शामिल किए गए हैं।'' आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना''रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस किताब में पूर्वोत्तर और पूरे आदिवासी साहित्य की विवेचना की गई है। इसमें उनकी रचनाओं का प्रयोग किया गया है। डॉ. फिरोज अहमद द्वारा वाड़मय प्रकाशन, अलीगढ़ से आदिवासी आलोचना के लगभग बीस ग्रंथ प्रकाशित किए जा चुके हैं।

milagkj %&

सवर्णों ने कभी भी अपने ग्रंथों में दलित समुदायों को जगह नहीं दी और यही कारण हैं कि दलित, आदिवासी के लोगों को आज भी अपनी प्राचीन संस्कृति के बारे में बहुत ज्यादा नहीं पता है। समकालीन सवर्ण लेखकों के दृश्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन आया है और वे भी अपनी लेखनी वंचित संवेदनाओं को उकरने के लिए चला रहे हैं। ये समय की मांग के कारण भी हो सकता है क्योंकि प्राचीन साहित्य परंपराओं, स्वरूप आदि में बहुत परिवर्तन आ चुका है और जो समय के साथ नहीं चलेगा वह पिछड़ जाएगा। आज वंचित समाज की पीढ़ी शिक्षा की ओर उन्मुख होते हुए न सिर्फ अपने वर्तमान को लिपिबद्ध कर रही है बल्कि प्राचीन पंरपराओं की भी खोज कर रही है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है आगामी पीढ़ियों को अपने जड़े तलाशने के लिए सवर्णों द्वारा लिख गए ग्रंथों का मुंह नहीं देखना पड़ेंगा।

lanHkZ %

1. मंगलेश डबराल,नये युग में शत्रु,2013 पृ.सं. 16
2. आदिवासी साहित्य–http://www.lakshyacompetition.com
3. http://www.prabhatkhabar.com/news/46951 & story. html
4. साहित्य अमृत',संपादक, त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, मई 2011, वर्ष 16, अंक 10, पृष्ठ–66
5. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता पृ. 7
6. मदन कश्यप, http://www.hindisamay.com/contentDetail. aspx?id = 1889 – चंहमदवत्र1
7. हरिराम मीणा,अंडमान आदिवासियों को सभ्य बनाने की सलाह',सुबह के इंतजार' काव्य संग्रह", पृष्ठ सं. 41–42
8. रवि गोंडःअनंग प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 2015
9. रमणिका गुप्ता,'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' पृष्ठ सं. 49
10. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी– सं. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन,संस्करण,2008. पृष्ठ सं–98
11. आदिवासी साहित्य यात्रा– संपा. रमणिका गुप्ता, संस्करण, 2008,पृष्ठ सं. 60
12. आदिवासी केंद्रित हिंदी साहित्य–सं. ऊषा कीर्ति राणावत, पृ.148
13. आदिवासी स्वर और शताब्दी–रमणिका गुप्ता, पृ. 101
14. आदिवासी स्वर और शताब्दी–रमणिका गुप्ता, पृ. 50
15. http:// adivasivimarsh . blogspot.in
16. तेजिन्दर. काला पादरी. नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2010.
17. राकेश कुमार सिंह. जो इतिहास में नहीं है, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2005 ,पृष्ठ 35
18. रणेंद्र. ग्लोबल गाँव के देवता. नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009.
19. हरिराम मीणा. धूणी तपे तीर.दिल्ली, साहित्य उपक्रम, 2008.

****

tk i:d'fr d: lcl: fudV g!

/khj:Un: fl:g*

समकालीन साहित्य में जहाँ कविता के नाम पर शब्दों का भ्रमजाल फैलाया जा रहा है, वहीं आदिवासी कवि अपनी कविताओं में आज के कठिन समय की जाँच–पड़ताल व मूल्यांकन पूरी ईमानदारी, सच्चाई और शिद्दत के साथ करते नजर आ रहे हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में ज्यों–ज्यों वैश्वीकरण का प्रभाव बढ़ रहा है ,वहीं आदिवासी समाज दो तरफा मार झेलने को अभिशप्त है। एक ओर अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी, अंधविश्वास आदि हैं,तो दूसरी ओर दमनकारी बाह्य शक्तियों ने सांस्कृतिक विनाश से लेकर उनके उत्पीड़न, दमन, विस्थापन तक की पीठिका गढ़ दी। मंगलेश डबराल तो यहाँ तक कहते हैं कि उन्हें मनुष्य की श्रेणी तक में नहीं गिना जाता है 'नये युग में शत्रु' कविता संग्रह मनुष्य की असंवेदनशीलता का ज्वलंत प्रमाण है – 'अखबारी रिपोर्टें बतलाती हैं कि जो लोग उस पर शासन करते हैं / देश के 636 में से 230 जिलों में / उनका उससे मनुष्यों जैसा कोई सरोकार नहीं रह गया है। उन्हें सिर्फ उसके पैरों तले की ज़मीन में दबी हुई। सोने की एक नयी चिड़िया दिखायी देती है।''[1]

आदिवासियों के प्रति तथाकथित मुख्यधारा के समाज का दो तरह से दृष्टिकोण देखने को मिलता है। पहला विचार यह मानता है कि आदिवासी मुख्यधारा का हिस्सा नहीं है, जो प्राचीन और काफी पिछड़ा है। मुख्यधारा आदिवासी में रोमांस और रोमांच देखते हैं। रोमांसवादी मानसिकता का मानना है कि आदिवासी बहुत सुखी हैं। प्रकृति के अधिक नजदीक हैं, उनकी संस्कृति काफी खुली हुई है। दूसरी मानसिकता वाले उन्हें गैर सांस्कृतिक व पिछड़ा हुआ मानते हैं। जबकि आदिवासी समाज कई मायनों में तथाकथित सभ्य समाज से बहुत आगे है जैसा कि आदिवासी जीवन और संस्कृति में स्त्री का स्थान बहुत ऊँचा है। उसे चल–अचल संपत्ति में हिस्सा व हक मिलता है। प्रकृति के संरक्षण व संवर्धन की जिम्मेदारी आदिवासियों से अधिक किसे मालूम है। इसीलिए वे प्रकृति के सबसे निकट जान पड़ते हैं। विनोद कुमार शुक्ल प्राकृतिक संसाधनों पर प्रथम दृष्टया आदिवासियों के ही हक में समर्थित दीखते हैं। साथ ही आदिवासियों को विस्थापन की विभीषिका के प्रति सचेत भी करते हैं। विस्थापन आदिवासियों की मूल समस्या है। सरकारें व कार्पोरेट घरानों की साठ–गाँठ ने कितनों को अपने मूल से ही अलग कर, खाना बदोश जीवन जीने के लिए मजबूर किये हुए हैं। विनोद कुमार शुक्ल 'कभी के बाद अभी' कविता संग्रह में आदिवासियों के जीवन संघर्ष को चित्रित करते हैं– ''जो प्रकृति के सबसे निकट हैं। जंगल उनका है। आदिवासी जंगल के सबसे निकट हैं। इसलिए जंगल उनका है। अब उनके बेदखल होने का समय है। यह वही समय है। जब आकाश से पहले एक तारा बेदखल होगा। जब पेड़ से / पक्षी बेदखल होगा। आकाश से चाँदनी बेदखल होगी। जब जंगल से आदिवासी बेदखल होंगे।''[2]

विस्थापन के कारण आदिवासी आज भी पिछड़े हुए हैं और विस्थापन कराके पूंजीपति वर्ग मलाई काट रहा है। माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने आदिवासियों की बड़ी आबादी का विकास योजनाओं के कारण हुए विस्थापन पर टिप्पणी की है–'' भारतीय राज्य दशकों तक विकास की परियोजनाओं से

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.।

उखड़े लोगों को जीविका के वैकल्पिक साधन उपलब्ध कराने में नाकाम रहा है। एक अनुभव के मुताबिक 1950 से 1990 के बीच विकास परियोजनाओं के कारण अनुसूचित जनजातियों के 85 लाख लोग विस्थापित हुए। यह कुल विस्थापित हुए लोगों का 40 प्रतिशत हिस्सा है। इनमें से केवल 25 प्रतिशत लोगों का ही पुनर्वास हो पाया।''[3]

आदिवासी समुदाय प्रकृति से गहरे स्तर पर जुड़ाव रखता है। किन्तु भूमंडलीकरण के इस समय में आदिवासी समाज के सामने अपनी पहचान व अस्तित्व का ही संकट गहराता जा रहा है, उन्हें जल, जंगल, जमीन से अलग करने का प्रयास हो रहा है। किसी भी समुदाय को जबरदस्ती मूल स्थान, मूल भाषा व मूल पहचान से अलग किया जाएगा तो उस समय समाज में असुरक्षा की भावना पनपेगी, स्वयं के अस्तित्व व अस्मिता को बनाये रखने के लिए मनुष्य संघर्ष करता है, और यही संघर्ष एक तय सीमा के बाद आन्दोलित होकर विकराल रूप धारण कर लेता है। जिसमें वह अपने शोषण के प्रति विरोध दर्ज कराता है। हरिचरण अहरवाल की कविता 'तुम क्या समझते हो' इसी आक्रोश की अभिव्यक्ति है– ''इसलिए हम तुम्हारी दूषित वायु से दूर ही रहते हैं। पर ये मत भूलो कि हमें याद नहीं है शहर का रास्ता /किसी दिन बाढ़ आयेगी विचारों की हमारे/ तो सब कुछ हमारा होगा।''[4]

दरअसल स्वभाव से आदिवासी बहुत सरस व भावुक होते हैं। वे अपने साथ हो रहे राजनैतिक प्रवंचना को समझ नहीं पाते। उनके विरूद्ध सत्ता व पूंजीपति– वर्ग द्वारा किया जा रहा षड़यंत्र भी सहज ही लगता है, किन्तु अब उनकी चेतना कुछ हद तक उन्हें पहचानने लगी है। निर्मला पुतुल उन बाह्य ताकतों से अपने लोगों को सचेत रहने के लिए कहती हैं– '' इन खतरनाक शहरी जानवरों को/पहचानों चुड़का सोरेन/पहचानों/पांव पसारे जो तुम्हारे ही घर में घुसकर बैठे हैं/तुम्हारे भोलेपन की ओट में/इस पेचदार दुनिया में रहते/तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन?''[5]

आज समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि आदिवासियों का न जंगल रहा और न ही वे शहर में अनुकूलित हो पा रहे हैं। चूँकि शहरी जिंदगी के वे आदी नहीं रहे हैं। बल्कि यह कहें कि शहर उनके लिए मुनासिब नहीं है, क्योंकि साधारण पढ़े लिखे व्यक्ति को आज नौकरी कहाँ मिल पा रही है। असुरक्षा की भावना उनमें पनप रही है। उनके सामने यह यक्ष प्रश्न सुरसा की तरह मुँह फैलाए खड़ा है कि जाएं तो जाएं कहाँ वे आशंकित हैं अपने भविष्य को लेकर तथा अपने अस्तित्व के लिए वे संघर्षशील हैं– ''खड़–खड़ की धीमी आवाज वहाँ सुनाई देगी/ जहॉ बाहरी कोई नहीं पहॅुच सकता/लगेगा गौर–जंगली भैंसों का झुंड है/पर वे उनके सींग लगाये आदिवासी होंगे/चुपचाप नाचते रहने के लिए/इकट्ठे हो रहे होंगे/ खड़–खड़ की आवाज/वेशभूषा की होगी/ जब वे नाचेंगे तो पैरों से दबकर/पत्तों के चरमराने की आवज भी नहीं होगी।''[6]

वर्तमान दौर विमर्शों का है, जिसमें अनेक विमर्श अपनी दिशा व दशा की सम्यक पड़ताल कर रहे हैं। उत्तर–आधुनिक विमर्शों ने समाज के निचले तबकों को उठने एवं अभिव्यक्ति की आजादी प्रदान की। इसलिए आज की यह आवश्यकता है कि आदिवासी समाज अपनी संस्कृति, अस्मिता और जीवन सत्य को पहचानकर आगे आए और अपने अधिकार एवं जीवन को एकीकृत कर अपना विकास करें। डॉ. विनोद कुमार विश्वकर्मा आदिवासी समाज को अपने अधिकारों के प्रति सजग करते हैं– ''अपने ही घर में/अपमानित–पीड़ित–शोषित/शिक्षा और मौलिक अधिकार से विहीन/अपनी पहचान छुपाए/सशंकित और अभिशप्त जीवन जी रहे हम/अपनी संस्कृति अपनी भाषा और अपने व्यवहार/के लिए पीड़ित/अस्मिता विहीन आखिर कब तक? .... हमनें भी दिया है अपना बलिदान/ अब हमें और दरकिनार नहीं किया जा सकता।''[7]

आदिवासी समाज मातृसत्तात्मक रहा है। जिस हक की वकालत भारतीय संविधान लगभग सात दशक से कर रहा है किन्तु आज भी वह साकार नहीं हो पाया है। यह समाज अपनी रूढ़िवादिता और अंधविश्वास के कारण आज भी पिछड़ा हुआ है, तथा बाहरी घुसपैठ होने से इसकी स्थिति बद से बदतर हो गयी है। जिसे प्रबुद्ध वर्ग को समझना चाहिए। आदिवासी स्त्री अपनी पीड़ा, दुःख, दर्द व त्रासद पूर्ण स्थिति को व्यक्त करने का सार्थक हथियार अब कलम मानने लगी है। वाहरू सोनवणे

आदिवासी स्त्री की संवेदना को प्रस्तुत करते हैं– ''जवानी में वेश्या, बुढ़ापे में डायन ऐसे ही कहते हैं लोग/एक ऐसी चीज जिसे घाट में बांट में/ जहां मिले थाम लो, जब भी चाहे अंग लगा लो/ पूरी हुई हबस तो, त्याग दो, चीख न पुकार।''[8]

आदिवासी समाज आज अनेक तरह से संक्रान्त है उस पर समाज की बहुत सारी विसंगतिपूर्ण स्थितियाँ नजर गड़ाई हुई हैं। इसी विसंगतिबोध स्थिति का चित्रण केदार प्रसाद मीणा ने अपने एक लेख में किया है– ''आदिवासी समाज का शोषण कई तरीके से किया जाता रहा है। कभी महाजनी शोषण, जमीदारी शोषण सबसे बड़ी समस्या थी। आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा इनके संसाधनों की लूट, सरकारों द्वारा बनाई जाने वाली आदिवासी विरोधी नीतियाँ, भ्रष्ट आदिवासी अधिकारी वर्ग, बड़ी राजनीतिक पार्टियों और माफिया के इशारों पर इस्तेमाल हो रही आदिवासी राजनीति इसकी बड़ी समस्या बनी हुई है। इसके अलावा एक बहुत खूबसूरत समस्या और है। सोमेश्वर मुण्डा जयपाल सिंह मुण्डा की प्रतिभा और ताकत का इस्तेमाल कर निकल भागती है। इसी तरह अनिल पोद्दार आदिवासी लड़कियों से प्रेम करता है, उनका विश्वास जीतता और छत्तीस झूठी शादियां करके आदिवासियों की संपत्ति हड़प लेता है।''[9]

आदिवासी साहित्य मुख्यतयः प्रतिरोध का सहित्य है इसमें जीवन, यथार्थ, श्रम, उत्पीड़न, शोषण, अभाव, उपेक्षा और अन्याय के प्रति अपना विरोध दर्ज कराया गया है, आदिवासी साहित्य समकालीन अन्य साहित्य से इस बात में भी विरोध दर्ज कराता है कि उसमें जीवन संदर्भों को तरीकों से प्रस्तुत किया जाता है, जबकि आदिवासियों का अपना, जीवनानुभव अलग है। 'घायल की गति घायल जानै' की उक्ति आदिवासी साहित्य का प्रस्थान बिन्दु है। आज विस्थापन, असभ्य वर्बर, जंगली, आदि विशेषणों पर आदिवासी समाज अपनी असहमति व्यक्त करता है। वाहरू सोनवणे की कविता 'स्टेज' से आदिवासी अभिव्यक्ति की अनिवार्यता को समझा जा सकता है– ''हम मंच पर गए ही नहीं / और हमें बुलाया भी नहीं/उंगली के इशारे से/हमें इपनी जगह दिखाई गई/ हम वहीं बैठ गए/ हमें शाबासी मिली/ और वे मंच पर खड़े होकर/ हमारा दुःख हमसे ही कहते रहे/ हमारा दुःख हमारा ही रहा/ कभी उनका नहीं हो पाया।''[10]

सामयिक हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले अनेक कवि हैं जिनकी लेखनी द्वारा हाशिए के समाज की पीड़ा को समझा जा सकता है। उनमें विनोद कुमार शुक्ल, रामदयाल मुण्डा, महादेव टोप्पो, ग्रेस कुजूर, निर्मला पुतुल, हरीराम मीणा, केदार प्रसाद मीणा, अनुज लुगुन, रणेन्द्र, रोज केरकट्टा आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने अपनी लेखनी द्वारा आदिवासी अस्तित्व व अस्मिता को पहचानने की बात कही है, साथ ही उनके खिलाफ हो रहे षड़यंत्र का पर्दाफाश कर उसे निर्मूल करने पर बल दिया है। महाराष्ट्र का कवि वामन शेलमाके अपनी कविता मुक्तिचा संदर्भ (मुक्ति का संघर्ष) में संकल्पबद्ध दिखायी पड़ते हैं– '' पैदा तो हुआ कांटेदार पिंजरे में/ बड़ा हुआ गुलामी के अंधेरे में/पर सौगंध खाकर कहता हूँ/ तुम्हें मरने नही दूँगा/ इस बड़वाग्नि के फैलाव में/ आ रहे हैं हम/ तुम्हारी मुक्ति का संदेश लेकर।''[11]

अव्वल यह कि समाज में आदिवासी अगर अपने प्रतिरोध को लोकतांत्रिक तरीके से व्यक्त करने के पक्ष में बात करता है, तब भी उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया जाता है। जैसा कि लोकतंत्र हमें धरना देने, शान्तिपूर्वक जुलूस निकालने, हड़ताल करने की अनुमति देता है किन्तु आदिवासियों द्वारा जब भी ऐसा किया जाता है तब पुलिस कार्यवाही द्वारा उसे नृशंस तरीके से कुचल दिया जाता है। समाज में कितनी वैषम्यता व्याप्त है, आदिवासी किन परिस्थितयों में अपना जीवन–यापन कर रहे हैं, इन सबका निरूपण यह गीत करता है– ''एक तन पर सोने की तार का चेन/एक तन पर सूत का तार नहीं/ इसलिए बगावत करते हैं/ ये अन्याय हमें स्वीकार नहीं/ पूरे एकड़ में बनी हवेली, रहने वाले दो प्राणी/ दूसरी तरफ दस हाथ का घर/ दस रहते हैं/ सो सकते पैर पसार नहीं/ इसलिए बगावत करते हैं/ ये अन्याय हमें स्वीकार नहीं/ जिसने हल देखी नहीं/वो हलदार हजारों बीघे का/ और हल के लिए हस्ती मिटा रहा/ एक बीघे का हकदार नहीं/ इसलिए बगावत करते हैं/ये अन्याय हमें स्वीकार नहीं/''[12]

अस्तित्व पर गहराते संकट ने आदिवासी समुदाय को संघर्ष के लिए बाध्य किया है। चूंकि पूँजीवादी नीतियों के कारण आदिवासी अपने जल, जंगल, जमीन, और स्वजनों से अलग होते जा रहे हैं। पूँजीवादी विकासमान साम्रज्य के सम्मुख आदिवासी अपने अर्थविहीन स्वतः स्फूर्त अस्तित्व को बचाए रख पाने मे अक्षम हैं। इस गला काट प्रतियोगिता से वे वाकिफ नहीं हैं। यह समुदाय तेजी से हो रहे परिवर्तन से भ्रमित हो गया है कि उसकी एक–एक चीजें कैसे और कहाँ गायब होती जा रही हैं। आदिवासी कवि अनुज लुगुन की कविता ''गुरिल्ले का आत्मकथन'' में इसी आदिवासी जीवन संघर्ष की चिंता व्यक्त हुई है। '' इससे हास्यास्पद/ और क्या हो सकता है कि/ मेरे घर की मुर्गियां खो गयी/ सुअर दबड़ो सहित गायब हैं/ हल जोतते बैल या तो/खेत में समा गए हैं/ या खेत दब गए होंगे गोबर से/ नदी अपना रास्ता बदल कर/ गाँव में घुस गई होगी या, पूरा गाँव/गाँव सहित नदी में डूब गया है/ मैं अपने स्वजनों को खोजते हुए/ भटकता हूँ और अखबार वालों को/ विज्ञापन मिलने लगते हैं पहले से कई गुना।''[13]

विडम्बना यह कि आदिवासियों को सभी ने छला है उसका उपयोग अपने पक्ष में ही किया है। समाज के तथाकथित सुधारवादी आन्दोलनकर्ताओं को भी जब मौका मिलता है तब वे अपना असल रूप दिखाने से नहीं चूकते हैं। आदिवासियों को उसी अवस्था में बने रहने देना चाहते हैं। वर्तमान स्थिति परिस्थिति से उन्हें कुछ भी लेना देना नहीं है। आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल इस फरेब से आदिवासीजनों को होशियार रहने की बात करती हैं– '' वे नहीं करेंगे हमारी बीमारियों का जड़ से/इलाज/ देंगे सिर्फ दो –चार खुराक गोलियाँ/ तत्काल राहत भर के लिए/ ताकि पड़ती रहे हमें उनकी जरूरत/ बार–बार।''[14]

इतना सब सहन करके भी आदिवासी जहाँ कहीं भी हैं, वे अपनी संस्कृति के मूल तत्वों को बचाए हुए हैं। किन्तु अब समय आ गया है कि आदिवासी अपने जीवन पथ को स्वयं उज्ज्वलित करें। अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रति सजग हों तथा जीवन और जगत की समस्याओं से रूबरू हों। अपनी भागीदारी समाज में सुनिश्चित कर अंदर की ऊर्जा को शस्त्र बनाकर एक नई व्यवस्था खड़ी करेगा ऐसा विश्वास आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल को है– ''अक्सर चुप रहने वाला आदमी/कभी न कभी बोलेगा/जरूर सिर उठाकर/ चुप्पी टूटेगी एक दिन धीरे–धीरे उसकी/ धीरे–धीरे सख्त होंगे उसके इरादे/ व्यवस्था के खिलाफ भीतर–भीतर ईजाद करते/ कई कई खतरनाक शस्त्र।''[15]

चूंकि आदिवासी विकास के प्रत्येक स्तर पर शोषित हुआ है, इसलिए माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय के पैराग्राफ (6) में 'विकास के आंतकवाद' को कुछ इस तरह से व्याख्यायित किया है– ''आजादी के बाद विकास के जिस प्रतिमान को अपनाया गया, उसने समाज में हाशिए पर पड़े तबकों में पहले से मौजूद असंतोष को और भी ज्यादा बढ़ाया ...। नीति निर्माताओं द्वारा तय किए गए विकास के प्रतिमान को इन समुदायों पर थोप दिया गया ... इससे इन लोगों को अपूरणीय क्षति हुई । इस विकास प्रतिमान की अधिकांश कीमत गरीबों ने चुकाई, लेकिन इसके फायदों के बड़े हिस्से पर समाज के प्रभुत्वशाली तबके का कब्जा होता रहा है और गरीबों को बहुत ही कम फायदा मिला है। दरअसल, विकास इन समुदायों की जरूरत के प्रति असंवेदनशील ही रहा है। इस कारण इन्हें अनिवार्य रूप से विस्थापन का समाना करना पड़ा है। और इसने इन्हें अमानवीय जिंदगी जीने को मजबूर किया है। खासतौर पर आदिवासियों के मामले में इन सबके कारण इनके अनेक सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक पहचान और संसाधनों को नष्ट किया है... इन सबके कारण इनका शोषण और भी आसान हो गया है. विकास के तरीके और इसके क्रियान्वयन ने नौकरशाही के भ्रष्ट व्यवहार और ठेकेदारों, बिचौलियों, व्यापारियों और व्यापक समाज के लोभी तबकों द्वारा किए जाने वाले खूंखार शोषण को और भी ज्यादा बढ़ाया है जो इसके संसाधनों पर कब्जा करने और उनकी गरिमा का हनन करने पर उतारू हैं।''[16]

आदिवासी विमर्श तत्कालीन समाज का एक महत्वपूर्ण विमर्श इसलिए भी है, क्योंकि जहाँ एक ओर हम आदिवासी को विस्थापित कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर मानवता से उसका पर्यावरण

हमेशा के लिए खत्म कर दे रहे हैं। जब भी पहाड़ टूटता है, जंगल कटता है तो वह आदिवासी अस्मिता का ही प्रश्न नहीं है, अपितु पर्यावरण की दृष्टि से राष्ट्र के भविष्य निर्माण का भी प्रश्न है। वैश्वीकरण के इस दौर में अस्मितावादी विमर्शों ने अपनी सार्थक हस्तक्षेप द्वारा समाज की संरचना व परिधि से केन्द्र में आवाजाही शुरू कर दी है। यह एक सुखद पहल है किन्तु तथाकथित सभ्य समाज को अपनी शोषणात्मक प्रवृत्ति बदलनी होगी। आदिवासियों को शहरी बनाने के बजाय उनके जीवन को जल जंगल और जमीन के बीच उन्हीं के रीति रिवाजों के साथ विकसित किया जाना चाहिए। जिससे वे अपने आपको सुरक्षित व संरक्षित महसूस कर सकें। उन्हें शिक्षित, जागरूक तथा नए संस्कारों से परिचित कराना होगा। उनके प्रति संवेदनात्मक भाव रखने के बजाय उनकी भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए, जिससे मनुष्यता का भाव विकसित हो सके। आदिवासियों को किसी दूसरे ग्रह का न समझा जाये बल्कि अपने ही बीच का समझना होगा। उन्हें वे समस्त अधिकार व सुविधाएं मिलनी चाहिए जो एक स्वतंत्र देश के नागरिक को नियत हैं। इस समय राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त बरबस ही याद आ रहे हैं–

^^vkpkj e dN Hkn gk ij ie gk 0;ogkj e]
n[k ge fQj dku l[k feyrk ugh llkj eAA**

lUnHk %

1. मंगलेश डबराल – नये युग में शत्रु, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 17
2. विनोद कुमार शुक्ल – कभी के बाद अभी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 23
3. पंकज विष्ट – समयांतर अगस्त 2011 पृष्ठ 13–14
4. हरिराम मीणा – (स.) समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ सं. 99
5. वही, पृष्ठ सं. 29
6. विनोद कुमार शुक्ल– कभी के बाद अभी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ नं. 29
7. डॉ. नवीन नन्दवाना (सं) समवेत (अर्द्ध वार्षिक) शोध पत्रिका, आदिवासी विशेषांक, जुलाई 2014, पृष्ठ सं. 80
8. गंगा सहाय मीणा – (सं) आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 180
9. केदार प्रसाद मीणा – (लेख) आदिवासी का दर्द, – जनसत्ता, 14 दिसम्बर 2014 पृष्ठ सं. 6
10. रमणिका गुप्ता– आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ सं. 110
11. वहीं, पृष्ठ सं. 135
12. रमेशचंद मीणा – आदिवासी दस्तक विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन जयपुर, पृष्ठ सं. 57–50
13. आरती– (सं.) समय के साखी, पत्रिका अक्टूबर–नवम्बर 2014, पृष्ठ सं. 109
14. निर्मला पुतुल – नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली पृष्ठ सं. 61
15. वहीं, पृष्ठ सं. 57
16. ज्ञानरंजन (सं) पहल, पत्रिका, अंक 100 जून–जुलाई 2015, जबलपुर पृष्ठ सं. 150

****

lkekftd :f<;ksa vkSj ekuoh;rkvksa dk vfrØe.k djrh vjfoUn ^vty* dh dfork,¡

f'koUn dqekj ek;k*

साहित्य के क्षेत्र में अरविन्द 'अजल' एक नया नाम है। 'प्रस्फुटन' कविता संग्रह के साथ साहित्य में उनका प्रवेश होता है। इस प्रथम काव्य संग्रह के लिए मैं उन्हें बधाई देता हूँ, साथ ही साथ उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ। यह कविता संग्रह समय की माँग के अनुरूप ही आया है। जब समूचे विश्व का ध्यान दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन की ओर आकर्षित है, जहाँ की चमक–दमक में हाशिए का समाज गायब है, ऐसे क्षण में इस संग्रह की हिंदी साहित्य के चौखटे पर चुपके से दस्तक होती है।

'प्रस्फुटन' कविता संग्रह में सैंतीस कविताएँ संग्रहीत हैं। इसमें संग्रहीत अधिकांश कविताएँ उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो सदियों से दमित, पीड़ित, शोषित रहे हैं। ऐसे वर्ग की पीड़ा कवि के हृदय को द्रवीभूत कर देती है। वह लेखनी उठाने पर मजबूर हो जाता है। स्वानुभूति उसकी कविता को नई ऊँचाई देती है। कवि ऐसे समाज की निर्मिति चाहता है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की भावनाओं की कद्र करे। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के मूल्यों की नकार उसके भीतर घुटन पैदा कर देती है। कविता संग्रह की भूमिका में कवि इसको सहर्ष स्वीकार करते हुए लिखता है–''मनुष्य के रूप में जब एक मनुष्य, मनुष्य के मूल्यों को नकारता है, तब भीतर बहुत सारे हलचल और घुटन पैदा हो जाते हैं। कभी–कभी सोचता हूँ कि अगर शब्द न होते तो वर्तमान यथास्थितियों से उजपी मेरे मन के भीतर उमड़ने वाली इस घुटन और तकलीफ का क्या होता?''[1]

समूचा विश्व आज पूँजीवादी ताक़तों की गिरफ्त में है। विश्वग्राम की परिकल्पना उसकी निजी देन है। वर्ग संस्कृति के बरक्स खड़ी हुई पूँजीवादी संस्कृति ने मानवता का गला घोंट कर बाहरी छुआछूत को आन्तरिक छुआछूत में परिवर्तित कर दिया। लोगों के मन में जो एक अवधारणा बन रही थी कि पूँजीवादी संस्कृति वर्ग और वर्ण के भेद को तोड़ने में सफल होगी, यह अवधारणा निराधार साबित हुई। मानव अपनी चेतना और अवचेतना के अन्तर्द्वन्द्व से पहले भी जूझता था और आज भी जूझ रहा है। एक इंसान दूसरे इंसान को अपने से कमतर आँकने और उस पर प्रभुत्व जमाने की जुगत में बराबर लगा हुआ है।

इंसान के इस दोगलेपन पर कवि चिंता व्यक्त करता है। इसका असर उसे समाज के अलावा प्रकृति पर भी पड़ता दिखाई देता है। मनुष्य के बुहरूपियेपन ने मानवता के संदर्भ बदल डाले हैं। पनपती हुई नई सोच ने हमें भले ही पूँजी से ढंक दिया हो, मगर उसने हमें भीतर से कहीं–न–कहीं खाली कर दिया है। कवि का यह आत्म वक्तव्य है कि–''एक इंसान के रूप में हमने अपने विशेषण तो बहुत पहले ही खो दिये हैं। सच पूछिये तो ढेले भर भी अपनी औकात नहीं रह गयी है। यह संकुचित मानसिकता हर कहीं, हर क्षेत्र में अपना पांव पसार रही है और मानवता कहीं किसी कोने में सुबक रही है। यह अवसरवादी सोच अभी हमें कितना मूल्यहीन बनायेगी? जाने कब मुक्त हो पायेगा इंसान? मगर अच्छी बात यह है कि हमारी चेतना ने हार नहीं मानी है।''[2]

*शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

'प्रस्फुटन' काव्य संग्रह की पहली कविता 'मजदूर दिवस' है। यह कविता ऐसे लोगों की शिनाख़्त करती है, जो मजदूर (सर्वहारा वर्ग) को अपना मुद्दा बनाकर उसके नाम की रोटी तोड़ते हैं, पर उसके लिए उनकी संवेदना शून्य है। व्याख्यान/गोष्ठी में लंबे–लंबे भाषण होते हैं, योजनाएँ बनती हैं, पर मंच से उतरते ही उन्हें अपने व्याख्यान/योजनाओं के भले–बुरे की चिंता ज्यादा होती है। मजदूर पर हुई चर्चा को जैसे वे भूल जाते हैं। बाद में आत्मतुष्टि के लिए कोई उन पर कविता लिखता है, तो कोई कहानी और कोई फेसबुक पर उनकी फोटो पोस्ट करता है। कवि ऐसे लोगों पर व्यंग्य करता है, जिनमें दिखावा ज्यादा है, व्यावहारिकता कम।

रच रहा है कोई कविता/पोस्ट कर रहा है कोई फेसबुकिया/फेसबुक पर उनकी फोटो/अपने एन्डरॉईड मोबाइल से/खींची गई/पसीने से लथलथ/सिर पर गारा ढोते हुए/किसी मजदूर/या मजदूरनी का।''[3]

कवि साहबों या प्रभुओं की खबर लेने में थोड़ी भी हिचकिचाहट नहीं दिखाता, जो मजदूरों का शोषण करते हैं, उनसे बेगारी कराते हैं और जब दिहाड़ी देने की बात आती है, तो कल का वादा कर उन पर अपना रोब दिखाते हैं। उन मजदूरों का क्या? जो दिन भर दिहाड़ी के बाद शाम में अपनी मजदूरी का इंतजार करते हैं। जिस मजदूरी से पेट की आस बँधी है, उस मजदूरी को भी साहब लोग गटक जाना चाहते हैं। कवि ऐसे लोगों के सख़्त खिलाफ है।

प्रतिरोध की अपनी एक परम्परा रही है। इसकी संस्कृति उतनी ही पुरानी और सघन है, जितना कि परम्पराओं के विकास का क्रम। प्रतिरोध की परम्परा में बुद्ध, कबीर, ज्योतिबा फुले, अम्बेडकर आदि को स्थापित किया जा चुका है। पुरातन से लेकर अद्यतन तक जिसमें सैकड़ों नाम शामिल हैं, विकासक्रम की इस प्रक्रिया में अरविन्द 'अजल' एक ऐसा उभरता हुआ नाम है, जो प्रतिरोध की परम्परा में खड़ा दिखाई पड़ता है। 'कबीरा खड़ा बाजार में', 'विश्वास', 'दीमक', 'निरूपाय राम' आदि ऐसी कविताएँ हैं, जो इस परम्परा को मजबूती प्रदान कर सकती हैं। कबीर कभी अपने राम से ये सवाल किये थे कि– 'मोहिका तार कहाँ लै जैहों।' किंतु यहाँ कवि का कबीर की सहमति प्राप्त करना बेहद महत्वपूर्ण है। अत्याचार, दुराचार, अविश्वास तब भी था और आज भी है। इसकी संख्या कम नहीं हुई है, बल्कि बढ़ी ही है। राम वहाँ भी निरूपाय थे और यहाँ भी निरूपाय हैं। कवि कहता है –

इससे तो/कहीं बेहतर होता कबीर/कि राम न होता/क्योंकि राम का होना/और न होना बराबर है।[4]

कवि 'कबीरा खड़ा बाजार में' कविता के माध्यम से कबीर को प्रतिरोध पररम्परा का नायक स्वीकार करता है। कवि की नजर में कबीर ही वह शख़्स हैं, जिसने प्रतिरोध की धारा ही बदल दी थी। 'कबीरा खड़ा बाजार में' कविता की ये पंक्तियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं –

मगर वो कबीर ही था/जिसने प्रतिरोध की/संस्कृति विकसित की/परम्पराओं की होली जलाकर/छलनी कर दिया था सीना/अपनी वाणियों की गोली से/पाषाणीय व्यवस्था का/हिलाकर रख दिया था/उन दीवारों को/जिन दीवारों ने खींचा था/एक दीवार/आदमी और/आदमी के बीच में।[5]

''कविता समय तथा समाज की उपज होती है। अपने समय के अन्तर्विरोधों, विसंगतियों तथा वैशिष्ट्य से कवि उद्वेलित, आंदोलित तथा प्रभावित रहता है। उसकी रचना पर उसका वर्तमान समय मौजूद तो रहता ही है, साथ ही अतीत और भविष्य भी उपस्थित होते हैं।''[6]

जाति एक ऐसा शब्द है, जिसकी समय–समय पर नई व्याख्या गढ़ी जाती रही है, पर समस्या जस की तस बनी हुई है। यदि इसके भूत पर विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि वहाँ भी स्थिति सामान्य नहीं थी। वर्तमान की स्थिति किसी से छिपी नहीं है और भविष्य की स्थिति सामान्य हो जाय ऐसा कोई लक्षण दिखाई नहीं देता।

एक समय था जब कबीर, रैदास जैसे कवि जाति और वर्ण के व्यवस्था घोर निंदक थे, किन्तु इस व्यवस्था के पोषक तुलसीदास की अपनी एक सीमा थी, फिर भी समय और समाज की सच्चाई से वे कैसे मुँह मोड़ सकते थे? आख़िरकार उन्हें कहना ही पड़ा –

जद्यपि जग दारून दुख नाना।

सबतें अधिक जाति अवमाना।।

'अजल' का इशारा भी ठीक उसी ओर है। 'जाति का गणित', 'जाति का कालम' जैसी कविताएँ लोगों के सामने प्रश्नवाचक मुद्रा में है कि क्या भारतीय संस्कृति इसी का नाम है? जहाँ के सारे कार्य जाति पूछकर सम्पन्न किये जाते हैं। जाति के नाम पर कवि का हृदय बार–बार कौंधता है, पर वह हर बार सचेत हो जाता है, इस चेतना के साथ कि –

यहाँ हर किसी के साथ/दो परछाईयाँ/हमेशा साथ चलती हैं/एक उसकी काया की/और दूसरी/उसकी अपनी जाति।[7]

कवि की नज़र में जातीय मुद्दा कोई आसान प्रक्रिया नहीं है, जिसके माथे पर जिस जाति का ठप्पा एक बार लग गया वह होलमार्क सरीखे हो जाता है। कविता समकालीन युगबोध को परिलक्षित करती है। अरविन्द 'अजल' अपने समय के सचेत कवि हैं। 'जाति का कालम' नामक कविता में वे समय के अनुरूप ही अपने उद्‌गार को व्यक्त करते हैं।

रोजगार की समस्या को लेकर युवाओं में जब घोर निराशा है, ऐसे में किसी के लिए कितना सुखद होता है नौकरी प्राप्त करना। कवि जब फार्म भरता है तो वह माता–पिता के कालम को बहुत उत्साह के साथ भरता है, किन्तु जैसे ही जाति का कालम आता है, उसे कुछ हीनता का बोध होने लगता है। कवि की चिंता का विषय नौकरी नहीं है, बल्कि नौकरी के लिए भरे जाने वाले फार्म में बना जाति का कालम है। कवि की यह पीड़ा है कि उसके भीतर यह हीनता का भाव उपजा कहाँ से? इसका बोध कराने वाला आखिर कौन है? इसके लिए कवि धर्म को जिम्मेदार ठहराता है। धर्म से अपना रिश्ता कवि वैसा ही बताता है जैसा कि पानी का तेल के साथ। यानी तेल की बूँद जैसे पानी से विलग रहती है, वैसी ही विलगता कवि की धर्म से है। धर्म के ऊपर कवि कर्म का विश्वासी है। 'किसान' कविता में वह अपने अनुभव को साझा करता है कि मेहनत करने वाला किसान किस तरह खेतों में खटता है। धर्म के नाम पर बैठकर खाने वालों के लिए कवि की चिढ़ स्वाभाविक है। 'वो क्यों चाहेंगे' कविता इस बात की प्रमाण है –

वो क्यों चाहेंगे/कि खत्म हो जाय धर्म/वो क्यों चाहेंगे/खत्म हो जाय/धर्म के नाम पर रक्तपात/वो क्यों चाहेंगे/खत्म हो जाय उन्माद/अंध आस्था, आडंबर और रूढ़ियाँ/वो क्यों चाहेंगे/खत्म हो जाय भूख, गरीबी, अशिक्षा/वो क्यों चाहेंगे/बन्द हो जाय उनका व्यापार।[8]

प्रस्फुटन कविता संग्रह की 'भूख' शीर्षक कविता बेहद महत्वपूर्ण है। यह कविता उस सामाजिक यथार्थ की सच्चाई है, जिससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। इस कविता में कवि ने नए उपमान गढ़े हैं। चाँद को प्रेमिका के सौंदर्य का प्रतीक माना जाता है, किन्तु इससे इतर कवि उसमें अपनी गरीबी, बेकसी, लाचारी देखता है। जब भी वह चाँद में अपनी माशूका के चेहरे को तलाश करता है, उसे हमेशा अपने घर की फकीरी दिखाई पड़ती है –

मैं हर रोज/चांद में/तेरा चेहरा/तलाशता हूँ/और हर बार चांद में मुझे/कभी रोटी/तो कभी माँ की बीमारी/बाप की खांसी/माँ की फटी धोती/बहन की शादी/चूता मड़वा/सूखती फसलें/लाला का कर्जा/बनिया की उधारी/दिख जाती है।[9]

कई उपेक्षित पहलुओं को अजल ने अपनी कविता का विषय बनाया है। उन कविताओं में 'बबूल का पेड़', 'गिल्ली डण्डा', 'बुढ़ापा', 'दीमक' आदि प्रमुख हैं। इस विषयों का चुनाव कर कवि ने उसमें नवीनता लाने की कोशिश की है। कई बिन्दुओं से ये कविताएँ बेहद महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। बबूल के पेड़ को प्रगति का अवरोधक मानना कवि की निजी सोच है। इसी तरह 'गिल्ली डण्डा' में गिल्ली आम जन को शोषक डण्डे द्वारा बेरहमी से पीटना कवि का मुख्य इशू है। 'दीमक' कविता के माध्यम से कवि उस व्यवस्था पर प्रहार करता है, जो देश को भीतर ही भीतर से खोखला किये जा रही है। दीमक में खटमल के भी गुण आ जाने से वह देश को किस तरह से चूसकर खोखला करेंगे इसकी चिंता कवि को ज्यादा है।

'प्रस्फुटन' कविता संग्रह में विविध पहलुओं को ध्यान में रखकर कविताओं का सृजन हुआ है, पर इस कविता संग्रह में जिस एक पहलू की कमी खलती है, वह है– प्रेम तत्त्व के निरूपण की। यह बात सहज स्वीकार्य है कि हर रचनाकार का अपना दायरा होता है, लेकिन अरविन्द 'अजल' का यह कविता संग्रह उनके जिस उम्र से जुड़ाव रखता है, उसमें इस विषय की कमी जरूर संशय पैदा करती है। इस संग्रह में एक कविता 'सपना' शीर्षक से छपी है, जो यह सूत्र प्रदान करती है कि इस विषय पर कवि चुप क्यों है? कविता की बानगी इस प्रकार है –

मैं जिसे सपना समझ / बिसारना चाहता हूँ / वो हर बारी / किसी दर्द हवाओं की तरह / बार–बार लगातार / मेरे छालों को / दरेर–हरेर कर / बड़ी बेशर्मी से / चला जाता है।[10]

इस संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जो कवि की निजी मान्यताओं पर आधारित है। कविता और शब्द पर कवि की निजी राय है। उसने शब्द को गले का हार और तलवार की धार बताया है तथा कविता के विषय में कवि यह मानता है कि कविता उठने की चीज़ है। 'यहाँ थूकना मना है' जैसे मामूली विषय को भी कवि ने अपनी कविता का विषय बनाया है।

विश्वास एक ऐसा रिश्ता है, जो लोगों को एक–दूसरे से जोड़े रखता है। विश्वास बनाने में उम्र गुजर जाती है, किंतु टूटने में क्षण भर भी नहीं लगता। कवि का यह मानना है कि आज इंसान का इंसान पर विश्वास ही नहीं है। वह रिश्ते को बड़ी मासूमियत से छल रहा है। इस मामले में इंसान जानवर से भी दो फर्लांग नीचे चल रहा है। जब एक इंसान दूसरे इंसान से दुःखी और संत्रस्त है, तो कवि ऐसे में इस गहराई को पाटने के लिए एक खुशनुमा मौसम की तलाश करता है –

मैं हथेलियों पे अपने
ले आशाओं का दीप
विश्वास की ज्योति संग
इक उल्लास में निकला हूँ
एक खुशनुमा मौसम की
तलाश में निकला हूँ.......।[11]

भाषा–शैली की दृष्टि से अभी कच्चापन है। भाषा में वह रचाव और कसाव नहीं है, जो एक परिपक्व कवि के लिए होना चाहिए, किन्तु यह भी सत्य है कि भाषा की प्रांजल मायाजाल से मुक्त ये कवितायें आम जन जीवन के बेहद करीब और बोधनीय हैं। समयानुसार अंग्रेजी शब्दों को उन्होंने जगह–जगह अपनी कविताओं में प्रयुक्त किया है। उर्दू, अरबी, फारसी, देशज आदि शब्दों का प्रयोग भी कविताओं में दिखाई पड़ जाते हैं। पोपली, तिखेड़ी, कम्बख़्त, एनड्रॉयड, एयरकंडिशन, प्रोडक्ट, जिरहबख़्त, मुकम्मल आदि कई भाषाओं के प्रयुक्त ऐसे ही शब्द हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि अरविन्द 'अजल' आस और विश्वास के कवि हैं। उनकी कविताओं में सामाजिक रूढ़ियों एवं मान्यताओं के प्रति नकार का भाव है। जाति, धर्म के खांचे से बाहर कवि ने मनुष्य को एक मनुष्य के रूप में देखने का प्रयास और आह्वान इस संग्रह के माध्यम से किया है। 'प्रस्फुटन' कविता संग्रह विषय की विविधता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कवि की ज्यादातर कवितायें स्वानुभूति की आंच पर पकी हुई हैं। कवि में समय की पहचान के साथ–साथ लोगों के हृदय की पहचान है। यही उनकी ताक़त है।

lanHkZ %

1. प्रस्फुटन, अरविन्द 'अजल', बिहान पब्लिकेशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण–2015, भूमिका से।
2. वहीं, भूमिका से।
3. वहीं, पृ. 12
4. वहीं, पृ. 66

5. वहीं, पृ. 14

6. समकालीन कविता का प्रमेय, अरूण होता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, प्रथम संस्करण 2015, भूमिका से

7. प्रस्फुटन, अरविन्द 'अजल', बिहान पब्लिकेशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण–2015, पृ. 23

8. वहीं, पृ. 25

9. वहीं, पृ. 17

10. वहीं, पृ. 39

11. वहीं, पृ. 75

****

txnh'k pUnz dk miU;kl&=;h o nfyr thou dk ;FkkFkZ

fnus'k dqekj ;kno*

जगदीश चन्द्र ने 'धरती धन न अपना', 'नरक कुंड में वास' व 'जमीन अपनी तो थी' शीर्षकों के अन्तर्गत जिस उपन्यास–त्रयी की रचना की है, वह हिन्दी उपन्यास व समूचे भारतीय साहित्य में लम्बे समय तक सार्थक रचना के रूप में जानी जाती रहेगी। इस कथा–त्रयी में जगदीश चन्द्र ने भारतीय समाज के उस उपेक्षित वर्ग का अत्यंत यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है, जो इस समय राजनीतिक क्षेत्र में भी चर्चित है और साहित्यिक क्षेत्र में भी, जिसे दलित साहित्य के अन्तर्गत नए ढंग से परिभाषित किया जा रहा है। इन चर्चाओं से भारतीय समाज के इस सर्वाधिक उत्पीड़ित वर्ग की जीवन परिस्थितियाँ तो भले ही अभी बहुत अधिक न बदली हों, लेकिन साहित्य व अन्य माध्यमों से उनके जीवन पर समाज का ध्यान केन्द्रित करने के प्रयास आरम्भ हुए हैं, उसमें आने वाले दशकों में उनके उत्पीड़न की मौजूदा क्रूरता को जारी रख पाना उनके उत्पीड़कों के लिए मुश्किल अवश्य हो जायेगा।

भारतीय समाज व्यवस्था वर्ण–व्यवस्था केन्द्रित रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र चार वर्णों पर आधारित यह समाज व्यवस्था भारतीय समाज में प्राचीन काल से आज तक किसी–न–किसी रूप में चली आ रही है। इसी से जाति–व्यवस्था निकली। अधिकांश विद्वानों के मत में यह व्यवस्था प्रथमतः कर्म के आधार पर निर्मित थी, किन्तु बाद में इसे धर्म ग्रंथों का हवाला देकर जन्मना बना दिया गया। यह बहुप्रचलित और प्रचारित बात है कि ब्राह्मणों का काम समाज के लिये ज्ञानार्जन था। वह शिक्षण, पौरोहिती, यज्ञादि अनुष्ठान का कार्य करता था। क्षत्रियों का कार्य अपने बाहुबल से समाज की रक्षा करना था। वैश्य अन्न–उत्पादन एवं पशुपालन आदि के कार्य करते थे और शूद्रों का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना था और बदले में समाज के अन्य वर्गों द्वारा उनका भरण–पोषण होता था। किन्तु धीरे–धीरे इस व्यवस्था में विकृतियाँ आती गयीं और यह भारतीय समाज के लिये घातक सिद्ध हो गया। कालान्तर में इन पर श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ के भाव हावी होते चले गये और इनमें कोई अत्यंत नीच तो कोई अत्यंत ऊँच बन गया। जाति प्रथा इसी से उत्पन्न हुई। शूद्र (दलित) सामाजिक संरचना के सबसे निचले स्तर पर अवस्थित सर्वाधिक निकृष्ट और उपेक्षित वर्ग था।

''जो लोग यह सोचते हैं कि आधुनिक अर्थतंत्र के द्वारा गरीबी मिटाने के साथ ही साथ ये कटघरे अपने आप खत्म हो जायेगें, वही सारी भूल करते हैं। गरीबी और ये दो कटघरे एक–दूसरे के कीटाणुओं पर पनपते हैं।''[1]

इसीलिए यदि भारत की सच्ची तस्वीर देखनी हो तो अदम गोंडवी की षब्दों में कहना पड़ेगा कि –

'आईये महसूस करिए जिन्दगी के ताप को,
मैं चमारों की गली तक ले चलूँगा आपको।'

भारतीय समाज व्यवस्था को शूद्र सबसे निचले पायदान पर रहे हैं, किन्तु दलित शब्द बिल्कुल नया है। यह आधुनिक मराठी, गुजराती, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का एक अति प्रचलित शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ होता है– दरिद्र या उत्पीड़ित। दलित भी शूद्र ही हैं, किन्तु शूद्र और दलित

*शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। शूद्र सबसे निचले स्तर पर ही सही चतुर्वर्ण्य व्यवस्था में शामिल हैं। दलित भी शूद्र की श्रेणी का ही वर्ग है। सदियों से भारतीय समाज की रीढ़ है वर्ण व्यवस्था। सम्भवतः आरम्भ में समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिये इसे आदर्श रूप में देखा अथवा माना गया होगा, किन्तु कालान्तर में इसका स्वरूप विकृत होते–होते वीभत्स होता चला गया और वर्ण ने जाति का स्थान ले लिया। आगे चलकर यह कठोर से कठोरतम होती गयी। इसके चलते नीचे आने की सम्भावनाएं तो अधिक थी, ऊपर उठने के अवसर न के बराबर थे।

वर्ण व्यवस्था के तहत एक वर्ग विशेष को सभी मूलभूत सुविधाओं तथा अधिकारों से वंचित किया गया। साथ ही साथ उस पर अनके वर्जनाएं भी लाद दी गयी, जिसका पालन न करने पर कठोर दण्ड का विरोध भी होता रहा, किन्तु आज तक समाज में यह व्यवस्था कायम है। समय के अनुसार इसमें कुछ सुधार अवश्य ही हुए हैं। समाज सुधारकों के अथक प्रयासों से वर्ण व्यवस्था में थोड़ी बहुत शिथिलता अवश्य आयी है, किन्तु जड़ से यह कभी भी समाप्त नहीं हो पायी। इसे आधार बनाकर अनेक रचनाकारों ने इस पर कलम चलायी। प्रेमचन्द, नागार्जुन जैसे लेखक जीवन भर इन बुराइयों से लड़ते रहें। इसी परम्परा का निर्वाह जगदीश चन्द्र ने अपने लेखन में भी किया। उन्होंने इसका निर्वाह ही नहीं किया वरन् उनके स्वभाव में भी इसे देखा जा सकता है। इस मर्मस्पर्शी विषय को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'रस और रोमान की लुभावनी काल्पनिक दुनिया के प्रलोभनों को निश्चयपूर्वक दुहराते हुए उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता को उस दिशा में सक्रिय किया जहाँ एक जीता–जागता मनुष्य समाज और उसका बेहद तल्ख यथार्थ था। वहाँ जिन्दगी के नाम पर नरक की यातना भोगने वालों की एक विशाल संख्या थी– स्त्री–पुरूषों की भूमिहीनों–छोटे किसानों की, दलितों की, मजदूरों और मजलूमों की। जगदीश चन्द्र ने इनकी जिन्दगी और इनके जीवन–संघर्षों को अपनी रचना का विषय बनाया। साधारण जनों के सुख–दुख के साथ संवेदनात्मक एकात्म कायम करते हुए, उन्हें उतनी समूची वास्तविकता में पेश किया। यह सब उन्होंने अपने अनुभवों के प्रति कतई ईमानदार रहते हुए किया। अतिरंजना से सर्वथा बचते हुए और वास्तविकता के प्रति पूरी तरह वस्तुनिष्ठ रहते हुए।'[2]

यह उपन्यास–त्रयी अनेक स्तरों पर विशिष्ट औपनिवेशिक रचना है। इस त्रयी में भारतीय समाज के अत्यंत महत्वपूर्ण कालखण्ड के सामाजिक जीवन को उकेरा गया है, जिसमें परोक्ष रूप से इस कालखण्ड के राजनीतिक जीवन पर टिप्पणी देखी जा सकती है। इस त्रयी में लेखक ने पंजाब के दोआब क्षेत्र (जालान्धर, होशियारपुर जिला) को कथा के केन्द्र में रखकर 1945 के आस–पास से कथा का आरम्भ कर करीब बीस वर्ष का समय समेटते हुए उपन्यास त्रयी का अन्त 1975 के आस–पास किया है। तीन दशक में यह समय भारतीय समाज व राजनीति के विकासक्रम का एक स्वतंत्र व महत्वपूर्ण दौर है, जिसमें ब्रिटिश इण्डिया से 'स्वतंत्र भारत' में संक्रमण होता है और स्वतंत्र भारत में विकसित होती हुयी सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक प्रशासनिक व्यवस्था है, जिसका व्यवहारिक रूप उपन्यासत्रयी के दूसरे व तीसरे खण्ड में देखा जा सकता है।

उपन्यास के पहले खण्ड 'धरती धन न अपना' में यद्यपि काल का कोई उल्लेख या संकेत नहीं मिलता व अधिकांश आलोचकों ने इसे स्वतंत्र्योत्तर भारत की कृशि व्यवस्था रूप में ही अंकित किया, लेकिन 'नरककुण्ड में वास' प्रकाशन से जाहिर हुआ कि 'धरती धन न अपना' में वर्णित कालखण्ड 1945–47 के आस–पास का है। काली का 6 वर्ष बाद कानपुर से लौटना जाहिर करता है कि काली 1940 के आस–पास कानपुर गया। यद्यपि काली की उम्र का अनुमान लगाना मुश्किल है फिर भी वह 17–18 वर्ष की उम्र में भी घर से कानपुर गया हो तो 1948–49 के आस पास उसकी उम्र 23–24 वर्ष की रही होगी। नरककुण्ड में वास में आजादी मिलने व आजादी का कोई अर्थ आम आदमी के समझ में न आने के संदर्भ से पता चलता है कि 'नरककुण्ड में वास' का कालखण्ड 1947–50 के आसपास का है तथा यह स्वतंत्र भारत का संक्रमण काल है, जब भारत में नई व्यवस्था (या पुरानी व्यवस्था) जड़े जमा रही थी। नरककुण्ड में वास का कालखण्ड कुल एक वर्ष का ही है। यह उपन्यास की कथा से जाहिर है। इससे पहले धरती धन न अपना काली का कानपुर से लौटने व पुनः गांव से भागने के बीच

करीब एक वर्ष का ही कालखण्ड है। उपन्यास के तीसरे व अन्तिम भाग 'जमीन अपनी तो थी' में ही काली का जीवन पूर्णता की ओर बढ़ता है। उपन्यास के इस भाग का कालखण्ड कम से कम पच्चीस वर्ष का है, जिसमे काली का विवाह, उसका अपने पैरों पर खड़ा होना, अपना काम व्यवस्थित करना, दो पुत्रों का पिता बनना व फिर अपने पुत्रों को पढ़ा लिखाकर अच्छी नौकरियों तक पहुंचाने का कालखण्ड शामिल है। मोटे तौर पर यह कालखण्ड 1950 के आसपास से 1975 के आसपास तक फैला है और इस पूरी उपन्यास–त्रयी का कालखण्ड करीब तीन दषक तक माना जा सकता है।

उपन्यास–त्रयी के संदर्भ में इस कालखण्ड का अनुमान अथवा निर्धारण इसलिए जरूरी है कि यह रचना कोई सामान्य कथा रचना न होकर भारतीय समाज के एक विशिष्ट अंग व विशिष्ट समस्या पर आधारित रचना है, जिसका सम्बन्ध भारत के अतीत, वर्तमान व भविष्य तीनों से है। भारतीय समाज का यह विशिष्ट अंग है दलित वर्ग और विशिष्ट समस्या भी दलित वर्ग के समाज में स्थान की समस्या की है। इस उपन्यास–त्रयी में दलित वर्ग में 'चमार जाति को केन्द्र में रखा गया है। वैसे दलित वर्ग में सर्वाधिक बुरी दशा भंगी या मेहतर जाति, चाण्डाल या डोम जाति व चमार जाति की ही मानी जाती रही है, लेकिन चमार जाति का स्थान अन्य दो जातियों से कुछ बेहतर समझा जाता है, यद्यपि इनके साथ छुआछूत का व्यवहार वैसे ही है जैसे अन्य दलित जातियों के साथ होता है।

जगदीश चन्द्र 'धरती धन न अपना' के संदर्भ में दलितों के प्रति कहा है कि ''गांव के भूमिदारों का हरिजनों के प्रति व्यवहार बहुत ही अन्यायपूर्ण और अपमानजनक होता था। यह आम बात थी कि वे जब भी चाहते हरिजन बस्ती में आकर निःसंकोच गाली–गलौज करते कभी–कभी हाथ भी उठाते। लेकिन दूसरी ओर से कभी प्रतिक्रिया नहीं होती थी। मैंने उन दिनों अपने आप से कई बार यह सवाल पूछा था कि ये लोग इतने असहाय क्यों हैं।''[3]

'धरती धन न अपना' दलितों के भोगे हुए यथार्थ का दस्तावेज है। जगदीश चन्द्र ने अपने इस बहुचर्चित उपन्यास मे जीवन के ऐसे पक्षों को छुआ है, जो अब तक अछूते थे। धरती धन न अपना हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है, जिसमें जाति व्यवस्था व आर्थिक शोषण के उत्पीड़न के भयंकर रूप से शिकार 'चमारों' के जीवन को आधार बनाया है।

पंजाब तथा देश के अन्य हिस्सों में चमार जाति मृत पशुओं की चमड़ी के पेश से उपजीविका चलाती है, किन्तु 'धरती धन न अपना' उपन्यास में वर्णित चमार भूमिहीन श्रमिक हैं व चौधरियों के खेतों में काम करते हैं। वे बहुत गरीब हैं और उनकी जीवन स्थितियाँ निकृष्ट है। इस उपन्यास का कथारंभ इसके केन्द्रीय चरित्र काली के गांव लौटने से होता है। होशियारपुर जिले के घोड़ेवाहा गांव का काली जीविका के लिए कानपुर चला गया था। भुखमरी की अवस्था में वह छह साल पहले गांव छोड़ गया था।

इन छह वर्षों में गांव के जीवन में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है, गांव वैसा ही गतिहीन है। गांव लोटते ही दमनकारी स्थितियाँ काली को उदास कर देती है व क्षण भर के लिए उसे लौटने पर अफसोस होने लगता है, किन्तु अपनी चाची व मुहल्ले की दूसरी औरतों से मिलने के बाद उसे राहत महसूस होती है। वह बहुत सारे नोट लेकर लौटा है। तीन सौ रूपये से कुछ कम और उसकी चाची उससे बहुत प्रसन्न है पर साथ ही आशंकित हो उठती है।

गांव के जाट भूमिहीन व किसान जो चौधरी कहे जाते हैं व भूमिहीन चमार की मुख्य रूप से बसते हैं। कुछ बनियां दुकानदार हैं, कुछ धर्म–प्रचारक व कम्युनिष्ट कार्यकर्त्ता भी गांव में हैं। गांव में हरिजनों की बस्ती की क्या स्थिति होती है? जगदीश चन्द्र ने बखूबी व्यक्त किया है – ''थोड़ा और आगे जाने पर उसे जोर की ठोकर लगी और वह गिरते–गिरते बचा। गोबर की तेज बदबू ने उसे चमादड़ी (हरिजनों की बस्ती) के निकट ही होने का संकेत दिया। इस स्थान पर बड़ा रास्ता काफी गहरा हो गया था क्योंकि गांव में बरसात का सारा पानी इसी रास्ते से चो में जाता है। कुछ क्षण के बाद ही वह चमादड़ी के बाहर कुएं पर पहुँच गया। कुएं के इर्द–गिर्द गन्दे पानी और कीचड़ की छपड़ी बनी हुयी थी। अनायास ही वह वहाँ रूक गया और सामने छोटे–छोटे कच्चे मकानों को देखने लगा।''[4]

'धरती धन न अपना' में नैतिकता दो धरातलों पर क्रियमाण है। एक ओर उच्च वर्गों की सवर्ण (उच्च जात वाली) नैतिकता तथा दूसरी ओर निचले वर्गों की चमार जात वाली नैतिकता है। सौभाग्यशाली वर्ग के लोग सत्ता का अहंकार तथा भोग का स्वेच्छाचार नजर आता है किन्तु अपने अंदरूनी समूह के बीच पूरी समझ तथा सुलह को कायम रखते हैं। हज्जूशाह के बनिया चरित्र में कर्ज में जकड़ने के लिए छद्म आत्मीयता का दिखावा। कर्ज देने के पहले तगड़े आदमी को पहचान कर जमीन रेहन रखने की दूरदर्शिता चौधरी तथा चमारों दोनों से मुनाफा कमाने के लिये सुलह कराने की स्वार्थपरकता एक ग्रामीण लाला का टिपिकल चरित्र पेश करती है।

काली कानपुर में एक कारखाने में मजदूर था, जिससे उसकी चेतना विकसित हुई है। यद्यपि उसकी चेतना वर्ग सचेत सर्वहारा की चेतना नहीं है, तथापि अपने गांव के अन्य भूमिहीन खेत मजदूरों से वह कहीं अधिक सजग है। काली अपने गांव में पक्का मकान बनवाना चाहता है। यह बात गांव में इससे पहले न देखी न सुनी गई। इस समय छज्जू शाह काली को बताता है कि जिस घर को वह पक्का मकान बनाना चाहता है, वह गांव की सामूहिक जमीन यानी 'शामलात' पर बना है। इस घर पर उनका 'मास्सी' अधिकार है यानी जब तक वे वहाँ रहते हैं तभी तक उनका उस पर अधिकार है। काली गांव की एक बहादुर व ईमानदार चमार लड़की ज्ञानों से प्रेम करने लगता है, किन्तु उसका प्रेम तथा घर बनाने की उसकी कोशिश दोनों दुखांत की ओर ले जाते हैं। एक झाड़ फूंक करने वाले की कृपा से उसकी चाची मर जाती हैं। शोक काल में उसकी थोड़ी बहुत रकम भी चोरी हो जाती है। पक्का घर बनाने का काली का विचार स्वप्न जगत में खो जाता है और वह अपने पारंपरिक व्यवसाय में लौट जाता है। गांव में वर्ग संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। काली अपने साथी चमारों को अपने गौरव की रक्षा के लिये जगाने में प्रमुख भूमिका अदा करता है।

सावन के दिनों में भारी वर्षों के कारण गांव के पोखर 'चो' में पानी बढ़ने लगता है। चमादड़ी निवास का मुहल्ला होने के कारण 'चो' भी बाढ़ का शिकार बनने लगता है। कच्चे मकान गिरने लगते है, लोग बे–घर–बार और रोटी–पानी को मोहताज होने लगते हैं किन्तु गांव के चौधरी उनकी सहायता नहीं करते। किन्तु जब पानी का बहाव चौधरियों की हवेली की ओर होने लगता है तब उन्हें अपने अस्तित्व की और अपने गांव को बचाने के लिये 'चो' के तकिये का बांध काटने का आदेश देता है। गांव वालों की सहायता से बांध काट दिया जाता है, जिसमें मुख्य भूमिका काली और हरदेव निभाते हैं। बांध काटने से चौधरियों के खेतों में पानी निकल जाता है और उनकी फसलें खराब होने लगती है। रही सही फसल को बचाने के लिये चौधरी लोग पुनः चमारों की बांध के कटाव को भरने का हुक्म देते हैं। बेकार बैठे चमार इस काम के मिल जाने पर खुश होकर कटाव को भरने लगते हैं और उम्मीद लगाए रहते हैं कि चौधरी लोग उन्हें मजूरी देंगे।

पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद और उसके साथ–साथ जब अपना फन उठाता है, तो उसके जहर से न जाने कितनी मौतें होती हैं। ये मौंते आप नंगी आंखों से नहीं देख सकते हैं। इसके लिये विशिष्ट दृष्टि चाहिए। राजनीतिज्ञ पूंजीपति और धर्म के ठेकेदार एक साथ हमला बोलते हैं। इन हमलों की पहचान न पाने के कारण आम नागरिक सहज ही इनका शिकार हो जाता है। गांव हटे शहर बने परन्तु इससे फायदा किसे हुआ? बड़े–बड़े पूंजीपतियों को, नेताओं को और बीच में खाने–पकाने वाले दलालों को।

गांव ने तो केवल खोया ही खोया है। अपनी जीविका खोई है और अपनी संस्कृति खोई है, अपनी अस्मिता का होम किया है। शहरों के विकास से लूट खसोट करने वाले पूंजीपतियों का बोलबाला रहा है। गांव वाले तो इस पूरी व्यवस्था के जूठन बन कर रह गए हैं। झुग्गी–झोपड़ियों में रहने वाले यह ग्रामीण सड़ी–गली जिन्दगी जीने के लिये विवश हैं।

"जब दो दिन तक चौधरी लोग दिहाड़ी नहीं देते तो तीसरे दिन तक आते–आते उनका धैर्य जवाब दे जाता है और वे दिहाड़ी की मांग करने लगते हैं। चौधरी कोई दिहाड़ी नहीं देना चाहता बेगार कराना चाहते हैं। चौधरियों के इस रूख पर चमारों की बिरादरी का सहजात अगुआ फत्तू चौधरियों

से कहता है – आप लोगों के चमार है। हमें आप नहीं बचाएंगे तो कौन बचाएगा? लेकिन यह तो सोचो कि अगर आप दिहाड़ी नहीं देंगे तो हम लोग खाएंगें कहाँ से? लेकिन इन बातों का चौधरियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चौघरी लोग जोर–जबर और गाली–गलौज से चमारों को धमकाना चाहते हैं, किन्तु काली साफ–साफ कहता है कि बिना पैसे लिये वह काम नहीं करेगा, वह कह देता है– चौधरियों आदमी किसी का राज नहीं हैं। चौधरियों को निर्णय देख छज्जूशाह बोला ''आप लोगों ने तो चमारों को वायकाट करने का ही फैसला कर लिया है। लेकिन हमारे बारे में क्या सोचा है? आप उन्हें बाहर नहीं निकलने नहीं देंगे तो हमारे डंगर भूखे मर जायेंगे। हम उन्हें चारा कहाँ से डालेंगे? हम अपनी दुकानदारी करेंगे या डंगरों के लिये घास खोदते फिरेंगे।''[5]

काली अपनी ही विरादरी में बुरी तरह अलग–थलग पड़ जाता है। उसका आरम्भिक रौब–रूतबा जाता रहता है। अब गांव के लड़के काली और ज्ञानों के प्रेम संबंधों पर खुलेआम टिका–टिप्पणी करना पुरूष कर देते हैं। निराशा और अकेलेपन से घिरा हुआ काली विवेकहीन होकर सबसे लड़ने–झगड़ने लग जाता है। ज्ञानों की माँ लोकापवाद से बचने के लिये ज्ञानों की सगाई पड़ोस के गांव के किसी लड़के से तय कर देती है। काली को जब यह मालूम पड़ता है तो वह ज्ञानों से मिलने जाता है। वहीं ज्ञानों का भाई मंजू वगैरह मिलकर काली की खूब पिटाई करते हैं और वह पिटता रहता है। यही नहीं वह इतना स्वाभिमान रहित हो जाता है कि ज्ञानों को प्राप्त करने के लिये वह ईसाई धर्म में दीक्षित होने के लिये तैयार हो जाता है। किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञानों को गर्भवती जानकर उसकी माँ एक दिन उसे संखिया पिलाकर मार डालती है।

दलित अगर धर्म भी बदल ले तब भी उसे वह सुरक्षित और सम्मान जनक मुकाम हासिल नहीं होता, जिसकी तड़प उसके भीतर रहती है। जगदीश चन्द्र इस सच्चाई को समझ रहे थे। नन्द सिंह धर्म बदल लेता है, परन्तु वह चमार का चमार ही समझा जाता है। चौधरी नन्द सिंह से कहता है– ''वाह रे नन्द सिंघा। तेरे सिर पर तो अभी सींग उगे नहीं पगला तु कुछ भी बन जा रहेगा चमार का चमार ही। जात कर्म से नहीं बनती। अगर चमार कहलवाना पसंद नही ंतो किसी और माँ के पेट से जन्म लिया होता।''[6]

चमारों के दुःखों का कोई अन्त नहीं। जो उनकी सहायता का दावा करते हैं, उनके निहित स्वार्थ है। धर्म व धर्म परिवर्तन उनकी दमनकारी स्थितियों में जरा भी अन्तर नहीं लाता। गांव का जूता सिलने वाला नन्द सिंह रमदसिया पहले सिख बनता है, फिर ईसाई किन्तु उसकी स्थिति वही रहती है। चमार कहा जाने पर उसे बहुत क्रोध आता है। विषेशतः जब कुत्ता चमार कहा जाता है, किन्तु वह स्वयं को इस अपमान के कूड़े से बचा नहीं पाता। धर्म परिवर्तन से ज्यादा अपमानित किया जाता है।

जगदीशचन्द्र ने चमारों के जीवन को सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पहलुओं में दृश्यमान किया है। गालियां देती चमार औरतें नाक बहाते चमार के बच्चे, उनके पसीने का दुर्गंध, गोबर के ढेर, चमार मुहल्ले का कूड़ा–करकट इस ढंग से प्रस्तुत किये हैं कि जो पाठक की आँखों के सामने एक दृश्य उभर आता है। यह जीवन बहुत असुंदर व अन्यायपूर्ण है किन्तु पूरी तरह वास्तविक है।

'धरती धन न अपना' का अंत अत्यंत त्रासदपूर्ण है। सब कुछ हारकर और लुटाकर काली का एक अज्ञात वियावान में गुम हो जाना उतना ही क्लेशदायक है, जितना होरी का करूण अंत।

'नरक कुण्ड में वास' में जगदीश चन्द्र एक बिल्कुल अछूता कथ्य अपनाते हैं। रेड़ा चलाने वाले मजदूरों तथा मुख्यतः पशुओं की कच्ची खाल को साफ करने का काम करने वाले, चमड़ा कमाने वाले मजदूरों की जिन्दगी की तकलीफों को उजागर करना इस उपन्यास का कथ्य है। दोनों ही रूपों में पशुवत जिन्दगी को जी रहे दलितों का, चमारों के टोलों का अत्यन्त सूक्ष्म, प्रामाणिक और गहरी संवेदनशीलता से चित्रण करता हुआ लेखक हिन्दी में कथा की एक नई जमीन तोड़ता है। इस उपन्यास का नायक काली गांव से भीतरी और बाहरी दबाव के कारण पलायन करके जालंधर पहुँचता है। काली शहर में काम की तलाश में भटकता है किन्तु उसे काम नहीं मिलता। क्योंकि शहर में बिना पहचान के कोई काम नहीं देता और इस सत्य को मिस्त्री ध्यान सिंह काली से उजागर करता है –

''शहर में हर परदेशी को चोर उचक्का समझा जाता है। काम उसी को मिलता है, जिसका कोई सरनामा हो, कोई वाली–वारिस हो। यहाँ तो लोग गाली के बाहर के कुत्ते को भी टुकड़ा नहीं डालते, परदेशी को काम के लिए घर में कैसे घुसने देंगे।''[7]

काली शहर में रहने के ठिकाने और भूख से व्याकुल होकर ईधर–उधर भटकता है। ऐसी स्थिति में श्रमिक बरकत, मनसूख, सोमा और तोखे उसकी मदद करते हैं और उसके साथ सहानुभूति रखते हैं। अड्डे में तेरे लिये कोई काम नहीं है। अगर थोड़ी सी भी गुंजाइश होती तो मैं उस्ताद से तुम्हारी जरूर सिफारिश कर देता। शहर में काली को काम नहीं मिलता और न मिलने के कारण काली की स्थिति भिखारी से भी अधिक दयनीय हो जाती है। काली भुखमरी की स्थिति में भिखारियों के साथ रत्नचन्द्र द्वारा आयोजित भोज में जाता है, लेकिन वहां देखता है कि उससे अच्छे तो पशु–पक्षी हैं। गुमास्ता इसकी व्याख्या करते हुए कहता है कि कौन मानता है? आदमी दयालु और कृपालु बनकर मोटे चींटे–चीटियें को दाने डालता है। पक्षियों के लिए अनाज फेंकता है। देशी घी लगा गौ का आटे का पेड़ा खिलाता है, लेकिन आदमी का पेट भरते समय वह सोच में पड़ जाता है।

सेठ के पास इतना पैसा आया कि अपने को वह स्वयं भगवान समझने लगा। अपने इच्छा से ही भिखारियों को दर्शन देते हैं। शहर में जाकर काली को इस कटु सत्य का ज्ञान भली–भांति हो जाता है कि आदमी की घर–गांव के बिना कोई पहचान नहीं है। उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह छिब्बू जी की मण्डी में रहेड़ा खींचता है। छिब्बू काली को समझाते हुए कहता है कि देश पहलवान जड़ से उखड़ा पेड़ जल्दी सूख जाता है। घर–घाट से बिछड़ा हुआ आदमी जल्दी ही अपन आपा खो देता है। मर खप जाता है। पशु की कील बिना और आदमी की घर गांव के बिना कोई पहचान नहीं होती। अंततः काली को आधी मजदूरी पर अस्थायी रूप से छिब्बू मांझा और कालू के साथ रहेड़ा खींचने का काम मिल जाता है। वह देखता है कि रहेड़ा में बैल की जगह आदमी लगता है और भोजन भी भर पेट नहीं मिलता है।

कुछ दिनों तक काली मण्डी का माल ढोता है। उसके लिये काम न रहने पर वह पुनः बेरोजगार हो जाता है, तो छिब्बू उसे समझाता है कि शहर में काम की कमी नहीं है। बस मौका मिलना चाहिए और हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। मेहनत–मशक्कत करके आदमी दो टैम की रोटी तो कमा ही लेता है लेकिन मेहनत के हिसाब से मजदूरी नहीं मिलती। जरूरत मंद को झुकना पड़ता है। इस प्रकार काली को बेबस आश्रय ही श्रमिक जीवन की बेबसी का अहसास हो जाता है। वह नए काम की तलाश के विषय में सोचता है। मांझा उसे काम दिलाने के लिये चमड़े के कारखाने ले जाता है। यह कारखाना और उसके आस–पास की बस्ती नरक से भी बदतर स्थिति का बोध कराते हैं। कारखाने का फोरमैन उसे काम देने से पहले उसका अता–पता पूछते हैं। काली उसे चलते हुए कहते हैं कि– ''फोरमैन जी, गरीब आदमी का क्या अता पता कौन बताएगा। जहां दाना–दुनका, रोटी–टुक्कड़ काम–काज मिल गया वही अता–पता बन जाता है।''[8]

काली के इस कथन में मजदूर जीवन की व्यथा उभरकर आती है, जो कि मजदूर जीवन की वास्तविकता को उजागर करती है। फोरमैन काली को नौकरी पर रख लेता है, लेकिन इसके साथ काम की कठिनाई और मजदूरी दी और यह भी संकेत कर देता है – तेरी जवानी को देख तो जी चाहता है तुम्हें जवाब दे दूँ, क्योंकि यह अच्छे–भले आदमी को भी कुछ साल में ही खा जाता है। जिस आदमी के हाथ–पांव, बाजू–टांगे नमक शीरे, चूने और शीलन के पानी में रहेंगे। सारा दिन मोटा मच्छर काटेगा उसकी जिन्दगी क्या होती– तू आप सोच सकता है। बाहर घंटे काम के बाद अच्छे सदे हुए कारीगर को रूपये सवा डेढ़ मिलते हैं। नौसिखिए को तो रूपये बारह आने से ज्यादा नहीं मिलेंगे। क्या खायेगा क्या इलाज पर लगाएगा। लेकिन जब तेरी गरीबी की ओर झांकता हूँ तो इतनी उजरत भी बहुत लगती है। काली यह सब जानकर भी परिस्थिति वश सड़ी–गली ताजा खालों को नमक से धोने का कार्य स्वीकार कर लेता है। काली कारखाने में सड़ी–गड़ी बदबूयुक्त खालों को नंगे हाथ पैर से धोता है। गन्दे पानी से नहाता है, जिसमें पशु भी नहाना पसन्द नहीं करता। इस गन्दगी से उसे दो–तीन माह

बाद ही खुजली हो जाती है। कारखाने का वातावरण नरक से भी बदतर है। वहां हवा में बदबू आती है। इसे श्रमिक जीवन की विडम्बना कहेंगे कि काली और उसके अन्य साथी जिंदर किरान निराला आदि इस दूषित और घातक वातावरण में इस गंदे कार्य को करने के लिये विवश है। इन्हें मिला नारकीय जीवन बेबसी और यातना। कहते हैं देश आजाद हो गया है लेकिन लगता है कि आजादी सेठों, अफसरों और बड़े–बड़े चौधरियों और कोठियों–हवेलियों मे ही फँसकर रह गई है। ''काली कारखाने में नकर युक्त वातावरण तथा अपने शोषण को काफी दिनों तक बर्दाश्त करता रहा लेकिन एक दिन शोषण के विरूद्ध आवाज उठ ही गयी। उसने सेठ रामप्रकाश से अपनी पीड़ा को साहस करके व्यक्त कर ही दिया। सेठ जी आप देख रहे हैं काम बहुत गंदा है। मुरदार की चमड़ी से जूझना पड़ता है। सारा दिन गंदगी नमक चूने और तेजाब के पानी से खेलना पड़ता है। खाज खुजली समेत सौ बीमारियां लगती है। हाथ पैर की पां बिगड़ जाए तो कोढ़ का रोग भी लग सकता है।''[9]

कारखानों में खालों को धोते–धोते काली के हाथ में पां पड़ गई जो अत्यंत खतरनाक बिमारी है। काली फोरमैन को अपनी दशा के बारे में बताता है। वह उसकी स्थिति का ध्यान रखते हुए उसे इस कार्य से हटा देता है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि काली चार जमात पढ़ा है तो वह कारखाने के मुंशी की अनुपस्थिति में मुंशी कार्य करने के लिये कह देता है। इसी बीच फोरमैन काली से प्रभावित होता है और उसे लालच देकर उसके साथ अपनी बदसूरत पुत्री भोली का विवाह करना चाहता है। वह अपनी मंशा प्रकट कर देता है। भोली को चेचक ने दागदार बना दिया है, लेकिन वह दिल और स्वभाव की बहुत अच्छी है। उससे शादी कर ले तो तुम्हें बीवी, बाप और मकान मिल जायेगा और मुझे वंश तेरा भविष्य बन जायेगा और जिम्मेदारी निभ जायेगी।

इसी बीच काली को उसके गांव का नंद सिंह मिलता है और वह काली को बताता है कि ज्ञानों को मार दिया गया। काली इस खबर को सुनने के बाद अपनी वेदना को रोक नहीं पाता। उसकी आंखों से आंसू बहने लगते हैं। नंद सिंह उसे समझाता है और उसे अपने साथ अड्डे पर ले जाता है। इस प्रकार इस नरक से परिपूर्ण वीभत्स जीवन की कथा समाप्त होती है।

'जमीन अपनी तो थी' में पहले दोनों खण्डों से अधिक गहन, विशाल व तीव्र रूप से स्वतंत्र भारत की बन रही समाज व्यवस्था का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। कथा के केन्द्र में वहाँ भी काली ही है। अपनी तमाम चारित्रिक विशेषताओं के साथ, लेकिन इस उपन्यास का फलक बहुत विस्तृत है। इसमें काली का व्यक्तिगत संघर्ष ही नहीं है, अपितु पूरी समाज व्यवस्था का निर्माण व उद्घाटन भी है।

'जमीन अपनी तो थी' में भारत के असंतुलित आर्थिक विकास पूंजीवाद के विकृत रूप के निर्माण और सामन्ती तत्वों के पूंजीवादी व अफसर शाही तत्वों से गठजोड़ द्वारा दलितों, किसानों के शोषण व भ्रष्टाचार के अकूत फैलाव का चित्र स्वतंत्रता के पहले दो ढाई दशकों के संदर्भ में खींचा गया है। उपन्यास–त्रयी इस अन्तिम भाग में दलित वर्ग के एक अत्यल्प हिस्से को भ्रष्ट बनाकर सुविधा भोगी सामन्ती, पूंजीवादी तत्वों का अंग बनाने की दुखद गाथा भी है।

उपन्यास–त्रयी के अन्तिम भाग के शीर्षक के अनुसार नई भारतीय सरकार ने उसे जमीन दी तो सही, वही उसके नाम चढ़ी भी, चाहे वह बंजर जमीन ही क्यों न रही हो, लेकिन उसका दुखांत यह है कि उसी के वर्ग के अधिकारी उससे धोखे से जमीन छीन लेते हैं और कोरे कागजों पर उससे हस्ताक्षर करवाकर जमीन उससे खरीदकर अपने नाम करवा लेते हैं। गांव की कोओप्रेटिव सोसाइटी जिसकी कार्य कारिणी का सदस्य काली भी है का तमाम धन बड़े जमीदार ही इस्तेमाल करते हैं। सोसाइटी का उद्देश्य गरीब किसानों, दलितों को कर्ज देना है और गरीब किसानों से कर्जे की अर्जी पर दस्तखत करवाए जाते हैं, जबकि कर्जे की रकम का इस्तेमान जमींदार, सामन्त लोग करते हैं।

'जमीन अपनी तो थी' के अड्डे के पास गांव की काली समेत तेरह चमार परिवारों के साथ यही दुखांत घटना है, जिसकी पैंसठ एकड़ जमीन पर कुलतार सिंह जौहल जो उसके ही गांव का उनकी विरादरी से बना अफसर है, का फार्म बन जाता है। जबकि इन परिवरों का दो–दो,

अढ़ाई–अढ़ाई सौ रूपये का खर्चा भी डूब जाता है। बाद में बात खुलने पर इन लोगों को पांच–पांच सौ रूपये देकर उनका मुँह बन्द करवा दिया जाता है। काली अपनी चारित्रिक प्रकृति के अनुरूप प्रतिरोध करता है, तो पहले गिरफ्तार करवाया जाता है, बाद में कोर्ट से वह केस हार जाता है, क्योंकि उसने अपनी जमीन बेच दी है, कागजी कार्यवाही पूरी है, अतः अदालत कोई राहत नहीं दे सकती। इसी बीच काली का बेटा आई.ए.एस. अधिकारी बन गया है और उसे पिता का जमीन का दर्द फिजूल लगता है। उसे अपनी मंजिल मिल गई है। वह तो सुविधा की रेलगाड़ी में सवार हो गया है और उसका रवैया छूट गए यात्रियों के प्रति वही है, जो रेलगाड़ी में सवार यात्रियों का होता है। लेकिन काली के लिये वह मंजिल नहीं है। यद्यपि अपने बेटों को ऊँचे ओहदों पर पहुँचाने का उसे संतोष है, लेकिन समाज में सामान्य दलित का दर्जा ऊँचा न उठने से उसे असंतोष भी है। उसके बेटों को तो मंजिल मिल गई है, लेकिन काली का स्थान तो अपने दलित भाई–बंधुओं के बीच है। अफसर बेटे की कोठी में नौकरों–चाकरों से सेवा करवाने में उसे चैन नहीं है। इसलिए वह अपनी पत्नी पाशों के साथ गठरी उठाकर गांव को चल देता है, जो बेटे के लिए अब नरक है।

कुल मिलाकर जगदीश चन्द्र ने इस उपन्यास–त्रयी की रचना द्वारा हिंदी उपन्यास के एक महत्वपूर्ण रिक्त स्थान की पूर्ति की है। दलित जीवन भारतीय समाज का बहुत बड़ा हिस्सा है, जो सामाजिक जीवन में उपेक्षित रहा ही है, सृजनात्मकता के क्षेत्र में भी बहुत उपेक्षित रहा है। जगदीश चन्द्र ने 'धरती धन न अपना', 'नरक कुण्ड में वास' तथा 'जमीन अपनी तो थी' की अपनी उपन्यास़–त्रयी में इसी मानवीय सार तत्व को बचाए रखने के संघर्ष की कथा काली की जीवन कथा के माध्यम से कही है। काली के जीवन की हर सफलता में उसके मानवीय सारतत्व की असफलता अन्तर्निहित है।

lanHkZ %

1. हिन्दू बनाम हिन्दू, डॉ. राममनोहर लोहिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 13
2. जगदीश चन्द्र दलित जीवन के उपन्यासकार, सं. चमनलाल, प्रकाशक–आधार प्रकाशन, प्रा. लि., हरियाणा, प्रथम संस्करण–2010
3. जगदीश चन्द्र एक रचनात्मक यात्रा, सं. तमरेस गुजराल, विनोद शाही, सतलुज प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्रथम पेपर बैक संस्करण–2007, पृ. 24
4. जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड–एक, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृ. 24
5. जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड–एक, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृ. 235
6. जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड–एक, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन,, पंचकूला, हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृ. 235
7. जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड–एक, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन,, पंचकूला, हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृ. 333
8. जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड–एक, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन,, पंचकूला, हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृ. 344
9. जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड–एक, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन,, पंचकूला, हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृ. 344

****

fgUnh nfyr mU;klkk dk oSf'k"V;

v'kksd dqekj ek;h*

दलित शब्द की व्युत्पत्ति 'दल' धातु से हुई है जिसका अर्थ पिछड़ा, शोषित, रौंदा हुआ, अविकसित, अछूत आदि है, अर्थात् जिसे दबाया गया, विकसित नहीं होने दिया गया, परम्परागत व्यवस्था से उपेक्षित रखा गया, जिसका जीवन कीड़े–मकोड़े जैसा घृणित है; ऐसा मानव दलित है। दलितों को अस्पृश्य, अंत्यज, दास, हरिजन, शूद्र आदि नाम भी दिए गए हैं। वर्ण और धर्म व्यवस्था को नकारने वाला विद्रोही संघर्षरत समाज 'दलित' है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि शोषित मानव दलित है। शेड्यूल कास्ट, डिप्रेस्ड क्लास को भी दलित माना गया है। कँवल भारती कहते हैं– ''वास्तव में दलित वही व्यक्ति हो सकता है, जो सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से दीन–हीन है।....... जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गंदे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही सिर्फ वही दलित है।''[1]

हिन्दी दलित उपन्यासों के निम्नलिखित वैशिष्ट्य हो सकते हैं– भारतीय शास्त्र–सम्मत संस्कृति का विरोध, दलित अस्मिता का स्वीकार, शोषण के प्रति आक्रोश–प्रतिशोध, दलितों में व्याप्त अंतर्विरोधों का विरोध, भोगे हुए सच का परिलक्षण करना आदि।

दलित उपन्यासों का जब जिक्र आता है तो 'धरती धन न अपना', 'नाच्यौ बहुत गोपाल', 'महाभोज', आदि का विश्लेषण होना चाहिए। लेकिन ये उपन्यास गैर दलितों द्वारा लिखे गये हैं। 'गैर दलितों द्वारा लिखित उपन्यास इस मायने में अलग हैं कि वे समन्वय की नहीं, संघर्ष की बात करते हैं, जो दलित समाज को वर्ण व्यवस्था से मुक्ति देना, उसे ज्ञान और सत्ता की प्रक्रिया से जोड़ेगा, एक बेहतर समाज का निर्माण करेगा यह एक महत्वपूर्ण बात है, जो पारम्परिक उपन्यासों से दलित उपन्यासों को अलग करती है।'[2] ऐसा कहकर इसे दलित साहित्य के दायरे से बाहर रखा जाता रहा हैं। इन पर पर्याप्त वैचारिक बहसें हैं। मतैक्य नहीं। इसीलिए दलितों द्वारा लिखे गए उपन्यासों का जिक्र ही समीचीन है। सन 1985 ई0 में भारतीय सामाजिक संस्थान द्वारा प्रकाशित 'मिट्टी की सौगन्ध' नामक प्रेम कपाड़िया द्वारा लिखित उपन्यास में दलित और सवर्ण के मध्य आदर्शवादी समाधान दिखाया है। उपन्यास का आरम्भ गाँव के जमींदार मदन विजेंद्र सिंह एक ऐसा नायक है, जो अपने वर्ग द्वारा किए गये अत्याचारों, कुत्सित कृत्यों को जानकर उससे घृणा करता है। ठाकुर विजेंद्र ही शीला को न्याय दिलाता है और विवाह भी कर लेता है। उपन्यास का अंत ठाकुर मदन सिंह की गिरफ्तारी से होता है। बुराई पर अच्छाई की जीत के साथ उपन्यास का आदर्शवादी सुखांत हो जाता है। ''उपन्यास लेखक ने डॉ0 अम्बेडकर कि उक्ति–''भारतीय गाँव हिन्दू समाज व वर्ण व्यवस्था का वर्किंग प्लांट हैं जहाँ हिन्दू व्यवस्था की पौध तैयार की जाती है; को ध्यान में रखकर इस उपन्यास को रचा है। यह सामाजिक न्याय की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इसमें यथा–तथ्यता और कल्याण का आदर्शवादी जोड़ है। यह यथार्थवाद के करीब भी नहीं पहुँचता।''[3]

---

*शोद्य छात्र, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गाँधीनगर।

किसी दलित उपन्यासकार का दलित चेतना सम्पन्न उपन्यास 'छप्पर' को माना जाता है, जिसके लेखक जयप्रकाश कर्दम हैं। इस संबंध में डॉ0 एन0सिंह ने लिखा है कि– ''जय प्रकाश कर्दम का उपन्यास एक परिवर्तकारी उपन्यास है जिसे मैं हिंदी का पहला उपन्यास मानता हूँ।''[4] छप्पर में दलितों की समस्याओं के साथ मुक्ति की पहल दिखाई पड़ती है। उपन्यास का नायक चन्दन गाँव में शोषण–उत्पीड़न, अन्याय, गरीबी, लाचारी देखकर पढ़ता–लिखता है, उसके भीतर मुक्ति एवं सम्मान की चेतना आती है। वह गाँव के लोगों को चैतन्य करता है। वह कहता है– ''तुम लोग यह भी मानते हो कि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है और सबकुछ उसकी इच्छा और आदेश से होता है। हाँ, हाँ बिल्कुल मानते हैं। लोगों ने फिर एक सहमति सी जतायी, तो इसका मतलब यह हुआ कि मोहताज रहते हो और तुमको नीच, अछूत या हेय मानकर दूसरें लोग जो तुमसे घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण अपमान के शिकार हो, इस सबका कारण है ईश्वर है। वही तुम्हारी यह दुर्दशा करता है।''[5] चन्दन लोगों की तरफ एक बार फिर देखता है और अपनी बात कहता हैं– ''तब तुम सोचो ऐसे ईश्वर को क्यों माना जाए। जो ईश्वर तुम्हारा भला नहीं करता, बल्कि बुरा करता है उसको मानने का कोई औचित्य नहीं।''[6] चन्दन अपने समाज के मित्रों के साथ दलित मुक्ति के बारे में लगातार विचार–विमर्श करता है और सम्मान की लड़ाई को पहली लड़ाई बताता है– ''अमें प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर आने की जरूरत है, लेकिन सबसे पहले जरूरत है सामाजिक सम्मान की। यदि तुम्हारे पास सामाजिक हैसियत है तो तुम्हारे लिए हर कहीं गुंजाइश हो सकती है। यदि तुम्हारी सामाजिक हैसियत नहीं है तो चाहे तुम कोई भी काम कर लो, कितना भी धन कमा लो इस सबका कोई महत्व नहीं। पैसा भी जीवन का फैक्टर है, मैं इससे इंकार नहीं करता, लेकिन उससे पहले जरूरी है, समाज में तुम्हारी हैसियत का होना।''[7]

'छप्पर' के कथ्य पर विचार करते हुए डॉ0 पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी ने लिखा है– ''मेरा आशय यह नहीं है कि छप्पर में दलित समाज की यातनाओं, उनके साथ किये जा रहे पाखंडपूर्ण एवं अमानवीय सामाजिक व्यवहार अथवा उनकी दुर्गति–उपेक्षा, उत्पीड़न प्रवंचना की कथा के माध्यम से जयप्रकाश कर्दम ने महज अपनी कलात्मक भूख या रचनात्मक जिजीविषा को शांत करने की कोशिश की है। अपितु इसके विपरीत यहाँ हम लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता, उसके समता मूलक समाज की संरचना के सरोकार से रूपबरू होते हैं।...... यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास छप्पर हिंदी दलित साहित्य की नींव का पत्थर या पथ प्रदर्शक 'माइक स्टोन' है।''[8]

ज्ञान और सत्ता से वंचित रहने के कारण छप्पर के चन्दन जैसे दलित पात्र भूख के लिए संघर्ष करते है और ज्ञान के अभाव में सामाजिक विकास की प्रक्रिया से बाहर हो जाते हैं। 'हिडिम्ब' में आर. एस. हरनोट ने शावणु के माध्यम से ज्ञान और सत्ता के खेल में दलित समाज के उत्पीड़न और आर्थिक शोषण का यर्थाथ चित्रण किया है। यह दलित समाज का वह यथार्थ है, जिसे पिछले एक दो दशकों में प्रकाशित दलित उपन्यासों में चित्रित किया गया है। साखी के संपादक और जानेमाने आलोचक डॉ0. सदानंद शाही के अनुसार ''हारनोट प्रेमचन्द की परम्परा के कथाकार हैं। जब हम किसी कथाकार को प्रेमचन्द की परम्परा का कथाकार कहते हैं तो इसका अर्थ होता है समाज के शापित, दलित और उपेक्षित वर्ग को साहित्य में केन्द्रीयता प्रदान करना। इस दृष्टि से हिडिम्ब एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसकी कथा में वह तीक्ष्णता और तीव्रता मौजूद है जो मध्यवर्गीय चकाचौंध को भेदकर उस ग्रामीण अंचल तक पहुंचती है जहाँ आज भी असली भारत निवास करता है। प्रख्यात आलोचक प्रो0 सूरजपाल का कहना है कि ''हिडिम्ब आज की सत्ता का असली चेहरा प्रस्तुत करता है जिसे हरनोट ने जोरदार मिथ के साथ अपनी पूरी क्षमता के साथ शावणू जैसे दलित के चरित्र के साथ गढ़ा है।''[9] श्रीनिवास श्रीकान्त, वरिष्ठ कवि और आलोचक के अनुसार ''हिडिम्ब एक रचनात्मक उपन्यास है जो साम, दाम, दण्ड और भेद की नीतियों की व्याख्या करता है और उसे एक स्वस्थ उपाख्यान के कथावृत्त में परोता है। इसकी पूरी कहानी कुल 28 कथावृत्तों में उकेरी गई है जिसके विस्तार में हिमाचल के पूरे पर्वतशास्त्र को संजोया गया है। जाति, पार्थक्य, पर्यावरण, देव संस्कृति का सही स्वरूप, अनुबन्धीय

विवाहादि इसके कुछ पहलू है। तात्त्विक हिन्दी में ऐसी रचनाओं से रचनात्मक साहित्य के इतिहास में एक और सकारात्मक अध्याय जुड़ता है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगा।''[10]

हिंदी दलित साहित्य का अन्य उपन्यास श्री सत्यप्रकाश द्वारा लिखित 'जिस तरह भई सवेर' है। यह अपने आप में नया है। इस उपन्यास का कथ्य आरक्षण और अन्धविश्वास को आधार बनाकर रचा गया है। आरक्षण जहाँ दलितों कि राजनीतिक समस्या से जुड़ा है वही अन्धविश्वास सामाजिक समस्या से। सत्ता वर्ग जहाँ एक तरफ दलित समाज में फैले हुए अन्धविश्वास के सहारे मानसिक सामाजिक और आर्थिक शोषण करता है वही दूसरी तरफ राजनीतिक अधिकार के रूप में दलितों को प्राप्त आरक्षण का विरोध करता है। उपन्यास यह दिखाता है कि जमींदार, प्रशासन, पुजारी, सभी दलितों में फैली अज्ञानता, अन्धविश्वास और जाति व्यवस्था से लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं। अंत में अन्याय, अज्ञानता और उत्पीड़न के दलितों के अंधकारपूर्ण जीवन में जैसे–तैसे ज्ञान का सवेरा होता है। उपन्यास में हलवान की आँखों से पर्दा उठ जाता है और वह समाज में व्याप्त अन्धविश्वास और शोषण के विरूद्ध जागृति फैलाने का संकल्प लेते हैं– ''आपने ठीक कहा समधी जी। मैं इसी क्षण से अंधकार का त्याग करता हूँ और प्रकाश का अभिनन्दन करता हूँ। तमस भरी रात बीत गई। नया सवेरा शुरू हो गया है। मेरा अज्ञान मिट गया। ज्ञान चक्षु खुल गए। अब मैं शिवदासों के ही नहीं मनसुखों के मामले भी स्वयं लडूँगा। उनका दुःख भी मेरा ही दुःख है।''[11]...... इस उपन्यास पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के उपरांत श्री जयप्रकाश कर्दम लिखते है कि– ''उपन्यास के जरिये सामाजिक और धार्मिक रूढ़िवादिता के खिलाफ समाज में चेतना प्रवाहित करने की दृष्टि से 'जस तस भई सवेर' एक सफल प्रयास है।''[12]

'तर्पण' भारतीय समाज में सहस्राब्दियों से शोषित, दलित और उत्पीड़ित समुदाय के प्रतिरोध एवं परिवर्तन की कथा है। इसमें एक तरफ कई–कई हजार वर्षों के दुःख, अभाव और अत्याचार का सनातन यथार्थ है तो दूसरी तरफ दलितों के स्वप्न, संघर्ष और मुक्ति चेतना की नई वास्तविकता। तर्पण उपन्यास वैचारिक दृष्टि से वर्ण–संघर्ष की समस्या को रेखांकित करता है। उपन्यास में एक सांकेतिक प्रसंग है वर्ण–संघर्ष और वर्ग–संघर्ष का अंतर स्पष्ट है। भाई जी के नेतृत्व में दलितों ने एक आन्दोलन मजदूरी बढ़ाने का किया और जमीदारों को बाध्य होकर मजदूरी बढ़ानी पड़ी। भाई जी इसे वर्ग–संघर्ष कहते हैं– ''वह वर्ग संघर्ष था। रोटी के लिए। यह वर्ग–संघर्ष है। इज्जत की लड़ाई रोटी की लड़ाई से ज्यादा जरूरी है। हरिजन एक्ट हम इसी कानून से इस नारग को नाथेंगे।''[13] और इसके बहाने महिलाओं की इज्जत की रक्षा के लिए जो संघर्ष हुआ, उसे वर्ग–संघर्ष कहा है।

'मुक्तिपर्व' मोहनदास नैमिशराय का दलितों के गुलामी, विद्रोह, शिक्षा एवं संघर्ष तथा आत्मविश्वास को अभिव्यक्त करने वाला उपन्यास हैं। उपन्यास में अन्य समस्याओं के साथ दोहरी गुलामी से जूझते दलित समाज का जीवित शब्दों के माध्यम से चित्रांकन किया गया है। गुलामी का वीभत्स रूप लेख के वर्णन में देखने लायक हैं– ''बंसी मरता नहीं क्या करता। उसके लिए मुँह से निकले नवाब साहब के एक–एक शब्द की तामील करना था। वह भागकर बैठक खाने में आया और जैसे ही बंसी ने उसकी तरफ हथेली की नवाब साहब ने उस पर अन्दर का बलगम थूक दिया। ढेर सारी खंगार बंसी की हथेली पर उगल दी गई थी। नवाब साहब के लिए वही उगलदान था वही पीकदान। बंसी की आँखों में आँसू भर आए थे, मुँह से उफ़ तक न की थी उसने। वैसे ही हथेली पर बलगम लिए बैठक खाने के बाहर आ गया था। उसके भीतर अंधड़–तूफान था। बाहर से वह बिल्कुल सहज।''[14]

आजादी के उगते हुए सूर्य को देखकर दलितों में भी कहीं न कहीं खुशी की लहर दौड़ गई थी। उन्होंने भी सोचा था कि आजादी के बाद अब जाति–पाँत, छुआछूत की भावना से उन्हें आजादी मिल जायेगी। परन्तु मात्र वह भ्रम ही था। अंग्रेजों के बाद वे अब भी जमींदारों, नवाबों, सवर्णों के तन, मन, धन से गुलाम ही बने रहने वाले थे। गुलामी से मुक्ति उनके लिए था मगर बहुमुश्किल। ''लोगों को दुःख होता है हमारी आजादी से। पशु–पक्षियों की आजादी उने भाती है। चिड़ियों को वे पिंजरे से मुक्त कर देते हैं, पर हमारी मुक्ति के सवाल पर चुप्पी साध लेते हैं। हम स्वयं कुछ कहे तो हमें आँखे दिखाते हैं,

हम पर आग बबूला हो बरसते है। जैसे हम काठ के हो। हमारे भीतर संवेदनाएँ ही न हो। हम कोई मुर्दा है।''[15] आजादी के बाद बंसी नवाब की गुलामी छोड़ देता है और जब नवाब कहता है कि तुम तो हमारे आदमी हो। अपे बच्चों को हमारे यहाँ काम पर भेजना, तब वह क्रोधित हो उठता है पर संयमित निःसंकोच नवाब को जवाब देता है– ''नवाब साहब, न अब मैं अब किसी की गुलामी करूँगा न ही मेरा बच्चा..... मुझे गुलाम बने रहने की आदत नहीं नवाब साहब। वैसे भी देश अब आजाद हो गया है। अब न कोई किसी का गुलाम है न कोई किसी का मालिक। सब बराबर हैं।''[16] 'मोरी की ईंट' मदन दीक्षित का बहुत ही महत्वपूर्ण उपन्यास है। सफाई कर्मचारियों के समाज पर लिखा गया इतना अच्छा दूसरा कोई उपन्यास नहीं दिखाई देता। इतने भीतर के अनुभवों को हासिल करके उन्होंने ये लिखा, लेकिन दलित साहित्य की कोई वस्तुगत कसौटी निर्धारित नहीं है, इसलिए उस उपन्यास पर चुप्पी साध ली जाती है, उसके महत्व को स्वीकार नहीं किया जाता, उस पर चुप हो जाते हैं लोग।

निष्कर्षतः दलित उपन्यासों में केन्द्रीय समस्या– दलित शोषण उत्पीड़न के साथ अस्मिता व मुक्ति की लड़ाई है। दलितों की समस्याओं, अत्याचारों एवं पीड़ाओं को अधिकतर अपने उपन्यासों में प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है। शोषण की समस्या, उनका सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर यथार्थ चित्रण करना दलित उपन्यासों का लक्ष्य रहा है। दलित उपन्यास मानव समाज में भेदभाव रहित, ऊँच, नीच से हटकर समाजिक क्रांति लाना चाहता हैं। 'यहाँ 'सर्वे भवन्तु सुखिना सर्वे सन्तु निरामया' की लोकहित सर्वोदय की कामना करता है। भारतीय समाज को मानवीय मूल्यों के प्रति सजग बनाता है। जन्म प्रथा, वर्णाश्रम, मनुवादी चिन्तन परम्परा, झूठी धार्मिक मान्यता का खण्डन करता है। सामान्यतः जाति व्यवस्था को नकारने वाला, शोषित मानव की व्यथा बताने वाला, दबे कुचले लोगों की वाणी वाला, विद्रोही संघर्षरत मानव की आम वेदना को व्यक्त करने वाला साहित्य दलित उपन्यास है।

lUnHkZ %

1. कँवल भारतीय– 'दलित साहित्य की अवधारणा', राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2001, पृ0 192
2. कर्मानंद आर्य ब्लॉग, डॉ0 कर्मानंद आर्य
3. सर्वेश कुमार मौर्य– 'यथार्थवाद और हिंदी दलित साहित्य, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृ0 192
4. डॉ0 एन सिंह– 'उत्पीड़न का रचनात्मक प्रतिफलन' : छप्पर (पुस्तक समीक्षा); न्यायचक्र, मासिक दिल्ली, जुलाई 1994 (संयुक्तांक), पृ0 54
5. जयप्रकाश कर्दम– 'छप्पर', संगीता प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 92
6. जयप्रकाश कर्दम–'छप्पर', संगीता प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 23
7. वहीं, पृ0 41
8. डॉ0 पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ0 72
9. साहित्य शिल्पी, कॉम
10. साहित्य शिल्पी, कॉम
11. सत्यप्रकाश– 'जस तस भई सवेर', कामना प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 9
12. जयप्रकाश कर्दम–'रूढ़िवादिता के खिलाफ चेतन के स्वर : जस तस भई सेवरा (पुस्तक समीक्षा), दलित साहित्य 1999, पृ0 318
13. शिवमूर्ति 'तर्पण' तद्भव अंक 7, अप्रैल 2002, सं0 अखिलेश, पृ0 240
14. मोहनदास नैमिशराय– 'मुक्तिपर्व', दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999, पृ0 5
15. वहीं, पृ0 11
16. वहीं, पृ0 36

****

pkV % tkrh; }U} dh dgkuh

jkfgr oek*

'चोट' काशीनाथ सिंह की कहानी संग्रह 'कहानी उपखान' में संग्रहीत कहानी है। एक कहानीकार के रूप में काशीनाथ सिंह प्रेमचन्द की परम्परा की अगली कड़ी को आगे बढ़ाने वाले कहानीकार माने जाते हैं। ''प्रेमचन्द से चली आती प्रगतिशील यथार्थवादी कथा परम्परा को आगे बढ़ाने में अमरकान्त, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कन्डेय, शेखर जोशी और भीष्म साहनी के बाद जिन कथाकारों का उल्लेखनीय योगदान रहा है; उनमें भी काशीनाथ सिंह और ज्ञानरंजन का नाम जरूरी तौर पर लिया जाता है और लिया जाएगा।''[1]

हिन्दी साहित्य में भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण–विभाजन, जाति–विभाजन आदि के संदर्भ में बहुत कुछ लिखा जाता रहा है। आज तो हिन्दी साहित्य में उक्त विभाजन से उत्पन्न अमानवीय व अनैतिक व्यवहारों को लेकर वकायदा विमर्श चल रहा है, जिसे दलित विमर्श की संज्ञा दी गई है। प्रेमचन्द की 'सवा सेर गेहूँ', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति' जैसी कहानियाँ भारतीय समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था के घिनौने रूप को उजागर करती हैं। दलित साहित्यकार ओमप्रकाश बाल्मीकि अपनी आत्मकथा 'जूठन' व 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' जैसी कहानियों में तथा मोहनदास नैमिसराय 'अपने–अपने पिजरें' (आत्मकथा) में उक्त जाति व्यवस्था के अमानवीय रूप को पूरे यथार्थ के साथ बयां करते हैं। भारतीय समाज में यह वर्णव्यवस्था व जातिव्यवस्था श्रम के जन्मजात विभाजन पर आधारित रही है। किन्तु आज श्रम–विभाजन में काफी कुछ परिवर्तन आ गया है। अब यह जन्मगत न रहकर अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर निर्धारित होने लगा है। इस संदर्भ में वरिष्ठ समीक्षक खगेन्द्र ठाकुर की टिप्पणी उल्लेखनीय है कि ''जाति व्यवस्था ने हमारे समाज को एक हद तक जड़ बना दिया। लेकिन आधुनिक युग में उस जड़ प्रथा में नयी गतिशीलता का संचार हुआ और भेद–भाव के बावजूद विभिन्न जातियों के सदस्यों के संबंधों में परिवर्तन आने लगा। उस परिवर्तन का आधार है नये युग का नया श्रम–विभाजन या जीवन में नयी ज़रूरतों एवं लक्षणों का उद्भव।''[2]

काशीनाथ सिंह अपनी कुछ कहानियों में श्रम–विभाजन में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप जाति व्यवस्था में नई गति और लक्षणों को उजागर करते हैं। इन्हीं में एक लक्षण है–जातीय द्वन्द्व। यह जातीय द्वन्द्व दलित वर्ग के स्थिति व सामाजिक हैसियत में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है, क्योंकि तथाकथित उच्च वर्ग दलितों के उत्थान व प्रगति को पूरी तरह से स्वीकार नहीं कर पा रहा है। काशीनाथ सिंह की 'चोट', 'कहानी सराय मोहन की', 'वे तीन घर' इत्यादि कहानियाँ इसी विषय पर केन्द्रित हैं।

'चोट' एक ही गाँव के साथ–साथ पढ़े–लिखे दो नवयुवकों (निकाम व संचासिंह) की कहानी है। दलित वर्ग (गड़ेरिया जाति) में जन्मा निकाम शहर में चपरासी की नौकरी करने लगा, वहीं उच्च वर्ग (ठाकुर जाति) में जन्म लेने वाला संचा सिंह एक छोटे से रेस्तराँ में बेयरा हो गया है। इस प्रकार यह निकाम का जन्म आधारित पेशे से मुक्त होकर नये श्रम–विभाजन और नये पेशे में शामिल होना है और संचा सिंह का द्विजत्व से संबंधित पेशे से निकलकर बीते समय में दलितों के लिए निर्धारित पेशे को अपनाना है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इस प्रकार इसे वर्तमान समय का नया श्रम–विभाजन कह सकते हैं, जो कि जन्मगत श्रम–विभाजन से भिन्न है। किन्तु संचा सिंह जैसे उच्च वर्गीय लोग बेयरा का काम भले करने लगे हो, लेकिन निकाम जैसे दलितों को चपरासी के पद पर भी स्वीकार नहीं करना चाहते हैं और बार–बार उसे (निकाम को) उसकी जाति और हैसियत की याद दिलाने से चूकते भी नहीं हैं। इसीलिए तो रेस्तराँ में ग्राहक के रूप में आये निकाम पर संचा सिंह घिनौनी और अनैतिक टिप्पणी करते हैं कि–

''तुम्हारी भेड़–बकरियों के क्या हाल–चाल हैं? हालाँकि यह अच्छी बात है कि तुम्हारे बदन से उनकी खुशबू नहीं आ रही है।''[3]

''है तो बहुत कुछ लेकिन तुम्हारी हैसियत किस मिठाई की है।''[4]

''कितने मूर्ख हो तुम! चूतिया के चूतिया ही रह गये।''[5]

उक्त टिप्पणियाँ इस बात के प्रमाण हैं कि संचा सिंह जैसे लोग भले ही नये श्रम–विभाजन के फलस्वरूप बेयरे का कार्य कर रहे हैं, लेकिन उनका जातीय दम्भ व अहंकार तथा सामंती मानसिकता आज भी बरकरार है और वे 15वीं–16वीं सदी में जी रहे हैं। यही जातीय दम्भ और अभिमान ही उन्हें निकाम जैसे लोगों को एक मनुष्य के रूप में न देखकर जाति के रूप में देखने को बाध्य कर देता है। यहाँ मैं इस कविता का ज़िक्र करना उचित समझता हूँ–

''चिड़िया भूखी थी
इसलिए गुनहगार थी
मारी गई वह चिड़िया
जो भूखी थी।
गोरख पांडेय ने गलत लिखा था
वह चिड़िया भूख से नहीं
चिड़िया होने से पीड़ित थी।
वह चिड़िया थी
इसलिए गुनहगार थी
चिड़िया जो मारी गई।''[6]

यह कविता इस बात को स्पष्ट करती है कि दलित व स्त्री किसी और कारण से शोषित व पीड़ित नहीं हैं, बल्कि उनका दलित या स्त्री होना ही उनका गुनाह बन गया है, ठीक उक्त कविता की चिड़िया की तरह।

नये श्रम विभाजन ने नयी परिस्थितियाँ व नये अवसर उत्पन्न किये हैं। इस सबके फलस्वरूप दलितों में भी नयी चेतना आयी है और वे अब किसी प्रकार की भद्दी टिप्पणी या शोषण को सहन न कर उसका पलटवार जबाब देने को तैयार हैं। इसीलिए तो निकाम भी संचा सिंह को उनके काम की याद दिलाते हुए कह उठता है कि ''जबान सँभालकर बात कर। तमीज़ के साथ, आदर से। यह मत भूल कि तू बेयरा है।''[7]

बात यहीं खत्म नहीं हो जाती है। निकाम के द्वारा संचा सिंह को टिप देना, उसके लिए असह्य हो जाता है। इस पर जातीय अभिमान और सामंती संस्कारों में पला–बढ़ा संचा सिंह निकाम से शारीरिक रूप से भिड़ जाता है और कहता है कि, ''तुम्हारा टिप तुम्हारी गाँ........ में डाल देंगे। साले गड़ेरिया कहीं का; तू अपने को समझता क्या है?''[8] इस प्रकार जातीय अभिमान में जकड़ा संचा सिंह निकाम के लिए जाति आधारित गालियों का प्रयोग करता है, जो उसके सामंती मानसिकता का परिचायक है। रेस्तराँ का मालिक निकाम से क्षमा मांगता है तो संचा सिंह तनमना उठता है और मालिक के जबड़े पर एक घूँसा मार कर रेस्तराँ से निकल जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नये श्रम–विभाजन फलस्वरूप उत्पन्न नयी परिस्थितियाँ पुराने सामाजिक संबंधों को तोड़ने–छोड़ने का भौतिक आधार तैयार करती है, किन्तु जातीय अभिमान और सामंती संस्कारों में जकड़ी पुरानी मानसिकता में आज भी बहुत बदलाव नहीं आया है। इसीलिए

यह मानसिकता नये प्रकार के जातीय द्वन्द्व को जन्म दे रही है। इस बात को 'चोट' कहानी प्रभावकारी ढंग से स्पष्ट करती है।

lanHkZ %

1. हमसफ़रनामा, स्वयं प्रकाश, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण–2010, पृ0–60
2. कहन (पत्रिका), सं0 मनीश दुबे, अंक–4, अगस्त 2000, पृ0–307
3. कहनी उपखान, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2003, पृ0–122
4. वहीं, पृ0–123
5. वहीं, पृ0–123
6. दलित विमर्श की भूमिका, कँवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2004, पृ0–7
7. कहनी उपखान, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2003, पृ0–126
8. वहीं, पृ0–125

****

etnj thou dh =klnh % ccYk

jktho dqekj feJ*

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में 'बबूल' एक महत्वपूर्ण कृति है। ग्रामीण जीवन के प्रमुख रचनाकार विवेकी राय ने इस उपन्यास में गाँवों का बहुत ही जीवन्त चित्रण किया है। इस आंचलिक उपन्यास का गाँव कथाकार का अपना क्षेत्रीय गाँव है लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि उपन्यास को पढ़ते समय हम इसमें अपने आस–पास के गाँवों का चित पूरे अपनेपन से महसूस करते हैं। वेदप्रकाश अमिताभ का यह कथन महत्वपूर्ण है कि ''विवेकी राय के उपन्यासों के रसास्वादन के लिए पाठक में एक विशेष प्रकार के संस्कार की आवश्यकता है। जिनको ग्रामीण जीवन से अरुचि है, ग्रामीण शब्दावली से अपरिचय है, ग्रामीण प्रकृति और परम्पराएँ जिनके लिए किंवदन्तियाँ मात्र हैं वे विवेकी राय के उपन्यासों के मर्म तक नहीं पहुँच सकते।''[1]

हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक सशक्त विधा के रूप में स्थापित करने और उसे विश्व उपन्यास–साहित्य के समतुल्य अपने बल पर खड़ा करने वाले प्रेमचन्द ने समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग दलित, स्त्री और किसानों को अपने साहित्य का मुख्य विषय बनाया, उन्हें सशक्त वाणी प्रदान की। लेकिन इसके बावजूद भी उनके समय के साहित्य का एकमात्र लक्ष्य भारत की आजादी ही था। सारी विसंगतियों को भारतीय गुलामी की परिणति मान लिया गया था। प्रेमचन्द इन चीजों को महसूस करते थे, वे कहते हैं सुराज मात्र सत्ता का हस्तान्तरण ही नहीं है कि जान की जगह गोविन्द सत्ता आसीन हो जाय। वे कहीं न कहीं शासन–व्यवस्था में परिवर्तन की बात करते हैं।

आजादी के बाद के साहित्य को देखने पर हमें यह महसूस होता है कि आजादी मात्र सत्ता परिवर्तन ही होकर रह गयी है। समाज के निचले तबके के लोगों के लिए इस आजादी का कोई मायने नहीं है। 'बबूल' उपन्यास का नायक महेशवा (महेश राम) भी एक मजदूर है और व्यवस्था का सताया हुआ अत्यन्त दीन–हीन व्यक्ति है। कथाकार ने महेशवा के माध्यम से पूर्वी अंचल के खेत मजदूरों की ज्वलंत समस्याओं एवं यातनाओं का दृश्य खींचा है। जिसमें किसी लाग–लपेट के बदले यथार्थता है, मात्र कोरी बातें न होकर मार्मिकता का पुट है। किसी न किसी प्रकार से मजदूरों का शोषण व्यवस्था और प्रकृति दोनों एक साथ करते हैं। खेतों के मालिक उन्हें दिन–रात बैलों की तरह जोते रहते हैं, बैलों को तो भर पेट अन्न देते हैं लेकिन मजदूरों के अन्न से उनका कोई सरोकार नहीं रहता है। प्रकृति भी बाढ़, सूखा आदि विपत्तियों से इन्हीं को अपना शिकार बनाती है। बाढ़ जहाँ अमीरों के लिए दर्शनीय स्थल के रूप में आती है वहीं मजदूरों के लिए अभिशाप के रूप में।

उपन्यास की मुख्य समस्या यही है कि किस प्रकार एक मजदूर का सारा जीवन मात्र दो वक्त के भोजन के इन्तजाम में ही चला जाता है, उनके लिए उत्सव–त्योहार, सम्बन्ध सारी चीजें रोजी–रोटी की व्यवस्था तक ही सीमित हैं। कथाकार इस उपन्यास में स्कूल मास्टर के रूप में उपस्थित रहता है और सारी घटनाओं में शामिल होकर काफी करीब से देखता है, वह उनकी मदद तो करना चाहता है लेकिन स्वयं अभावग्रस्त है। उपन्यास के आरम्भ में ही लेखक घुरबिन के द्वारा गरीबों की नियति का

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

वर्णन करता है। 'काम चल जाता है' घुरबिन के लिए तो संतुष्टि का मामला है लेकिन इससे कुढ़न अवश्य होती है। अभावों के बीच भी घुरबिन पूर्ण संतुष्ट है। उसका विश्वास है कि ''छोटा–बड़ा भगवान के द्वार से ही लोग बनकर आते हैं''।[2] घुरबिन के यहाँ जन्माष्टमी के शुभ दिन पुत्र पैदा होता है लेकिन दिन विशेष को जन्मने मात्र से ही उसकी नियति तो नहीं बदल जाती। उसे भी तो घुरबिन की विपत्तियाँ ही विरासत में मिलती हैं।

पिता की मृत्यु के बाद महेशवा को बचपन से ही पेट की जिम्मेदारी का निर्वाह करना पड़ता है, जिसके बोझ से उसका बचपन नष्ट हो जाता है और यही निर्वाह उसे जीवन भर करना पड़ता है। लेखक ने कथा में शोषण के इस दूसरे पहलू का भी समावेश किया है कि गरीबों का शोषण धनी वर्ग के साथ ही गरीब भी करते हैं क्योंकि नरेश जब दरपनी के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है तो इस प्रस्ताव के पीछे उसका शोषक चेहरा स्पष्ट लक्षित होता है। ''इसकी महतरिया ऐसी गुमानी है कि सुनती ही नहीं। बनिहार का बेटवा काम–धाम नहीं करेगा तो क्या कुर्सी तोड़ेगा? कहता हूँ, किसी के साथ रह जाओ और लड़के को काम में लगाओ।''[3]

लेखक गाँवों के स्वर्ग और नरक होने का विवेचन करता है। प्रकृति के हरे–भरे दृश्यों को देखकर वह कहता है कि स्वर्ग तो गाँव के बगल के सरेहि (सिवान) में बसता है। भरफाँड़ साग खोंटने पर जमींदार का लड़का दरपनी को पीटता है और शिकायत करने पर महेश को भी मारता है। पूरा गाँव इस ज्यादती को जानता है किन्तु कोई भी मुँह नहीं खोलता है। क्योंकि वे जानते हैं कि ''उनकी अदालत, उनकी पंचायत है, उनका थाना है और उनके सारे कानून हैं।''[4] ''कानून की वे सारी धाराएँ जिनमें गरीबों की रक्षा की गारण्टी है, झूठी है।''[5] लेखक को इस नारकीय स्थिति से बड़ा क्षोभ होता है और वह स्वर्ग को गाँव के बाहर की वस्तु मान लेता है।

कथाकार गाँवों में केवल दुःख, गरीबी, विकृतियों को ही नहीं देखता बल्कि इनके बीच से उत्सवधर्मिता, लोकरंग, आनन्द के लिए भी पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। महेशवा अपने युवावस्था में काफी सुदृढ़ व्यक्ति के रूप में उभरता है। वह पलकी के साथ हँसी ठिठोली करता है जिससे कि कथा की बोझिलता थोड़ी हलकी होती है। दुःखों के बीच से ही कथाकार खुशी के अवसर उपलब्ध कराता है। जीवन के मध्य काल में महेशवा का जीवन थोड़ा सुखमय दिखाई देता है क्योंकि वह शारीरिक रूप से सक्षम है और परिश्रम से सुख की सृष्टि करता है। लोक गीतों की उपस्थिति से कथा का लोकपक्ष खुलकर सामने आता है। तमाम विसंगतियों के बाद भी लोग अपने गीतों, अपने संस्कारों से जुड़े हुए हैं, यह लेखक के लिए संतोष का विषय है।

पहली पत्नी की मृत्यु के समय गाँवों में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों का वर्णन कथा में लेखक करता है। सोखा महेशवा की गरीबी का फायदा उठाता है और उसे फटकारता है। महेशवा प्रारम्भिक जीवन में ही अपने माता–पिता एवं पहली पत्नी को खो देता है। लेकिन इसके बाद भी वह बिखरता नहीं है और जीवन के सत्य को स्वीकार करता है। गाँव में बिजली आने की चर्चा है लोग काफी मुगालते में हैं, सूखा पड़ने के बाद भी लोग बिजली को लेकर काफी उत्साहित हैं। लेकिन उस भयंकर अकाल में तो महेश पोस्टर बन गया है मानों वह सरकार की गरीबों के लिए सारी योजनाओं का पर्दाफाश करता है, जहाँ कि कार्ड के बदले उसे पुलिस की लाठी खानी पड़ती है। महेशवा के जीवन में बाढ़, सूखा, अतिवृष्टि, दीवाली, होली आदि विपत्तियाँ और त्यौहार आते हैं लेकिन उसके लिए तो जीवन एक रोजी–रोटी के प्रबन्ध का हिस्सा है जैसे उसका जीवन तो दूसरों के सुख के लिए ही है। महेशवा मेहनत तो खूब करता है, लेकिन उस मेहनत का फल बाबू लोग उठाते हैं, जिनके लिए महेशवा एक मशीन है और उसकी नियति ही दूसरों के लिए हाड़ तोड़ना है।

महेशवा उस 'बबूल' के समान है जो कि निरन्तर धूप में जलता है, लेकिन कभी छितराता नहीं है। महेशवा भी दिन–रात, गरमी–जाड़ा, बरसात हमेशा खटता रहता है और ऐसे ही एक दिन मेहनत करते–करते खतम हो जाता है। यह जीवन–क्रम मात्र किसी एक महेशवा का नहीं है हमारे यहाँ आज

भी कितने लोग जीवन भर कुछ मालिकों के लिए प्रकृति से दिन–रात लड़ते हुए मरते हैं, जो जीवन की कठिन तपस्या को नहीं सह पाते एवं व्यवस्था के द्वारा जिनकी शक्ति निचोड़ ली जाती है वे स्वयं ही अपना जीवन समाप्त कर लेते हैं।

उपन्यास में कहीं–कहीं कथा का दोहराव है जिससे कि बोझिलता आ गई है लेकिन भाषा की सरसता ने इस उपन्यास को जीवन्त बनाये रखा है। कुछ लोग 'गोदान' से इस उपन्यास की तुलना करते हैं, लेकिन गोदान की कथा सृष्टि अलग है। होरी एक किसान है उसके पास खेत है, बैल है, उसके लिए खेत उसकी मरजाद से जुड़ा है। मरजाद का प्रश्न होरी के लिए उसके जीवन से भी महत्वपूर्ण है। जबकि महेशवा एक मजदूर है उसके लिए पेट भरने के अलावा और कोई भी प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। निस्संदेह होरी और महेशवा की मृत्यु समान परिस्थितियों में होती है लेकिन यह महज संयोग है। 'बबूल' उपन्यास पूर्वांचल के मजदूरों के दुःखों का चित्रण करता हुआ एक गतिशील उपन्यास है।

lnÒ lph %

1. विवेकी राय और उनका सृजन–संसार, सम्पादक– डॉ0 मान्धाता राय, प्राकरणिकी (पृ0 xii में उद्धृत)
2. बबूल, पृ0 8
3. वहीं, पृ0 33
4. वहीं, पृ0 39
5. वहीं, पृ0 39

****

f'kdat: dk nnl % nfyr L=h pruk dk ;FkkFkl nLrkot

Mk- dq lqeyrk*

सुशीला टाकभौरे की बहुचर्चित आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' सन् 2011 ई. में लिखी गयी दलित साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें सुशीला जी ने अपने जीवन के हर एक पहलु की अभिव्यक्ति बड़े ही सिद्दत व चेतनात्मक रूप में रचनाबद्ध करने का प्रयास किया है। 'शिकंजे का दर्द' में संताप है–दलित होने का, स्त्री होने का, यूं कहें कि सदियों से मूक बने रहने वाले हाशिये के समाज की पीड़ा व दंश की चेतनात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें शोषित, पीड़ित, अपमानित और अभावग्रस्त दलित जीवन की व्यथा का यथार्थपरक् अंकन है। स्त्री होना ही भारतीय समाज मे जैसे एक व्यथा की बात है। लेखिका कहती है– "मेरे आसपास एक शिकंजा जकड़ा हुआ था। हर बात के लिए बंधन अपमान अंकुश। अब इस शिकंजे का दर्द महसूस हो रहा है। यह शिकंजा क्या है? कब से है? क्यों? अब मैं इस बात को गहराई से समझ रही हूँ और जीवन के उन क्षणों को याद कर रही हूँ, जो अभाव और अपमान के बीच मैंने जिया है।"[1]

चाहे हमारा देश हो या विश्व के अन्य देश, हर जगह शोषण, उत्पीड़न का शिकार स्त्री ही रही है। यह सच है कि जिस देश में वर्णभेद, जातिभेद जैसी कुलषित परंपराएँ हैं, वहाँ दलित स्त्री शोषण की व्यथा–कथा और भी अधिक गहरी है। सदियों से वर्ण–व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज में तिरस्कृत और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किये गये दलित जीवन की व्यथा का दर्द 'शिकंजे का दर्द' बयां करता है। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने उन्हीं शिकंजों को तोड़ने का चेतनात्मक प्रयास किया है।

दलितों के जेहन में स्वतंत्र भारत में स्वतंत्र होकर जीने की बलवती इच्छा तो हमेशा से रही है, किन्तु सामाजिक वातावरण उनके अनुकूल कभी भी नहीं रहा है। सुशीला टाकभौरे अपनी बचपन की एक घटना का जिक्र करती हुई लिखती हैं– ''किताब–कापी का या पढ़ाई की कोई बात पूछने के लिए सहेली के घर जाने पर वे घर के बाहर आंगन में या सड़क पर खड़े रहकर बात करती थीं। अपने घर के लोगों के सामने सवर्ण लड़कियां मुझसे दूर रहकर बातें करती। तेज गरमी में यदि बहुत प्यास लग जाय तो सहेली दूर से मेरी हथेलियों पर पानी डाल देती। हथेलियों के ओक से पानी पीकर मैं उस सहेली का आभार मान लेती थी। भारतीय हिन्दू समाज परम्परा का यह कड़वा सत्य था। यह जातिवाद का सत्य था। तब मेरे लिए यह सहज बात थी मगर अब लगता है यह मेरे लिए अपमान की बात थी। मेरे लिए भी, मेरी जाति के लिए भी और सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के लिए भी शर्म की बात थी।''[2]

कहा जाता है कि स्वतंत्र देश और प्रजातंत्र राज्य में न कोई भंगी होता है और न ब्राह्मण, उसमें तो केवल मानव होता है, किन्तु यहाँ तो 'शिकंजे का दर्द' की स्त्री खुद को जाति और ब्राह्मणवादी व्यवस्था में अपने अस्तित्व व सम्मान को कुचलती हुई अवस्था समझते हुए आभार मानती आयी थी। आज शिक्षा व अपनी चेतनाबोध के कारण जाति के भयंकर व जहरीले दंश को महसूस करती है, जिसके पाँव तले मानवता को कुचला जा रहा है। देखा जाय तो जाति–व्यवस्था पर आधारित इस भारतीय समाज में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के लोग आज जिधर देखो उधर आरक्षण के विरोध में नारे लगाते नहीं थकते, काश

*सहायक प्रोफेसर, श्री राम किशुन कॉलेज, गोकुल, करसड़ा, बच्छॉव, वाराणसी ।

वे लोग इस बात को समझ जाते कि इस जात–पाँत व ऊँच–नीच की भावना के दंश को जड़ से उखाड़ फेंकने के नारे लगाते तो आरक्षण की समाज में जरूरत ही नहीं पड़ती। फिर न कोई सवर्ण कदम–कदम पर शोषण करता और न किसी दलित को कदम–कदम पर शोषण का शिकार होना पड़ता।

वास्तव में देखा जाय तो अभिजात्य कुलीन लोग जाति भेद की इन बातों को, इन खोखली परंपराओं को गलत मानने के लिए तैयार नहीं होते। खुद हमारे लोग भी इन्हें सहज सामान्य बात मानते हुए इसका पालन करते थे। परन्तु जाति–पाँति का दंश कभी–कभी व्यक्ति के वजूद को इस कदर झकझोर देता है। ऐसी ही एक घटना का जिक्र करते हुए लेखिका लिखती हैं कि–''बचपन की उस घटना ने मुझे व्यथित किया था। गरमी के दिनों में, बीच की रिसेस में मेरी कक्षा की लड़कियां हाथ ठेले की दुकान का रंगीन मीठा बर्फी खाने जाती थी। बर्फ वाला उन्हें रंगीन काँच के प्यालों में बर्फ देता था मगर मुझे कागज में देता था। एक बार रजनी अग्रवाल ने बर्फ वाले से कहा ''इसको भी हमारे जैसे काँच के प्याले में बर्फ क्यों नहीं देते? इसे भी प्याले में बर्फ दो, रजनी बहुत ही दुबली, थोड़ी साँवली, बातूनी लड़की थी। लम्बे बालों की दो चोटियाँ हिलाते हुए हमेशा हँसती रहती थी। वह सम्पन्न गण्यमान्य के साथ हँसते हुए बोला था– आपके प्यालों में इन लोगों को कैसे दे सकते हैं बेटा।''[3] लेखिका बर्फ वाले के उन शब्दों को सुनकर उस दिन लड़कियों (सहेलियों) के समाने खुद को लज्जित महसूस करती है। समाज में फैले हुए जाति के दंश रूपी ऐसे ही भेदभाव को याद करते हुए आत्मकथा में एक अन्य स्थान लिखती हैं कि–''मुझे पता था, रेलवे स्टेशन पर कैंटीन में जहाँ मेरे पिता चाय पीते थे, वहाँ उनके कप अलग रहते थे। वे दूर से चाय लेकर, सबसे अलग बैठकर पीते थे। बाजार की होटलों में अन्दर जाने को या बाहर के बेंच पर बैठने की मनाही थी। हमारे लोग स्वयं अछूत की तरह सिकुड़े–सिमटे, अलग रखा अपना कप उठाकर, अपने हाथें से धोकर उसमें दूर से चाय लेकर पीते थे, फिर अपना कप धोकर अलग रख देते थे। खाने का कोई समान माँगने या खरीदने पर दूर से फेंककर दिया जाता था। ये सब अपमान की बातें थीं, फिर भी हमारे लोग बाजार में सबके सामने अपना अछूतपन दिखाते हुए डरे, सहमें दूर से चाय या नाश्ता लेते थे।''[4]

लेखिका को अपने पिता व अपने समाज के साथ हो रहे भेदभाव व ऊँच–नीच की भावना तब समझ में आयी जब अपने साथ भी वही भेदभाव उन्हें देखने को मिला। प्रो. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि ''गुलामी की यातना जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव कोई और नहीं।''[5]

वास्तव में यह अनुभव जाति विशेष का अनुभव है। इसलिए यह एक व्यक्ति होते हुए पूरी जाति को प्रतिनिधित्व देता है और उसकी पीड़ा तथा आक्रोश को प्रतिबिम्बित करता है। आगे लेखिका अपनी पीड़ा व आक्रोश को प्रकट करती हुई लिखती हैं ''कागज में मुझे बर्फ दिया जाना मेरे लिए सामान्य बात थी मगर सहेलियों के सामने इस बात का स्पष्टीकरण किये जाने से अपमान का भाव स्पष्ट हो गया। उस दिन मुझे बर्फ वाले पर बहुत गुस्सा आया था और उन सब पर भी मुझे गुस्सा आया जो हमसे इस तरह भेदभाव करते थे। मन कड़वाहट से भर गया था। उस दिन से मैंने लड़कियों के साथ बर्फ खाना छोड़ दिया था।''[6]

दलित चेतना सामाजिक बराबरी और आत्मसम्मान के सवाल को केन्द्र में रखती है, न कि आर्थिक बराबरी और राजनीतिक क्रांति को। लेखिका की शक्ति भी उन्हें अपने व अपने समाज के लिए सामाजिक बराबरी व आत्मसम्मान के लिए प्रेरित करती है, जिसके फलस्वरूप लेखिका उस दिन से उन लड़कियों के साथ बर्फ खाना छोड़ देती है। लेखिका अपने स्कूल की एक घटना का जिक्र करती है कि ''मेरी कक्षा में एक सुशीला जैन थी हाजिरी लेते समय मुझे सुशीला हरिजन पुकारा तब मुझे अपनी जाति का आभास होता था। मन संकोच और पीड़ा से दुखी हो जाता था। उस समय यह शासकीय आदेश था, किसी अछूत बच्चे को उसकी जाति के नाम से न पुकारकर हरिजन कहा जाय। 'हरिजन' शब्द सुनकर ज्यादा शर्म आती थी। तब मैं शर्म और पीड़ा का अनुभव करने के अलावा कुछ नहीं कर सकती थी। मैं देखती थी, कक्षा में पासी, खटिक, बलाई जाति के लड़के कभी शिक्षकों से

किसी बात की जिरह या बहस करते थे तब बुरी तरह पीटे जाते थे। शिक्षक उन्हें जाति के नाम से अपमानित करते हुए पीटते थे। यह देखकर मैं कक्षा में अधिक डरी सहमी रहती थी।''[7]

कहा जाता है चेतना संघर्ष से नाता रखने वाली एक क्रांतिकारी मानसिकता है। यह चेतना गुलाम को गुलामी से अवगत करा देती है। देखा जाय तो सुशीला जी भी यहाँ कभी न खत्म होने वाली जाति–व्यवस्था जैसे कोढ़ रूपी दंश के गुलामी से आहत दलित स्त्री के रूप में नज़र आती हैं। इस जाति रूपी शिकंजे के दर्द में संताप है, दलित होने का, स्त्री होने का, जो अब मुक्ति चाहती है।

लेखिका की यह चेतना शक्ति सामाजिक बराबरी व आत्मसम्मान के सवाल को केन्द्र में रखती है न कि आर्थिक बराबरी और राजनीतिक क्रांति की। इस बुनियादी बात को दलित कवि कँवल भारती की इन पंक्तियों में स्पष्टतः देखा–समझा जा सकता है –

वह चिड़िया भूख से नहीं/चिड़िया होने से पीड़ित थी/कवि इस अनुभव से गुजरा नहीं था/उसकी श्रेणी जन्म से पूज्य थी/ वह कैसे जानता/गरीबी नहीं/सामाजिक बेइज्जती अखरती है।8

सुशीला जी लिखती हैं कि कभी–कभी पिता जी शराब के नशे में गाँव के बामन–बनियों को गालियाँ देते हुए कहते थे– ''इन सालों ने ही हमको छोटा बनाकर रखा है, इन्होंने ही हमको अछूत और लाचार बनाकर रखा है। ये साले हमको आगे नहीं बढ़ने देते।''

''माँ नानी उन्हें ऐसा कहने से मना करती थी। तब मुझे भी लगता था बप्पा नशे में कुछ भी कहते हैं। मुझे अब लगता है उस समय पिता जी सही बात को कितना अधिक समझते थे। इनके विरूद्ध उनका गुस्सा कितना उचित था।''[9] कुछ इस तरह की वेदना व अपने हिस्से थोपे गये कामों से ऊब चुकी लेखिका अपनी नानी की व्यथा बयां करती हुई लिखती हैं कि ऐसे समय उसे गांव–बस्ती के लोग शैतान नजर आते, तो कभी उन्हें भगवान ही सबसे बड़ा शैतान नज़र आता। नानी गुस्से से उसे कोसते हुए कहती थी–''यह सब तेरी ही करतूत है भगवान! मुँह पेट बनायो तो बनायो, जात–पात क्यों बनाई? हम ही क्यों करें नरक सफाई का काम? जिसने रीत बनाई है कभी वे भी करके देखे? तब पता चलेगा।''[10] सचमुच लेखिका की नानी की ही नहीं, यह शब्द हर एक उस दलित स्त्री के शब्द हैं, जिनको ऐसे कामों को न चाहते हुए भी करना पड़ता है। यह शब्द एक स्त्री की चेतना को दर्शाती है और मुक्ति का प्रश्न भी उठाती है। शिक्षा का ज्ञान न होने के कारण ही नानी इस व्यवस्था का जिम्मेदार भगवान को मानती है, किन्तु उन्हें क्या पता कि यह ब्राह्मणवादी सोच की व्यवस्था है न कि भगवान की व्यस्था। भगवान ने तो सिर्फ इंसान बनाये, सबको दो आँखें, दो हाथ, यहाँ तक कि एक ही रंग के रक्त सबमें भरे। नहीं बनाये तो यह जाति–पाति और वर्ण–व्यवस्था। यह सब ब्राह्मणवादी मानसिकता की उपज है और यह मानसिकता आज समाज में आरक्षण विरोधी मानसिकता के रूप में नजर आ रही है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'शिकंजे का दर्द' दलित स्त्री चेतना का यथार्थ दस्तावेज है। आत्मकथा के दृष्टिकोण व रूप में यह एक सफल रचना है, जिसमें लेखिका ने दलित स्त्री जीवन के संघर्ष को बड़े ही प्रभावात्मक ढंग से रचनाबद्ध करने का प्रयास किया है।

I;nHk %

1. जयप्रकाश कर्दम, दलित साहित्य वार्षिकी, वर्ष 13, अंक 11, 2011, पृ. 153.
2. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 46
3. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 47
4. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 47
5. दलित साहित्य का सौंदर्यषास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 21
6. शिकंजे का दर्द, सुशीलाा टाकभौरे, पृ. 47
7. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 47
8. तब तुम्हारी निश्ठा क्या होती?, कँवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, उ0प्र0, पृ.सं. 29
9. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 50
10. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 26

****

^vkidk cVh* e: L=h i!'u

Jherh uhjt /kudM*

'आपका बंटी' मन्नू भंडारी द्वारा लिखित, हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। आपका बंटी मुख्यतः बाल मनोविज्ञान पर आधारित है। हिन्दी साहित्य में इस उपन्यास पर चर्चा इसी दृष्टिकोण से हुई है। उपन्यास के शीर्षक से भी पता चलता है। इसमें एक बच्चे की कहानी है। बच्चा 'बंटी' इस उपन्यास का मुख्य पात्र है। बंटी 9–10 साल का बच्चा है, जो अपनी माँ के साथ रहता है। उसके माता–पिता के संबंध किन्हीं कारणों से विच्छेद की स्थिति में है।

उपन्यास में बंटी को कहानी के साथ–साथ एक महिला (उसकी माँ) की कहानी भी समांतर चलती है। उपन्यास में बंटी की माँ का चरित्र भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है और स्त्री दृष्टिकोण से उस पर विचार करना चाहिए।

वर्तमान समय में स्त्री विमर्श जोरों पर है। यह उपन्यास 1979 में प्रकाशित हुआ था। लगभग चार दशक पहले 'मन्नू भंडारी' उपन्यास की नायिका के जीवन में आए उतार–चढ़ावों के जरिए अनेक स्त्री प्रश्नों पर प्रकाश डालती हैं और उन पर सोचने के लिए मजबूर करती हैं। 'मन्नू भंडारी' ने अपने उपन्यास में जो प्रश्न उठाए हैं, वह आज के संदर्भ में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। बंटी की माँ 'शकुन' एक शिक्षित, कामकाजी और आत्म निर्भर महिला है। वह स्कूल की प्रिंसिपल है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान है। वह स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली स्वाभिमानी महिला है, लेकिन पुरुष प्रधान समाज में इन सभी गुणों का स्त्री में पाया जाना, दोश के बराबर है।

शकुन का पति, अपनी पत्नी के स्वतंत्र अस्तित्व को बर्दाश्त नहीं कर पाता। जिंदगी भर उसके पति (अजय) शकुन को, उसके हर काम को, उसकी हर बात को, उसके सोचने और उसके हर रवैये को गलत सिद्ध करता रहा। उसके पति के अनुसार, शकुन बहुत डॉमिनेटिंग है, जिसके कारण वह अपनी पत्नी और बेटे को छोड़कर चला जाता है। इस समाज में पत्नी अगर अपने पति से अलग सोच रखती है और उस पर कायम रहती है, तो इसका परिणाम यही होता है। पति के छोड़कर चले जाने पर भी वह अपनी जिम्मेदारियों से पीछे नहीं हटती और उनका निर्वाह अच्छे से करती है। वह बंटी को अपने दम पर अच्छी परवरिश देती है। बंटी को अच्छी शिक्षा भी देती है।

हालाँकि, वैवाहिक जीवन की शुरुआत में ही अजय और शकुन को गलत निर्णय लेने का एहसास हो गया था। दोनों ही इगोइस्टि थे और वैवाहिक जीवन उनके लिए युद्ध के मैदान की तरह था, जिसमें वे एक–दूसरे को तर्कों–बहसों से हराने की कोशिश करते, परंतु दोनों में से कोई भी अपनी हार स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। वे अपने रिश्तों में अंडरस्टैंडिंग पैदा न कर सके। असल में उन दोनों के बीच प्यार तो कभी था ही नहीं, उन्होंने केवल समझौते किए थे। दोनों एक–दूसरे को तभी स्वीकार कर सकते थे, जब सामने वाला अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को मिटा दे। ''दोनों ही एक–दूसरे की हर बात, हर व्यवहार और हर अदा को एक नया दाँव समझने को मजबूर थे।''[1] इसी कारण अजय और शकुन के बीच नजदीकी आने की बजाय दूरी ही बनती गई और वह निरंतर बढ़ती रही। इसके बावजूद शकुन तो कहीं छोटी–सी आशा होती है कि उनका बेटा उनके

*असिस्टेंट प्रोफेसर, रसियन, अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाएं विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

बीच के अलगाव को मिटा देगा। इसी उम्मीद में वह मानसिक यातनाएँ झेलती हुई अपनी जिंदगी के लगभग दस वर्ष बिता देती है।

उसका पति इस बीच दूसरी स्त्री के साथ रहना शुरु कर देता है। इस समाज में पुरुष सदा से ही स्वतंत्र रहा है। उसको अपने बेटे और पत्नी की कोई परवाह नहीं, उसको इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसकी पत्नी पर क्या बीत रही है या बीतेगी? वहीं कोई स्त्री इस तरह का कदम उठाती है तो समाज द्वारा उसके चरित्र पर अंगुली उठाई जाती है।

आखिरकार बंटी भी माता–पिता के रिश्ते को नहीं बचा पाता और दस साल के लम्बे समय बाद उनका तलाक हो जाता है। शकुन को इस फैसले से न तो खुशी होती है न ही संतोष। शकुन महसूस करती है कि उसका यह विवाहित जीवन एक अंधेरी सुरंग में चलने जैसा था, परंतु जब वह उस सुरंग के बाहर आ गई है, उसे बाहर आने का भी संतोष नहीं है, बल्कि उसे वहाँ धकेले जाने का कष्ट है। अभी भी उसके जीवन में न तो प्रकाश है, न ही खुलापन। न ही मुक्ति का एहसास है। फिर से वह अपने को उसी स्थिति में महसूस कर रही है। उसे लग रहा है, जैसे फिर उसका जीवन एक अंधकारमय सुरंग की तरह है जिसके मुहाने पर वह अकेले खड़ी है। उसके जीवन का अंधकार और अकेलापन वैसे ही बरकरार है।

यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि क्या शकुन का आत्मनिर्भर, स्वतंत्र और सशक्त होना ही उसकी परेशानियों का कारण है? क्या इस समाज में आत्मनिर्भर स्त्री की यही दशा है 'मन्नू भंडारी' इस उपन्यास के द्वारा इस समस्या पर सोचने पर विवश करती हैं। पुरुष अपनी सोच में अगर बदलाव नहीं करेगा, तो स्त्री की समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। बल्कि आत्मनिर्भर स्त्रियों को ज्यादा मानसिक यातनाएँ झेलनी पड़ेंगी, क्योंकि वे अपने अस्तित्व को खत्म नहीं कर पायेंगी। जिस तरह शकुन अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण दस साल मानसिक यातनाएँ और अकेलेपन को झेलते हुए बिताती है।

वहीं उसके पति ने तलाक लेने से पहले, अपने बेटे के भविष्य के बारे में भी नहीं सोचा। बंटी को ऐसे गुनाह की सजा मिलती है, जो उसने किया ही नहीं था। तलाक के बाद शकुन अपने नये जीवन के बारे में सोचती है। वह पारंपरिक सोच रखने वाली महिला नहीं थी। 21वीं शताब्दी के पुरुष प्रधान समाज में स्त्री का तलाक शुदा या विधवा होना एक दोष माना जाता है। आज भी उसे उसका भाग्य, उसका विधान मानकर, नरक से बद्तर जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता है। 1980 के दशक में ऐसी महिला के चरित्र का निर्माण उस समय अपने आप में बड़ी बात थी। शकुन का चरित्र आधुनिक महिला का है। इसीलिए वह अपने जीवन को एक सिरे से देखने की कोशिश करती है। शहर के मशहूर डॉक्टर जोशी से वह शादी कर लेती है। वह पहली बार अपने जीवन में भरा–पूरा महसूस करती है। बल्कि उसे अफसोस होता है कि जिंदगी को तिल–तिल करके जीने से अच्छा था कि वह पहले ही कोई निर्णय ले लेती, बंटी अपनी माँ के नये जीवन को सहज रूप में नहीं ले पाता।

बंटी अपनी माँ को गलत समझने लगता है। यहीं से बंटी की मानसिक परेशानियाँ शुरु होती हैं। यहाँ से एक हँसता–खेलता बच्चा उदास बच्चे में परिवर्तित हो जाता है। बंटी के व्यवहार से तंग आकर शकुन उसे उसके पिता के पास भेजने का फैसला कर लेती है, बंटी की भी यही इच्छा थी। शकुन नहीं चाहती थी कि उसके नए जीवन में बंटी बाधा बने। बंटी भी चाहता था कि वह अपने पिता के पास कलकत्ता चला जाए। बंटी के जाने का उद्देश्य अपनी माँ को तंग करना था।

शकुन उसे भेजने का फैसला कर तो लेती है, परन्तु यह फैसला उसकी जिंदगी में हलचल पैदा कर देता है। बेटे को अलग होने का दर्द, शायद एक माँ ही समझ सकती है। शकुन अपने दिल का हाल किसी को नहीं बता सकती, क्योंकि यह दर्द सिर्फ उसका था, जिसे उसका नया पति नहीं समझ सकता था और पहले पति से वह कह नहीं सकती थी और उसका बेटा उसे गुनहगार मानता था। बंटी उसका बेटा जिसके लिए उसने अपने जीवन के दस साल को अंधकारमय बना दिया था। शकुन ने समाज दुनिया से कटकर सिर्फ बंटी के लिए जीवन जिया था। वह बेटा भी उसे गलत समझता है और अकेला छोड़कर चला जाता है।

इस समाज में जब–जब स्त्री ने अपना जीवन जीना चाहा है, उसे पिता, पति और बेटे द्वारा अकेले छोड़ दिया जाता है। उसकी खुशी पर सवाल उठाए जाते हैं। स्त्री को समझने की कोशिश शायद ही किसी ने की हो।

'आपका बंटी' उपन्यास में वह क्षण दिल को छू जाता है, जब बंटी के पिता उसे हॉस्टल में डालने का फैसला कर लेते हैं। दस साल का बच्चा, जो अपनी माँ के बिना न रहा हो, उसे पिता के साथ रहना भी नसीब नहीं होता। बंटी अपने 'पिता के साथ चला तो गया, परंतु पिता के नये दाम्पत्य जीवन में उसके लिए जगह न थी। वह एक अवांछित बच्चा बनकर रह गया था। पिता का मानना था, बच्चे के सही विकास के लिए उसका हॉस्टल में रहना जरूरी है। बंटी ऐसे बच्चे की तरह हो जाता है, जो अपनी जमीन से कट चुका होता है। बंटी भी अपनी माँ की तरह अपना दर्द किसी से नहीं कह पाया।

बंटी निर्दोष होते हुए भी सबसे ज्यादा सजा भोगता है। वह समाज में गैर–जरूरी तत्त्व बनकर रह गया। 'मन्नू भंडारी' बंटी के माध्यम से सोचने पर मजबूर करती हैं। आखिर बंटी को ही सजा क्यों मिली?'' बंटी समाज में एकमात्र बच्चा नहीं है। ऐसे अनेक बंटी अनेक परिवारों में सांस ले रहे हें। यह एक परिवार की समस्या नहीं है। स्वाधीनता के बाद स्त्री शिक्षा का विकास तेजी से होता है। स्त्रियाँ आत्मनिर्भर होने लगती हैं। उनकी आत्मनिर्भरता और कामकाजी दिनचर्या से परिवार की स्थिति में परिवर्तन होता है। संयुक्त परिवारों का टूटना और एकल परिवारों का बढ़ना स्वांत्र्योत्तर भारत की कड़वी सच्चाई है। एकल परिवार में स्त्री–पुरुष दोनों के कामकाजी होने से पारिवारिक संतुलन बिगड़ रहा है। उसी की एक बानगी प्रस्तुत करता है यह उपन्यास।

वैयक्तिकता की भावना के निरंतर विकसित होने का भी यह दुष्परिणाम है कि अब माँ–बाप भी बच्चे से इतर अपने बारे में सोचने लगे हैं। व्यक्तिगत दृष्टि और अहं बच्चे की संवेदना और भविष्य पर भारी पड़ रहा है। पारंपरिक भारतीय समाज में इस बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। माँ (शकुन) इससे कुछ वर्षों तक बचने की कोशिश करती है, लेकिन समय के दबाव में वह भी टूट जाती है और अंजाम भुगतता है बच्चा बंटी। ऐसे में यह सवाल हमारे समाज के सामने मुँह बाये खड़ा है कि बंटी जैसे बच्चे क्या करें? समाज में उनके लिए क्या जगह है? उनका अभिभावक बच्चे की चिंता नहीं करेंगे तो ऐसे बच्चों से हम कैसा भावी समाज बनायेंगे? अनन्तः समाज किस दशा में पहुँचेगा। निस्संदेह स्त्रियाँ अपने अधिकारों, आकांक्षाओं, सपनों को लेकर ज्यादा जागरूक हुई हैं, लेकिन इसके नकारात्मक पक्षों से भी हमें बचने का उपाय सोचना होगा। इसमें दो राय नहीं कि परिवार बनाने की जिम्मेदारी सिर्फ स्त्री की नहीं, पुरुष को भी बदलना होगा, लेकिन स्त्रियों को भी ध्यान रखना होगा कि वैयक्तिकता की आड़ में समाज की मूल संरचना ही ध्वस्त न हो जाये।

I:nO: %

1. 'आपका बंटी', मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 21वाँ संस्करण–2011, पृ0 28

****

fgUnh dFkk lkfgR; eas L=h ys[ku dk LFkku % ,d iz'u

vkuUn T;ksfr*

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का जन्म ऐसे समय में हुआ जब साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष एक नये दौर में प्रवेश कर चुका था। इसी समय साम्राज्यवाद के खिलाफ की कार्यवाई जोर पकड़ रही थी। 'बंग–भंग' आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विखंडनकारी रवैए के विरोध और जनता की आपसी एकता के प्रतीक के रूप में चलाया गया। ठीक इसी दौर में सन् 1900 में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन हुआ और 1902 में पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके सम्पादक बने। 'सरस्वती' वर्ष 1907, भाग 8, संख्या 5 में बंग महिला उर्फ राजेन्द्रबाला घोष की पहली मौलिक कहानी 'दुलाईवाली' प्रकाशित हुई। यह कहानी हिन्दी की आरंभिक कहानियों में से एक है, कुछ आलोचक हिन्दी की पहली मौलिक कहानी 'दुलाईवाली' को ही मानते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'हिन्दी की पहली मौलिक कहानी' की बहस के लिए चयनित अंतिम तीन कहानियों में 'दुलाईवाली' शामिल है– अन्य दो कहानियाँ जिन पर हिन्दी की पहली मौलिक कहानी शीर्षक के तहत बात की जा सकती है, वे हैं– इंदुमती (किशोरी लाल जी स्वामी, 1906) और 'ग्यारह वर्ष का समय' (पं0 रामचन्द्र शुक्ल, 1903)

इससे इतना तो स्पष्ट है कि हिन्दी कथा साहित्य का विकास आधुनिक हिन्दी साहित्य इतिहास के प्रथम उत्थान से (भारतेन्दु युग) न होकर द्वितीय उत्थान (द्विवेदी युग) से शुरू होता है। गौर करने वाली बात तो यह है कि शुक्ल जी और द्विवेदी जी के इतिहास ग्रंथों को देखें तो लगेगा कि हिन्दी में महिला कथा लेखन के इतिहास का हिन्दी कथा साहित्य में नाम ही नहीं है।

यहां तक की रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में तब केवल बंग महिला के आलावा और किसी स्त्री लेखिका का जिक्र तक नहीं है। शुक्ल के बाद तो जैसे यह साहित्येतिहास लेखन का आदर्श बन गया। यह हिन्दी कथा लेखन का दुर्भाग्य है कि आलोचना और इतिहास में स्त्री कथा लेखन की निरन्तर उपेक्षा हुई। जब कि रचनाकारों के बीच यह भेद–दृष्टि नहीं थी। 'प्रेमचन्द के साथ समकालीन स्त्री कथाकारों के सम्पर्क संवाद थे। प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी अच्छी और चर्चित कहानी लेखिका थीं। सरस्वती, विशाल भारत, विश्वामित्र, माधुरी, चांद, सुधा आदि पत्रिकाओं में स्त्रियाँ लगातार लिख रही थीं। पत्र–पत्रिकाओं, समाचार पत्रों के सम्पादक इन्हें छाप भी रहे थे, किन्तु तत्कालीन आलोचना और इतिहास लेखन से इनका नाम, सन्दर्भ गायब था। प्रश्न ये है कि किन सामाजिक राजनीतिक नियमों के तहत रचनात्मकता के स्तर पर तो स्त्री लेखन का नोटिस लिया जाता रहा किन्तु आलोचना, इतिहास के क्षेत्र से गायब रहीं ? यूं तो रचना छपती थीं, संकलन छपते थे, संकलनों में समकालीन प्रतिष्ठित पुरूष रचनाकारों के वक्तव्य भी होते थे परन्तु जब इतिहास में जगह देने की बात आती तो जगह तो दूर उनका जिक्र भी नहीं होता। क्या ऐसे इतिहास लेखन की समग्रता पर प्रश्न चिन्ह लगाने की आवश्यकता नही हैं ? उसकी दृष्टि की वैज्ञानिकता और लेखनीय प्रतिबद्धता, बहस के दायरे में नहीं आते ? प्राचीनकाल तो क्या, आधुनिक काल तक में उठाए गए जो मुद्दे उनमें भी स्त्रियाँ गायब हैं।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

पुंसवादी बौद्धिक विमर्श से स्त्री को तीन स्तरों पर गायब किया जाता रहा है। पहला बौद्धिक क्षेत्र से स्त्री के निष्कासन के द्वारा; दूसरा, स्त्री का छद्म समाविष्टि के द्वारा और तीसरा, स्त्री को अलग–थलग करके।

1. अदृश्यता के पहले स्तर पर यानी निष्कासन वाले स्तर पर स्त्री को पूरी तरह से उपेक्षित किया जाता है। इसमें विमर्श के जो विषय होते हैं वह या तो पूरी तरह से पुरूष से जुड़े होते हैं अथवा पुरूष वर्चस्व वाली संस्थाओं और गतिविधियों का बोलबाला होता है। यहां स्त्रियां गलती से निष्कासित की जाती हैं, उनकी उपेक्षा द्वारा उन पर ध्यान न देकर विमर्श के बौद्धिक क्षेत्र से उनका निष्कासन होता है।
2. अगर सांत्वना के तौर पर यह कहा जाए कि स्त्री–कथा लेखन लगातार पत्र–पत्रिकाओं में आ रहा था, लेखिकाएं चर्चित भी हो रही थीं, पुरूष लेखक भूमिकाएं लिखकर उनके संकलन प्रकाशित करवा रहे थे, उनपर सम्मति दे रहे थे और इतिहास में न सही रचनात्मकता के स्तर पर 'लेखन की मुख्यधारा में उन्हें शामिल तो किया ही जा रहा था; तो यह आंशिक सत्य होगा। इतिहास में बहिष्कृत किन्तु रचनात्मकता के स्तर पर स्वीकृति का मामला भी स्त्री की अदृश्यता से जुड़ा हुआ है। यह बौद्धिक क्षेत्र में स्त्री की छद्म समाविष्टि है जिसमें स्त्री की नोटिस तो ली जाती है लेकिन फिर उसे हाशिए पर रख दिया जाता है। स्त्रियों को एक 'स्पेशल केस' के रूप में, विसंगति का गड़बड़झाले के रूप में, नियम के अपवाद के रूप में जिसपर ध्यान देकर भूला जा सकता है, देखा जाता है। जो नियम संगत है, वह केवल पुरूष है। नही ंतो, क्या कारण है कि 'आधुनिक हिन्दी की पहली कहानी' की बहस के अन्तर्गत 'दुलाइवाली' का नामोल्लेख हुआ किन्तु 'पहली स्त्री–कथा अथवा 'पहली स्त्री कथा लेखिका' का जिक्र नहीं होता। दिलचस्प तथ्य यह है कि यहां से पुरूष कथा लेखन की परंपरा तो बन जाती है किन्तु स्त्री कथा लेखन की परंपरा बिखरती ही जाती है, यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने बंग महिला उर्फ राजेन्द्र बाला घोष की कहानियों और लेखों का एक संकलन 'कुसुम संग्रह' नाम से तैयार किया था जो 28 नवम्बर 1910 को प्रकाशित हुआ था और हाथों हाथ बिका था।
3. स्त्री की बौद्धिक क्षेत्र में अदृश्यता का एक तीसरा और सर्वाधिक खतरनाक रूप है– स्त्री को अलग–थलग करना। उनमें अलगाव बोध पैदा करना। इसमें स्त्री और उसके मसले को विषय के तौर पर शामिल तो किया जाता है किन्तु स्त्री जीवन के पैमाने को विकृत किए बिना उस पर बात नहीं होती। स्त्री के अपने अनुभव पुंसवादी दायरे से प्रभावित होते हैं और उसके अपने नहीं रहते हैं क्योंकि जिन सिद्धान्तों और तरीकों के जरिए स्त्री के मसले पर बात होती है वे पूरी तरह से पुरूष केन्द्रित होते है। हिन्दी की आरंभिक स्त्री कहानियों में यह गहराई से देखने को मिलता है यहाँ स्त्री लेखकाएँ उन्हीं सिद्धान्तों, सामाजिक मूल्यों को खोजती नजर आती हैं जो मूलतः पुरूष केन्द्रित सिद्धान्त और मूल्य हैं।

स्त्रियों के लेखन और स्त्रियों पर लेखन से यह जाहिर होता है कि स्त्री मात्र वैचारिक नहीं, सामाजिक–राजनीतिक कैटेगिरी हैं स्त्रियों के लेखन में परंपरा और इतिहास बोध का तीव्र आग्रह मिलता है जो 'पुंसवादी सचेत स्मृतिलोप' के विरोध में दिखाई देता है। भूले जाने या भुला दिए जाने के खिलाफ सचेत ढंग से परंपरा और इतिहास बोध से लगाव। यह परंपरा कौन सी है– यह लोक या जन की परंपरा न होकर स्त्री परम्परा है स्त्री जब भी बात करती है तो हमेशा अपनी दादी–नानी के संदर्भ में। कहानी के साथ भी नानी का संदर्भ लोक विश्रुत है। किन्तु स्वयं स्त्री, कथा लेखन की ज्यादातर भुला दी गई, भूली हुई एक विश्रृंखल परम्परा है। सुभद्रा कुमारी चौहान का कथा साहित्य किस स्त्री लेखिका की परंपरा में है, मन्नू भण्डारी, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया की कौन सी परंपरा है यह आज भी तय नहीं किन्तु, राजेन्द्र यादव अैर शिव प्रसाद सिंह की परंपरा तय है।

स्त्री कथा लेखन को यदि गंभीरता के साथ देखें तो हम पायेंगे कि स्त्री–कथा लेखन को हिन्दी कथा लेखन की परंपरा में रखकर विश्लेषित नहीं किया जा सकता। स्त्री, पहले स्त्री है। स्त्री के लेखन को हिन्दू, मुस्लिम, सिख, इसाई दलित, सवर्ण, अगड़ी, पिछड़ी जैसी कोटियों में बांटकर नहीं देखा जा सकता। न ही स्त्री के लिए पुरूष संदर्भ से जुड़ी कोई वैयक्तिक कसौटी कारगर साबित हो सकती है। स्त्री को धार्मिक, सामाजिक और वैचारिक कोटियों में बांधकर देखना स्त्री के लिए और लिखे से इनकार करना है। स्त्री, स्त्री है इसलिए एक सामाजिक, राजनीतिक इकाई भी है। जिस तरह से पुरूषों के लेखन को इस तरह की कोटियों में बांटकर नहीं देखा जाता है, स्त्री लेखन को भी नहीं देखा जाना चाहिए।

हिन्दी कथा साहित्य की आलोचना के लिए इतिहास का जो बना बनाया ढाँचा है – समय सापेक्ष, प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान, साठोत्तरी आदि, व्यक्तित्व सापेक्ष– द्विवेदी युग, प्रेमचन्द युग, प्रसाद युग प्रसादोत्तर युग इत्यादि इन दोनों ही के आधार पर स्त्री कथा साहित्य के मूल्यांकन में असुविधाएं होंगी। पहले के लिए स्त्री लेखन का विश्रृंखलित प्रवाह बाधक है, तो दूसरे में स्त्री लेखिकाएं शामिल ही नहीं है। उनकी कहानियाँ अपने युग की प्रतिनिधि कहानियाँ न होकर युग से आगे की कहानियाँ हैं, जो मुख्यधारा से भिन्न सवाल उठाती है। ये पूरी तरह से स्त्री सरोकारों से जुड़ी कहानियाँ हैं, चाहे वे यह ही क्यों न बताती हों कि आदर्श पत्नी कैसे हो सकती है। उनमें केन्द्र में स्त्री ही है। स्त्री की लड़ाई बहुत जटिल है उसकी जद्दोजहद में निजी नहीं सामाजिक संदर्भ शामिल है। समाज की पहली इकाई परिवार है। परिवार के मसले को पुरूष लेखकों ने इतना नहीं खोला जितना स्त्रियों ने। अभिव्यक्ति और पहचान के स्तर पर परिवार पहली सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी है शिक्षा की और तीसरी सीढ़ी है राजनीति की। किन्तु, पुरूष का लेखन पहली दो सीढ़ियों पर नहीं शुरू होता है। पुरूष लेखन शुरू होता है तीसरी सीढ़ी से। पुरूष का लेखन सीधे–सीधे राजनीतिक विमर्श तैयार करता है, जबकि परिवार और शिक्षा से स्त्री लेखन का सिलसिला तैयार होता है।

स्त्री के लिए आज की सबसे बड़ी चुनौती पितृसत्तात्मक मूल्यों पर आधारित समाज है, परिवार उसकी इकाई है। हिन्दी की आरंभिक कहानी से लेकर नवीनतम कहानियों तक यह संघर्ष बदस्तूर जारी है। यहां तक कि उन स्त्री कथाओं में भी जिनमें पितृसत्तात्मक मूल्यों की स्थापना के द्वारा स्त्री को सामाजिक स्वीकृति दिलाने की कोशिश है।

हिन्दी की आरंभिक स्त्री कथाओं में उपदेशात्मकता की भरमार है। अच्छी बात यह है कि इन कहानियों के केन्द्र में स्त्री है। स्त्री का संसार है, परिवार हैं किन्तु इन सबको पुंसवादी ढांचे में ही ज्यादातर देखा गया है यशोदा देवी, श्रीमती जमुना देवी, श्रीमती सुशीला देवी श्रीमती कृष्णकला आदि की कहानियां इसका उदाहरण है। किन्तु इन कहानियों के जरिए एक बार जब स्त्री, विमर्श के बौद्धिक क्षेत्र में दाखिल हुई तो स्त्री से जुड़े मसले भी केन्द्र में आने लगे। इस समय के लेखन में स्त्री शिक्षा की जरूरत, पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा और अपमान का निषेध, पुरूषों की कटुता और स्त्रियों की सहनशीलता का वर्णन, संयुक्त परिवार में स्त्री की स्थिति, विवाह का निर्णय स्त्री द्वारा स्वयं किया जाना चाहिए, जैसे विषयों पर स्त्री लेखिकाएं कहानी लिख रही थी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस समय आलोच्य समय में आर्यसमाज का जनता पर खासकर हिन्दी भाषी समाज पर प्रभाव बढ़ रहा था और आरंभिक कहानी लेखिकाओं की कहानियों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। स्त्री चेतना का जो विकास था उसका बहुत कुछ संबंध आर्य समाज की विचारधारा से भी है।

स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर स्त्री कथा के बीच एक बहुत बड़ा अंतर परिवार के चित्रण को लेकर हैं स्वतंत्रतापूर्व की कहानियों में परिवार और पारिवारिक संदर्भ स्त्री की पहचान बनाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर स्त्री कथा में भी परिवार महत्वपूर्ण है किन्तु स्त्री की एकमात्र पहचान के रूप में नहीं। स्त्री की सामाजिक गतिविधियां बढ़ रही है। उसी के अनुसार पहचान की कोटियां भी। स्वतंत्रतापूर्व की स्त्री कथाओं में एकल परिवार का अभाव है। परिवार यहां संयुक्त है। वहीं, स्वातंत्र्योत्तर स्त्री कहानियों में संयुक्त परिवार के चित्र कम होते हैं। प्रधानतः एकल परिवार ही हैं परिवार के संबंध में समाजशास्त्रियों

की धारणा पर गौर करें तो कुछ समय पहले तक उनका मानना था कि परिवार एक सार्वजनिक संस्था है जो समाज के ढांचे को बनाये रखने के लिए कुछ आवश्यक सेवाएं प्रदान करता है परिवार की स्त्री के दृष्टिकोण से स्त्री को केन्द्र में रखकर, स्त्री संदर्भ में रखकर देखा ही नहीं गया, जबकि परिवार का निर्माण स्त्री के बिना संभव ही नहीं।

आरंभिक स्त्री कथा लेखन में जो परिवार दिखाई देता है वह मूलतः पितृसत्तात्मक है। इनमें पति या पिता ही परिवार का मुखिया है और उसके प्रति समर्पित होकर ही स्त्री का जीवन सार्थक हो सकता है। सामंती मर्यादाओं को प्रतिष्ठित करने पर जोर है। इस दौर में स्त्री की मुक्ति पर जोर न देकर, स्त्री के जीवन की सार्थकता पुराने मूल्यों और संबंधों में ढूँढने पर है। आरंभिक स्त्री लेखन में स्त्री जीवन की सार्थकता की राह पति की भक्ति, घर के काम–काज, सुस्वादु भोजन बनाने की कला, विधवा का आदर्श जीवन, पतिव्रता की महिमा, सती की महिमा, आदर्श माता, आदर्श बहू आदि विषयों पर कहानियां मिलती है। साथ ही, स्त्री चरित्रों पर भी कहानियां लिखी गई है। यानी स्त्रियों को देशभक्ति के साथ–साथ पति भक्ति की महिमा बतलाई जा रही थी। अंग्रेज स्त्रियों से भारतीय स्त्रियां उपरोक्त गुणों के आधार पर श्रेष्ठ थीं। किन्तु बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था की जरूरत थी कि स्त्रियां शिक्षित हों, घर से बाहर निकले, घरेलू कामकाज के अलावा राष्ट्रीय आय में भागीदारी करें। नवजागरण के एजेंडे में सामाजिक, धार्मिक सुधारों के साथ–साथ स्त्री शिक्षा पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया।

दूसरे दौर की कथा लेखिकाओं ने ज्यादा स्पष्ट तौर पर स्त्री से जुड़े मसलों को उठाया है। इनकी कहानियों में सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियां पृष्ठभूमि के रूप में है, केन्द्र में स्त्री हैं। यहां स्त्री अस्मिता के मुद्दे ज्यादा गंभीरता के साथ विवेचित है। विरोध के हथियार के रूप में स्त्रियों ने उग्र या आक्रामक रूप न अपनाकर मौन और चुप्पी को अपने संघर्ष का हिस्सा बनाया है। परिवार और स्त्री की पारिवारिक भूमिका के सवाल यहां भी प्रमुखता के साथ उठाए गए हैं किन्तु साथ ही व्यक्तित्व की पहचान के साथ जुड़े सवालों की चर्चा पर भी जोर है। इन कथा लेखिकाओं की कहानियों में सामंती बंधनों को तोड़ने के लिए तत्पर स्त्री का चित्र है, हलचल से भरा वर्तमान है, साथ ही, सुखद–स्वतंत्र भविष्य के कल्पना चित्र भी हैं। सपनों के माध्यम से कहानी कही गई है।

आरंभिक काल की स्त्री लेखिकाओं की प्रथम और दूसरी दोनों पीढ़ियों में कुल चीजें सामान्य थी। इन लेखिकाओं ने प्रायः इतिवृत्तात्मक शैली का इस्तेमाल किया है। ऐतिहासिक, पौराणिक कथा वर्णन में प्रामाणिकता के प्रभाव पर जोर दिया गया हैं। चरित्रों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर नहीं हैं मूलतः ये कहानियां उद्‌देश्य प्रधान हैं।

तीसरे दौर की प्रमुख कथा लेखिकाओं में सुभद्रा कुमारी चौहान, उषा देवी मित्रा, महादेवी वर्मा, शिवरानी देवी, सत्यवती मल्लिक, कमला चौधरी, होमवती देवी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, चन्द्र किरण सौनरेक्सा, तेजरानी पाठक, तारा पांडे, प्रेम भटनागर, निर्मला मित्रा, रानी कुसुम, चन्द्रप्रभा द्विवेदी, पुष्पा भारती, मालती शर्मा, रूप कुमारी वाजपेई, सुमित्रा कुमारी सिन्हा आदि प्रमुख हैं इस दौर तक आते–आते सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां बहुत तेजी से बदल चुकी थीं। स्त्रियां गांधी जी के प्रभाववश राजनीतिक मुक्ति के आंदोलन से जितना ज्यादा जुड़ी रही थीं, उतना ही उन्हें स्त्री मुक्ति के आंदोलन के लिए शक्ति प्राप्त हो रही थी। घर से बाहर निकलने में आड़े आने वाली झिझक, संकोच, लड़ना आदि को छोड़कर सक्रिय ढंग से राजनीतिक, सामाजिक गतिविधियों में स्त्रियां शिरकत कर रही थीं। यही स्त्रियां मंचों के साथ–साथ स्त्री हित के मुद्दे को लेखन के द्वारा भी जोरदार ढंग से उठा रही थीं। यह कहा जा सकता है कि जितनी राजनीतिक जागरूकता इस दौर के स्त्री–लेखन में दिखाई देती है, उतनी बाद के दौर में विरल है।

इस दौर की लेखिकाओं की राजनीतिक सजगता आश्चर्यजनक है। कमला चौधरी, सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवरानी देवी आदि स्त्री लेखिकाएं राजनीतिक तौर पर अत्यन्त सक्रिय थी। इस तरह की सामाजिक–राजनीतिक जागरूकता एकमात्र नब्बे के दशक के बाद के दौर में, स्त्री लेखन में

दिखाई देती है। इस दौर के स्त्री लेखन में उपरोक्त विषयों के अलावा सामंती शोषण को चित्रित करने वाली कहानियां भी मिलती हैं। शोषित मजदूर, किसान एवं अछूत आदि स्त्री साहित्य में दिखाई पड़ते हैं। साथ ही आधुनिक परिस्थितियों के दबाव में पैदा हुए प्रश्न भी कहानी का विषय बने। इस समय नए ढंग की स्त्री का जन्म हो रहा था जो विवाह संस्था का निषेध करती है, विवाह के अन्तर्गत तलाक के विकल्प को स्वीकार करती है, बेमेल विवाह है, गैर बराबरी और असमानता पर आधारित विवाह को चुनौती देती है, दहेज का विरोध करती है, व्यक्तिगत प्रेम को महत्व देती है। स्त्री की पत्नी, माँ, बहू, बेटी, बहन जैसे भूमिकाओं के भीतर से ही नए किस्म के सवाल पैदा हुए। इनके अलावा विधवा विवाह, संयुक्त परिवार, वेश्या, बच्चों के संरक्षण का प्रश्न भी स्त्री साहित्य में चित्रित हुआ है। एक मूलगामी अन्तर जो इस दौर की स्त्री रचनाओं में दिखाई देता है कि इनमें स्त्री शिक्षा को स्त्री के 'बिगड़ने' के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया गया है। यह 'बिगड़ना' भी कैसा कि नई पाश्चात्य शिक्षा की रोशनी में स्त्री के लिए निर्धारित सामन्ती जड़ मूल्यों का त्याग है। इस दौर की लेखिकाओं की कहानियां, भाषा और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तर पर परिपक्व हैं और अपने दौर के किसी भी पुरूष कहानीकार की रचनाओं से टक्कर ले सकती है। बल्कि कहीं–कहीं भारी भी पड़ जाती हैं। कुल मिलाकर आधुनिक हिन्दी कहानी के आरंभिक स्त्री लेखन के परिदृश्य पर गौर करें तो पाएंगे कि आरंभ में स्त्री की आदर्श मूलक सार्वभौम छवि के निर्माण पर जोर है। स्त्री के मूलतः गृहिणी होने के कारण उसके लेखन में भी घर और परिवार के संदर्भ ही ज्यादा आए हैं। लेकिन यह स्थिति ज्यादा समय तक नहीं रही। बदलाव के लक्षण दूसरे दौर में दिखाई देने लगे। तीसरे दौर तक आते–आते तो स्त्री कथा लेखन के परिदृश्य में गुणात्मक परिवर्तन घटित हुए। स्त्री की दुनिया बदली, उसके लेखन का दायरा भी। मध्यकाल में जहां धर्म, बाजार और स्त्री के घरेलू परिवेश का विस्तार हुआ करते थे वहीं आधुनिक काल में सभा, सोसाइटी, जलसे, गोष्ठियां, जुलूसों, विभिन्न मंचों, आदि के विकास में स्त्री के लिए भिन्न परिवेश का निर्माण किया जो उसके घरेलू परिवेश का विस्तार बिल्कुल नहीं था। सार्वजनिक परिवेश के निर्माण के कारण स्त्री के सामाजिक दायित्व और भूमिका के बारे में प्रचलित समझ में भी अन्तर आया। अच्छी पत्नी, अच्छी माँ, अच्छी पुत्री, अच्छी बहू के अलावा स्त्री की सामाजिक भूमिका के विविध रूप सामने आए। 'घर' की अवधारणा में भी तब्दीली आई। नए किस्म के बुर्जुआ घर अस्तित्व में आए जिनमें स्त्री स्वतंत्र भी थी और गुलाम भी। जिस प्रकार अधिक मुनाफा और निवेश जिस तरह से पूंजीवाद के विकास के लिए जरूरी हैं वैसे ही यह भी जरूरी है कि वह स्त्री की 'घर' से मुक्ति सुनिश्चित करें। स्त्री इतनी मुक्त हो कि वह अपनी पसन्द–नापसन्द जाहिर करे और बाजार के विकास के ग्राफ को एक अच्छी उपभोक्ता के रूप में प्रभावित कर सके। गौरतलब है कि इस तीसरे दौर की स्त्री कहानी लेखन में कामकाजी आधुनिक स्त्री की इमेज नहीं आई हैं स्त्री मजदूरनी है, किसान की पत्नी है, पर कामकाजी स्वनिर्भर स्त्री नहीं है। आमतौर पर स्त्री लेखन के लिए आवश्यक परिवेश उपलब्ध नहीं होता। लिखने के लिए स्त्री को जो अतिरिक्त प्रस्तुति लेनी होती है उसे देखते हुए वर्जीनिया वुल्फ ने स्त्री–लेखन को एक 'जुनूनी कोशिश' कहा है। स्त्री के लिखने के लिए न परंपरा होती है न परिवेश होता है। परिवेश के अभाव के कारण ही निम्न वर्ग की स्त्रियां लेखन के क्षेत्र में कम आती हैं। जो खाते–पीते मध्य वर्ग की स्त्रियां आती भी हैं, उनके लिए भी एक प्रतिरोधी परिवेश में लिखना चुनौतीपूर्ण ही होता है, सहज नहीं। यही कारण है कि आरंभिक स्त्री लेखन मूलतः जीवन के साथ गहराई से जुड़ा है। उन्हीं विषयों और मूल्यों पर केन्द्रित है जिनकी उपस्थिति स्त्री संसार के इर्द–गिर्द है। आरम्भ में यह निजी अनुभवों का हिस्सा होने का आभास होते हुए पुराने मूल्यों की वकालत में बड़ा दिखाई देता है किन्तु इसी में से विवादी स्वर भी पनपता है। स्त्री का लिखना स्वयं में स्त्री का प्रतिरोधी भाव व्यक्त करता है। इन सब के अतिरिक्त स्वयं हमें यह अहसास होना चाहिए कि हिन्दी साहित्य के इतिहास का कितना महत्वपूर्ण हिस्सा उसमें शामिल होने से रह गया परन्तु आज जब स्त्रियों का लेखन केन्द्र में है तो विश्वविद्यालयों में स्त्री विमर्श को साहित्य के पाठ्यक्रम में शामिल किया जा रहा है और तो और इस विषय पर अनेकानेक शोध कार्य भी कराये जा रहे हैं तो इसे गति देने के लिए जरूरी है कि

हम स्त्री लेखन पर बहस, पाठ के आधार पर करें, और ये कार्य हो भी रहा है जिससे कि स्त्री लेखन को समझने के लिए स्त्री कथा लेखन एक महत्वपूर्ण आधार बन पड़ा है।

lUnHk %

1. 'हिन्दी कथा साहित्य के विकास में महिलाओं का योग' – उर्मिला गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1966
2. 'आधुनिक युग की हिन्दी लेखिकाएं' – उमेश माथुर, ऋषभ चरण जैन एवं संस, दिल्ली, 1969
3. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श – जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2000
4. बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष – भवदेव पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
5. स्त्री कथा (1907–1947) – डॉ0 सुधा सिंह, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, सं0–2005
6. समकालीन कथा साहित्य सरहदें और सरोकार– रोहिणी अग्रवाल, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्र0 सं0–2007

****

mÙkj&vk/kqfudrk ds ;qx esa L=h&foe'kZ dk ;FkkFkZ

uqgk xkSM*

वर्तमान समय में स्त्री–विमर्श बहुत ही चर्चित विषय के रूप में स्थापित हुआ है, क्योंकि हमारे समय में स्त्री–विमर्श पर बात करना ज्यादा आसान है। कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में स्त्री अध्ययन का अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित हुआ, अस्तु नये विषय के रूप में स्त्री–विमर्श ने अपनी पहचान बनाई है। आज विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्त्री–विमर्श चलाया जा रहा है। स्त्री अध्ययन के अन्तर्गत स्त्रियों से जुड़ी समस्याएं जैसे आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दैहिक, भौतिक, इत्यादि का अध्ययन सीधे–सीधे हो रहा है, और अनेक विधाओं कविता, उपन्यास और आत्मकथा के माध्यम से देखा–परखा जा रहा है हालांकि स्त्री–अध्ययन और स्त्री–विमर्श में कुछ भेद है, लेकिन दोनों के केन्द्र में स्त्री ही है तथा स्त्री–विमर्श के चर्चे चारों तरफ हैं। हर सभा, गोष्ठी और पत्र–पत्रिकाओं में स्त्री–विमर्श शीर्ष पर है ''आज हम जिस परिवेश में रह रहे हैं वह विभिन्न वादों–विवादों से घिरा हुआ है, और इन वादों–विवादों की विभाजक रेखा इतनी सूक्ष्म व जटिल है कि एक को दूसरे से पूर्णतया विभाजित करना बहुत ही समस्यापूर्ण और जोखिम भरा काम है। इन वादों में आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, भूमण्डलीकरण, बाजारीकरण और उत्तर–उपभोक्तावाद जैसी विचार धाराएं एक दूसरे में अन्तर्निहित और एक दूसरे को ओवरलैप्स करती हैं इन्हीं विचारधाराओं के बीच स्त्री–विमर्श और दलित–विमर्श या अन्य उत्तर–आधुनिक विमर्श चल रहा है, जिन्हें उपर्युक्त विचारधाराओं से अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

आज के दौर में जब स्त्री–विमर्श और स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर चर्चा की जाती है, तो हमारा ध्यान 20वीं शदी के अन्तिम दो दशकों पर जाता है– अर्थात 1980 से इस दिशा में व्यापक बदलाव की लहर दिखने लगती है। ''उत्तर आधुनिकतावाद, उपभोक्तावाद और नारीवाद विमर्श में स्त्री की बदलती हुई भूमिका पर विचार करना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि ऐसा माना जाने लगा कि उपभोक्तावाद का दबाव स्त्री पर सर्वाधिक है। इस उत्तर–आधुनिक, उत्तर उपभोक्तावादी संस्कृति के नये बाजार के निर्माण तथा विकास के लिए स्त्री के देह को एक वस्तु 'कमोडिटी' बनाकर प्रस्तुत किया है। आज सवाल उठाया जाने लगा है कि दृश्य में सबसे अधिक स्त्रियां हैं तो क्यों? मीडिया, विज्ञापनों में स्त्री देह ही क्यों हैं ? वह स्त्री की देह का इस्तेमाल क्यों कर रहा है ? बात सही है कि विज्ञापनों में हर जगह स्त्री की देह है। उसकी देह, अंगों को कोलोनाइज कर दिया गया है। सौन्दर्य के प्रतिमान भी बदलने लगे हैं। स्त्री की सुन्दरता को खास ढंगों से फिक्स कर दिया गया। उसका मानवीय सौन्दर्य नष्ट कर दिया गया है इसको सीमित कर दिया गया है।

पुरुष जब तक पुरुषवादी मानसिकता से स्त्रियों की स्थिति पर बात करेगा तब तक वह न्याय नहीं कर पायेगा और गौर करने की बात यह है कि दुनिया की आधी आबादी स्त्रियों की है लेकिन फिर भी उसके सौन्दर्य का प्रतिमान पता नहीं क्यों पुरुष ही गढ़ता है, जबकि पुरुष अपने सौन्दर्य के प्रतिमान के लिए स्त्रियों को यह अधिकार नहीं देता है कि स्त्रियाँ मानक बनाये कि पुरुष को कैसे रहना है ? क्या पहनना है ? क्या खाना है ? इत्यादि। स्त्री–विमर्श जैसा शब्द भले ही नया हो पर स्त्री–मुक्ति

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

का प्रश्न नया नहीं है। हालांकि स्त्री अपने अधिकारों के प्रति जागृत भी हुई तथा कई आन्दोलनकारी विमर्श भी चलाए गये और उन आन्दोलनों में उनका स्वर भले ही दबा रहा हो, लेकिन भारत में स्त्री–मुक्ति का इतिहास नया है। स्त्रियों के जीवन में बदलाव के लिए एक बार जब विवेकानंद से प्रश्न किया गया तो उनका उत्तर भी स्त्री–विमर्श से संबंधित था– ''तुम औरतों की मुश्किल आसान करने वाले हो कौन ? क्या तुम प्रत्येक विधवा और हरेक स्त्री के जीवन को नियमित करने वाले सर्वज्ञ हो ? उन्हें अपनी मुश्किलों से खुद निपटने दो।'' स्त्रियों की धार्मिक मान्यताओं रुढ़ियों, परम्पराओं को तोड़ने में भी बाजार की महती भूमिका रही है। स्त्री स्वतंत्रता का बाजार से जो संबंध है, वह यह है कि बाजार ने स्त्री में आत्मबल पैदा किया उसे बाजार में आने–जाने, काम करने, रोजगार की नई संभावनाओं को तलाश करने, नई समस्याओं से सामना होना तथा उससे सजग रहने की चुनौती स्त्री में नया आत्म बल पैदा किया।

नई दुनिया में स्त्री–मुक्ति का प्रयास निरूद्‌देश्य नहीं था। स्त्रियां समान कानूनी और राजनीतिक अधिकारों के साथ न केवल बेहतर शिक्षा की मांग कर रही थीं बल्कि पुरूषों के बराबर जिम्मेदारी उठाने को भी तैयार थी। वे सार्वजनिक स्थलों पर बराबर का हक मांग कर रही थी।

स्त्री समाज पर निरन्तर बढ़ता जा रहा दमन, उत्पीड़न, अत्याचार, हत्या, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, आत्महत्याएं आदि यह सिद्ध नहीं करती हैं, कि आज भी पितृसत्तात्मक समाज का दृष्टिकोण उनके प्रति उत्पीड़ितों, उपनिवेशों जैसा हैं आखिर क्यों ? पितृसत्तात्मक समाज उनके प्रति इतना हिंसक, अमानवीय अभद्र एवं असंवेदनशील रहा है? स्त्री समाज के प्रति हमारी इतनी संवेदनशीलता क्या यही प्रमाणित नहीं करती कि हम कितने हिंसक, असभ्य, बर्बर लोग हैं। उनके प्रति असंवेदनात्मक हैं, जो समाज लिंग–भेद की राजनीति में जकड़ा हुआ असंवेदनशील है खुद को विकसित अथवा इक्कीसवीं शताब्दी का सभ्य समाज कैसे कहता है? यह बात समझ में नहीं आती। वह समाज कभी विकसित अथवा इक्कीसवीं शताब्दी का समाज नहीं हो सकता।

जब हम इक्कीसवीं सदी या भूमण्डलीकरण के संदर्भ में स्त्रियों को लेकर बात करते हैं तो हम विज्ञापन की स्त्री न्यूडसीन, मसाला फिल्म में काम करने वाली स्त्री, देह व्यापार में लिप्त स्त्री, स्त्री देह का बाजारीकरण, स्त्रियों का समाप्त होता अन्तस् वह इन्हीं सब मुद्‌दों के द्वारा स्त्री शोषण को दिखाने का प्रयास करते हैं और साथ ही यह प्रयास भी करते हैं कि यह सब ऐसा दिखे कि केवल बाजार की चमक में पड़कर स्त्रियां खुद अपने साथ न्याय नहीं कर पा रही हैं, जबकि बहुत ऐसे समाज हैं जहाँ बिना विज्ञापन, भूमण्डलीकरण, बाजार के प्रभाव के बिना ही स्त्रियों का जबरदस्त शोषण हो रहा है।

स्त्री समाज के लिए कदम–कदम पर कठिनाइयाँ हैं। क्या करे स्त्री? कितनी समस्याओं से निपटे। हमारे समाज में ऐसा माना जाता रहा है कि स्त्री की जाति नहीं होती, अब जिसकी जाति ही नहीं होगी उसकी जातिगत समाज में क्या पहचान होगी, वो कैसे अपने अस्तित्व एवं अस्मिता की लड़ाई लड़े? समीक्षक, स्तम्भकार और पत्रकार राजकिशोर ने एक अखबार में लिखा था– स्त्रियों तुम्हारी जाति क्या है ? जवाब मैत्रेयी पुष्पा के पास मौजूद था। 'खुली खिड़कियाँ' में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं– ''कहने का मतलब है कि स्त्री का अपना स्वतंत्र वर्ण नहीं होता वह बनाया जाता है यदि पंडितजन चाहें तो चमार कन्या को मंत्र–श्लोक पढ़कर, गंगाजल से नहला कर शुद्ध कर लें। अनाथालयों, विधवाश्रमों और वनिताग्रहों से लायी गयी या भोगी गई स्त्रियों की जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से क्या है ? कौन जानता है ? बिरादरी भोज ऐसा पारस है, जो औरतों को पति की जाति बताता है। सामाजिक शर्त यह भी है कि यदि पति उसको छोड़ता भी है तो अपनी जाति भी छीन लेगा। वह दूसरी जगह जायेगी तो दूसरे की जाति पहन ओढ़ लेगी और वर्तमान मालिक से पहचानी जायेगी।''

पितृसत्ता स्त्री–मुक्ति के मार्ग में मजबूत अवरोध का काम करता है। पितृसत्तात्मक तंत्र के द्वारा सदैव स्त्रियों को कैद करके रखा गया है और उसे गुलाम बनाये रखा गया। यह दर्द समय–समय पर स्त्री लेखिकाओं द्वारा साफ बयां किया गया, लेकिन निरन्तर संघर्ष के बाद भी

तस्वीर उतनी साफ नहीं हो पा रही है जितनी होनी चाहिए। यह स्त्री–मुक्ति का प्रयास नहीं है इसका एक लम्बा इतिहास है। महादेवी वर्मा 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में लिखती हैं, ''चाहे नारी की गौरव गाथा से आकाश गूंज रहा हो चाहे उसके पतन से पाताल कांप उठा हो परन्तु उसके लिए 'न सावन सूखे, न भादों हरे' की कहावत ही चरितार्थ होती रही है उसे अपने हिमालय को लजा देने वाले उत्कर्ष तथा समुद्रतल की गहराई से स्पर्धा करने वाले अपकर्ष दोनों का इतिहास आँसुओं से लिखना पड़ा है और संभव है भविष्य में भी लिखना पड़े। क्या नारी के बड़े से बड़े त्याग को, आत्म निवेदन को, संसार ने अपना अधिकार नहीं किन्तु उसका अद्‌भूत दान समझकर नम्रता से स्वीकार किया है ? कम से कम इतिहास नहीं बताता कि उसके किसी बलिदान को पुरूष ने उसकी दुर्बलता के अतिरिक्त कुछ अैर समझने का प्रयत्न किया।''

स्त्री–विमर्श और स्त्री–जीवन की यह तस्वीर उदारीकरण, भूमण्डलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद के पहले की है। आज भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के दौर में जब स्त्री–विमर्श पर बात की जाती है तो बाजार को स्त्री–अस्मिता एवं अस्तित्व के खिलाफ बताया जाता है, लेकिन विचार करने की बात यह है कि क्या इसके पहले सच में स्त्रियाँ स्वतंत्र थीं जो अब गुलाम होती जा रही हैं ? अगर स्वतंत्र थी तो गुलाम क्या गुलाम होगा ? उसके पास तो खोने के लिए कुछ भी नहीं होता और पाने के लिए सारा जहां होता है। ''अमेरिका के अनुसार बाजार की अर्थव्यवस्था सारी बुराइयों को मिटाने में सक्षम है। इस व्यवस्था में लोगों के जीवन में स्वतः सुधार होगा और वंचित स्त्री वर्ग भी इससे लाभान्वित होगा।''

स्त्रियों की यह तस्वीर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, बाजारीकरण से पहले की है। जो अब धुंधली पड़ती जा रही है और बाजार अब स्त्री की मजबूत तस्वीर गढ़ रहा हैं ''आज स्त्रियां हर एक क्षेत्र में हिस्सा लेने लगीं हैं और पितृसत्ता को खुद तोड़ने लगी हैं। आज सबसे बड़ा परिवर्तन पुरुषों की मानसिकता में आया बदलाव है, उन्होंने इस तथ्य को स्वीकर करना शुरू कर दिया है कि योग्य अवसर मिलने पर कोई ऐसा कार्य नहीं है जो स्त्री कुशलतापूर्वक न कर सके। अतः कामकाज के किसी भी क्षेत्र में लैंगिक भेद–भाव वांछनीय नहीं है अपितु समाज के लिए हानिकारक है।

उत्तर–आधुनिकता के युग में स्त्री–विमर्श के यथार्थ पर बात की जाय तो आज स्त्री–विमर्श अैर स्त्री–मुक्ति का जो प्रश्न चल रहा है, निरुद्‌देश्य नहीं है। वह एक जटिल और ऐतिहासिक परिदृश्य का परिणाम है। ''स्त्री मुक्ति संघर्ष का एक नया शास्त्र नारी–विमर्श विकसित होना भी ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा है। दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य, समीक्षा जैसे अनेकानेक ज्ञानानुशाासन नारी–मुक्ति संघर्ष पर नये–नये विमर्श बना रहे हैं।''

विमर्शों का हमारे समाज पर असर दिखेगा और हकीकत यह है कि बदलाव भी संभव होगा।

अन्त में 'पंत' की दो पंक्ति के माध्यम से पितृसत्ता पर चोट करते हुए स्त्री–मुक्ति आन्दोलन को बल प्रदान करने की कामना की जा सकती है।

योनि नहीं है रे नारि वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित।।

lUnHkZ %

1. प्रो0 सूरज पालीवाल – हिन्दी में भूमण्डलीकरण का प्रस्ताव और प्रतिरोध, पृ0–11
2. प्रभा खेतान – बाजार के बीच, बाजार के खिलाफ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2004, पृ0–125, 53, 54
3. राकेश कुमार – नारीवादी–विमर्श, आधार प्रकाशन, हरियाणा, द्वितीय संस्करण, 2004, पृ0–157, 14, 23, 31
4. मैत्रेयी पुष्पा – खुली खिड़कियाँ, सामाजिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ0–41, 88
5. देवेन्द्र इस्तर – स्त्री–मुक्ति के प्रश्न, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, 2009, पृ0–113
6. महादेवी वर्मा – श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0–32

****

orleku ifjiz{; e: ukjh dh n'kk rFkk fn'kk

Mk0 jk/k';ke ek;*

इस समय नारी एक ओर जहाँ अपनी अस्मिता को लेकर संकटग्रस्त है, वहीं दूसरी ओर शासन–प्रशासन व निकायों द्वारा भी इस तरफ कोई सक्रिय भूमिका नहीं दिखाई देती। स्त्रियों के आरक्षण की बात तो होती है परन्तु उसके अस्मिता की बात लोग नहीं करते। यदि नारी सबल है तो देवी यदि जरा भी निर्बल हुई तो भोग्या व दासी बनकर रह जाती है। पति के लिए चरित्र, संतान के लिए ममता, समाज के लिए शील, विश्व के लिए दया, जीव मात्र के लिए करूणा से पूर्ण महान प्रकृति का नाम नारी है।

वेदव्यास जी ने नारी के माता रूप को देखते हुए कहा है :–

नास्तिमातृसमा छाया, नास्तिमातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं, नास्ति मातृसमा प्रिया।।

लेकिन क्या हमारा समाज नारी के इस रूप को स्वीकार करता है? नहीं। आज नारीदवादी चिन्तन की मुख्य चिन्ता स्त्री के अस्मिता के साथ–साथ उसकी दोयम दर्जे की स्थिति। आज की दुनिया में शायद ही कोई समाज हो जहाँ स्त्री पुरूष में समानता है। उन्हें अवसर की बराबरी, इज्जत, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संरचना में बराबरी के अधिकार प्राप्त हों। घर के भीतर व बाहर सब तरफ जो पुरूष के लिए जायज है वही स्त्रियों के लिए नाजायज है। स्त्री कहीं स्वतंत्र नहीं है। उसकी सुरक्षा पुरूष के अधीन रहने में ही है। 'उमा चक्रवर्ती' ने कहा है– ''विश्व के अधिकतर हिस्सों में दर्ज इतिहास की अधिकांश अवस्थाओं में स्त्री पराधीनता का वजूद है।'' स्त्री को अधीन बनाने वाली सामाजिक संरचना में पितृसत्ता की एक अहम एवं महत्वपूर्ण भूमिका है। पितृसत्ता का अर्थ है– पुरुष वर्चस्व। संस्कृति को अच्छी तरह वहन कर सके इसके लिए हर धर्म स्त्री के लिए किसी मूल्य की संरचना करता है। नारीवादी चिंतक 'मेरीवोल्सटन क्राफ्ट' का तर्क है ''यदि पुरूष को भी स्त्री की तरह एक पिंजरे में बंद कर दिया जाये तो उसका भी चरित्र स्त्री की भाँति कमजोर हो जायेगा। वह चाहे जितना बड़ा सैनिक हो घर की चहार दीवारी में कैद रहने से उसके स्वभाव में मजबूती नहीं आयेगी। वह भी औरत की भाँति ज्यादा भावुक, अति संवेदनशील, आत्मकेन्द्रित और स्वयं को दुलारने वाला होगा।''

जब ये पुरूष, स्त्रियों से यौन सम्बन्ध बनाते हैं तब न तो जाति–पांति देखते हैं न ही कुल–मर्यादा। लेकिन जहाँ उनके सामने सिंदूर के दायरे में बाँधने की बात आती है तो लड़की के जाति–पांति, कुल, धर्म, मर्यादा, सतीत्व आदि का तार्किक विश्लेषण उनके सात पीढ़ियों तक करते हैं। पुरूष समाज स्त्री के तन व मन दोनों का राजा बनना चाहता है। हमारे समाज में समानता की बात तो की जाती है लेकिन वह केवल जिह्वा से निकली वाणी व कागज के पन्नों तक ही सिमटकर रह जाती है। अब स्त्री इस अवसर का लाभ उठाकर बाहर (नौकरी हेतु) निकलने लगी है। लेकिन पगार की ख्वाहिश घर का मुखिया ही रखता है। वह यह भी चाहता है स़्त्री बाहर का काम मेरे अनुशासन में रहकर करे। स्त्री अपनी इच्छानुसार पैसे भी खर्च नहीं कर सकती। स्त्रियों का अधिकतम समय

*प्रवक्ता, जी0वी0इं0 कॉलेज, देल्हूपुर, प्रतापगढ़ उ0प्र0।

अनुत्पादक श्रम में खर्च हो जाता है। घरेलू कार्य जैसे बच्चे पालना, घर की सफाई, पशुओं की देखभाल, वृद्धों की सेवा करना, खाना बनाना आदि का न कोई आर्थिक मूल्य मिलता है, न ही ये कार्य सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित हो सकते हैं। जब औरतों द्वारा किये गये कार्यों का मशीनीकरण होता है तो काम आसान हो जाता हैं पारिश्रमिक भी बढ़ जाता है। उस समय ये काम पुरूष अपने हाथ में ले लेता है तथा औरतों को हाशिये पर धकेल दिया जाता है। इसका मुख्य कारण है पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्रियों का अवमूल्यन।

भारतीय समाज में स्त्री होना ही एक कलंक है। पुत्री के रूप में आते ही अवमानना, उपेक्षा, अपमान का जहर दिया जाने लगता है। स्त्री जीवन की इस नीति को सभी संवेदनशील रचनाकारों ने रचना का विषय बनाया। प्रभा खेतान ने अपने लेख 'बाहर–भीतर की दुनिया में' लिखा है– 'माँ के गर्भ से ही स्त्री को अस्वीकृति मिलने लगती है। नाभि टटोलकर, चेहरा निरखकर, खट्टा या मीठा पूछकर, उल्टी जल्दी शुरू हुई या देर से, जाँच–पड़ताल कर परिवार व समाज की बड़ी बूढ़ी औरतें यह ढिंढोरा पीट देती हैं कि बेटे की माँ बनेगी या बेटी की। बेटे का आना परिवार की खुशियों में बरक्कत लाना होता है। बेटी के आने से ज्यादातर गम ही होता है। कारण चाहे जो भी हो दमघोंटू उत्पीड़न झेलती तो स्त्री ही है।' दरअसल मध्यम वर्गीय हमारा पुरूष समाज अंधविश्वास व रूढ़ियों का पोषक है खासकर स्त्रियों के लिए बहुत ही वेदना और कुंठाओं का कारण है। माध्यम वर्गीय समाज सारा दोष केवल स्त्री को ही देता है :–

तुम औरत जात हो यदि लड़का न पैदा हो तो तुम्हारा दोष। तुम औरत जात हो इसलिए पति की हर इच्छा में तुम्हारी इच्छा शामिल हो। तुम औरत जात हो इसलिए तुम्हें सवाल करने का हक नहीं। अपना भाग्य खोटा है तो किसी को दोष क्यों दो क्योंकि तुम औरत जात हो। औरत जात हो अकेले कैसे रहोगी।

अब ऐसा नहीं है, एक समय था जब स्त्रियाँ घर के बाहर में रहकर कढ़ाई, बुनाई में व्यस्त रहती थी। आज उनके हाथ में क्रोशिये के स्थान पर कलम है, आज महिला लेखन के बढ़ते दायरे ने अनेक विधाओं, कविता, कहानी, उपन्यास आदि में स्त्री ने अपने दोयम दर्जे को नकारा है। महिला लेखन के मूल में स्त्री चेतना का एक छोटा सा बीज है। महिला लेखन कोई चुनौती न होकर एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकार की सम्पूर्ण माँग करने वाला साहित्य है। अब मानवीय संस्कृति के निर्माता और संवाहक परस्पर कट के नहीं रह सकते। समन्वय व संवाद में मानवीय अस्मिता स्त्रियों की पहली शर्त है– आजकल लड़कियाँ अपने आपको कहीं भी सुरक्षित नहीं पाती हैं, चाहे घर हो या समाज। बलात्कार की आपराधिक प्रवृत्ति ने उन्हें पूरी तरह झकझोर दिया है। जिसके फलस्वरूप वो इतनी ज्यादा संशकित हो गयी हैं कि अपनों पर भी विश्वास करना मुश्किल हो गया है। आज का मानव इतना हैवान हो गया है कि अपने घिनौने व घृणित प्रवृत्ति से मजबूर होकर किसी भी हद तक जा सकता है। यदि हम दिल्ली दुष्कर्म काण्ड के सन्दर्भ में देखें तो – ''नारी के प्रति उन पाँच दरिंदों में अगर थोड़ी भी संवेदना होती तो हमारा देश विश्व स्तर पर इतना शर्मसार न होता और दामिनी या निर्भया जैसी बेटी विदेशी भूमि पर अपना दम न तोड़ती।''

हम उस पुरूष समाज के लिए क्या कहें जहाँ वह एक तरफ दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती के मानवीय रूप की उपेक्षा कर उसका शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक शोषण करता है वहीं दूसरी तरफ जब वो संकट में पड़ता है तो दुर्गा चालीसा पढ़ता है, जब धन का मारा होता है तो लक्ष्मी का पूजन करता है, जब परीक्षाएं पास करनी होती हैं तो सरस्वती का उपासक बन जाता है। आज हर चौराहे पर सुपर्णखा की नाक कट रही है। हर कुनबे से सीता का हरण हो रहा है, हर मुहल्ले में द्रोपदी का चीरहरण हो रहा है किन्तु किसी रावण में अपने बहन का बदला लेने की हिम्मत नहीं है, कोई सीता को जीतकर वापस नहीं ला रहा है, कोई कृष्ण द्रोपदी का चीर बढ़ाने नहीं आ रहा है, हाँ दुष्यन्त अलबत्ता बेवफा हो गया है। पति–परायण सीताओं की अग्नि परीक्षा हो रही है। वह माँ, बहन, पुत्री व पत्नी के रूप में उतनी प्रिय नहीं जितनी प्रिया/भोग्या के रूप में महत्वपूर्ण है। इसलिए हम नारी वर्ग से कहना चाहेंगे–

उठो तुम खुद को पहचानो नये युग की नयी नारी।
बदल डालो जमाने को नये युग की नयी नारी।।

हमें तो नारी के दो रूप दिखाई देते हैं क्योंकि नारी शिव की शिवानी रही है तो खल की संहारणी भी। सीता, सावित्री और श्रद्धा के संग–संग रणचण्डी भी। नारी के ओज व ऊर्जा की शाश्वत स्रोत रही है। वह साधना में सावित्री है तो सतीत्व में अनसुईया, त्याग में सीता है तो अनुराग में राधा। वह राधा के रूप में कनुप्रिया है तो श्रद्धा के रूप में मनुप्रिया। अस्तु नारी आदरणीय भी है और अनुकरणीय भी, वह वरदायिनी भी है और विंध्यवासिनी भी, वह सृजनकर्ता भी है और शमशान भी वह सत्यम से शिवम, शिवम से शुभम् और शुभम् से सुन्दरम का अपूर्व संयोग है। वह अतीत की विराट चेतना है। वर्तमान का वैभव और भविष्य की भव्य कल्पना। वह भारत की भावित्री जिसमें ओज के ऊर्जा की अकूत ऊष्मा है। क्योंकि –

नारी श्रद्धा है, सेवा है, नारी अमृत की प्याली है।
लेकिन नारी ज्वाला भी है वह परम कराली काली है।

यदि संसार में पुरूष चौदहवीं का चाँद है तो नारी मुनव्वरे आफताब है और रात और दिन के गर्दिश की एक रसीला गीत है। पुरूष वर्ग ये क्यों भूल जाता है कि नारियों के बिना उसकी बाल्यावस्था असहाय, युवावस्था आनन्दरहित और वृद्धावस्था सान्त्वना शून्य है। स्त्री पुरूष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अंधकार से। मनुष्यों के लिए क्षमा, अहिंसा, त्याग, सच्चा आदर्श है तो नारी उसे प्राप्त कर चुकी है।

'गोदान' में मुंशी प्रेमचन्द्र ने भी कहा है– 'यदि स्त्री के गुण पुरुष में भी आ जायें तो वो देवता हो जाता है और पुरूष के गुण स्त्री में आ जाय तो वह कुल्टा हो जाती है।' स्त्री सिर्फ खोखला नहीं और न ही अन्धेरी सुरंग है। वह जंगल का पूर्ण सौन्दर्य है। वह चिड़ियों का कलरव, पत्तों का संगीत, पहाड़ों के भीतर से रिसता हुआ सोता और झरने की कलकल ध्वनि भी है। क्या स्त्री के मन व शरीर के भीतर फैले इस अगम्य व अबूझ जंगल के सौन्दर्य को समझने का प्रयास किया जाता है। अगर नही तो दाम्पत्य– जीवन के दो सरल समानान्तर रेखाओं की तरह बहुत दूर साथ–साथ चलते हुए स्त्री–पुरूष न तो एक दूसरे के मन को समझ पाते हैं और न शरीर के रहस्य को।

मैरीकॉम, टेसी थामस, सुनीता विलियम्स, कल्पना चावला, महादेवी वर्मा, सरोजिनी नायडू, श्रीमती इन्दिरा गाँधी, मीरा कुमार, सुषमा स्वराज, सोनिया गाँधी, ममता बनर्जी, जयललिता तथा मायावती की प्रतिभा तथा इनकी कार्यशैली पुरूषों से किसी माने में कम नहीं है। अर्थात् इससे निष्कर्ष निकलता है कि यदि महिलाओं को उचित अवसर व भागीदारी दी जाय तो वे पुरूषों से कहीं आगे निकल सकती हैं।

अन्त में पुरूष समाज तक हम अपना संदेश पहुँचाना चाहते हैं।

गर आप देखना चाहते हो नारियों के उड़ान को।
तो जाके थोड़ा ऊँचा करो इस आसमान को।।

l UnHkZ %

1. बेतवा बहती रही उपन्यास – मैत्रेयी पुष्पा
2. अपनी सबीले – नमिता सिंह
3. थकी हुई सुबह – रामदरश मिश्र
4. मत्स्येन्द्र नाथ शुक्ल की पुस्तक
5. स्त्री विमर्श की कहानियाँ – डॉ लालसा यादव (हिन्दी परिषद प्रकाशन) पृष्ठ – 17
6. स्त्री विमर्श की कहानियाँ – डॉ लालसा यादव (हिन्दी परिषद प्रकाशन) पृष्ठ – 21–23
7. स्त्री विमर्श की कहानियाँ – डॉ लालसा यादव (हिन्दी परिषद प्रकाशन) पृष्ठ – 29–31
8. स्त्री विमर्श की कहानियाँ – डॉ लालसा यादव (हिन्दी परिषद प्रकाशन) पृष्ठ – 53

****

L=h&efDr d: l?k"k: e: ehjkckb: dk ;kxnku

lUrks"k dqekj*

मध्यकाल की सामंती, रूढ़िवादी, संकीर्ण विचारधारा के विरुद्ध मीराबाई ने जो विद्रोह की आवाज उठायी, वह तत्कालीन समाज में चुनौतीपूर्ण कार्य था। फिर भी मीरा ने अपने समाज, परिवेश एवं मूल्य–परम्पराओं की जकड़बन्दी को तोड़कर अस्वीकार, विरोध और प्रतिकार की आवाज उठाना स्त्री–मुक्ति के लिए श्रेयस्कर समझा। विद्रोही चेतना के कारण ही मीरा का सम्पूर्ण रचनाकर्म क्रान्तिकारी विचारधारा का परिणाम है।

मीराबाई का परिचयात्मक विवरण देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं– "ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर को बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं, इनका जन्म संवत् 1573 में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था।"[1] इस प्रकार मीराबाई का जन्म राजपूत परिवार में हुआ एवं विवाह भी राजपूत परिवार में हुआ, लेकिन मीरा का मन राजसी ठाट–बाट में नहीं लगा। विवाह के कुछ समय बाद ही पति की मृत्यु हो जाती है। मीरा का मन ईश्वर भजन एवं साधु–संतों की संगत में लगने लगा। परिवार द्वारा इसका विरोध होने लगा। देवर द्वारा उन पर बहुत अत्याचार हुए लेकिन उनके पग रुकने वाले कहाँ थे ? उसकी अभिव्यक्ति पदों में इस प्रकार मिलती है–

> "पग बाँध घुघरयाँ णाच्यारी।
> लोग कह्याँ मीरा बाबरी, सासु कह्याँ कुलनासी, री।
> विष रो प्यालो राणा भेज्याँ, पीवाँ मीराँ हाँसाँ री।
> तण मण वार्‌याँ हरि चरणमाँ दरसण अमरित प्यास्याँ री।
> मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, थारी सरणाँ आस्याँ री।"[2]

स्वानुभूति की इस वेदना को व्यक्त करना, मीरा के भोगे हुए जीवन की कटु सच्चाइयाँ हैं। मीरा का स्त्री होना एवं स्त्री होकर विद्रोह करना यह सिसोदिया वंश के खिलाफ था। "............स्त्री और साथ में राजघराने की स्त्री, फिर ऊपर से वधू होने के कारण उसकी साधना कबीर से भी कठिन है, अतः उसका विद्रोह कबीर से भी महंगा और कीमती है। एक साथ वे राजसत्ता, पितृसत्ता सिसोदिया कुल की मर्यादा और सामन्ती समाज की रुढ़ियों से लड़ रही थी।"[3]

मीराबाई राजघराने की पर्दा प्रथा को त्यागकर, खुलकर समाज के सामने आयीं। वैवाहिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में पति की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने सती प्रथा को न अपनाकर स्त्री–मुक्ति के संर्घष में नवीन विचारधारा को स्थापित किया कि स्त्री केवल वैधव्य जीवन जीने के लिए नहीं, न ही अग्नि में जलने या जलाने के लिए है अपितु स्वतंत्र रुप से अपना जीवन जीने के लिए वह (स्त्री) पैदा हुई है। मीराबाई के संघर्ष के विषय में सुधाकर अदीब जी लिखते हैं– "मीराँ को साधु–सन्तों, भक्तों और जनसाधारण में नारायाण वास दिखता था। वह एक ऐसी स्त्री थीं जो कि एक राजकुल में जन्मीं और दूसरे राजकुल में ब्याही गईं। उन्होंने सामंती व्यवस्था का वैभव व तिरस्कार दोनों भोगा, सहा और उसे तृण सम त्याग दिया। कृष्ण तो स्वयं मीराँ के भीतर समाए हुए थे। वे क्या उनमें समाती

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, गुरू घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़।

? हाँ कृष्ण का कीर्त्तन करती वह जन–जन में जीवन पर्यंत बिचरीं। मीरा चुनौती दे रही थीं उस सामन्ती युग में स्त्रियों के सम्मुख खड़ी कुप्रथाओं, कुपरम्पराओं को। वह अपूर्व धैर्य के साथ सामना कर रही थीं लौह कपाटों के पीछे स्त्री को ढकेलने और उसे पत्थर की दीवारों की बन्दिनी बनाकर रखने, पति के अवसान के बाद जीते जी जलाकर सती कर देने, न मानने पर स्त्री का मानसिक और दैहिक शोषण करने की पाशविक प्रवृत्तियों का। मीरा सत्याग्रह अपने युग का अनूठा एकाकी आन्दोलन था। इसकी वह अवधारक थीं, वही जनक थीं और वही संचालक। मीरा ने स्त्रियों के संघर्ष के लिए जो सिद्धान्त निर्मित किए उन पर सबसे पहले वे ही चलीं।"[4] अतः मध्यकाल में मीरा ने स्त्री–मुक्ति हेतु अकेले ही लड़ाई लड़ी और वह इस लड़ाई में सफल भी हुईं। कबीर के विद्रोह की भाँति मीरा का विद्रोह भी सामाजिक चिंतन से जुड़ा है। डॉ. सुमनराजे के अनुसार– "मध्ययुगीन साहित्य में मीरा का जीवन और साहित्य नारी–विद्रोह का रचनात्मक आगाज है। उन्होंने इस कथन को सिद्ध कर दिया कि विद्रोही बनाये नहीं जाते, वे पैदा होते हैं।........हिन्दी प्रदेश के एक हजार वर्षों के इतिहास में जिस तरह कबीर अकेले हैं, उसी तरह मीराबाई भी दूसरी नहीं हैं।"[5]

मीरा का सम्पूर्ण काव्य निरपेक्ष सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखा जाता है। वह स्वानुभूति की वेदना को पदों के माध्यम से व्यक्त करती हैं। उसकी भाषा भले ही सशक्त न हो पर उनकी अभिव्यक्ति उतनी ही सशक्त है–

"हेरी म्हाँ दरदे दिवाणी म्हारां दरद न जाण्याँ कोय।
घायल री गत घाइल जाण्याँ, हिवड़ो अगण संजोय।
जौहर की गत जौहरी जाणै, स्या जाण्यां जिण खोय।
दरद ही मार्यां दर दर डोल्यां बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरां री प्रभु पीर मिटांगां जब बैद सांवरो होय।"[6]

दर्द दीवानी मीरा की अनुभूतियाँ नारी–चेतना के विविध आयामों से जुड़ी हुई। अपने दुःख को लेकर वह जिस समाज में दर–दर भटक रही है लेकिन कोई ऐसा भी नहीं मिला जो दुःख में उस अबला की सहायता कर सके। अन्त में ईश की भक्ति का रास्ता दिखता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार नारी मन की यह तन्मयता यथार्थ का द्योतक है– "नारी होने के कारण मीरां की तन्मयता और विरह–भावना कुछ अपने–आप से प्रामाणिक लगती है।"[7] मीरा का सम्पूर्ण जीवन संघर्ष में बीता इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है भले ही उनका जन्म राजपूत परिवार में हुआ हो। समाज की यह कटु सच्चाई भी है कि स्त्री चाहे जिस भी वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) में उत्पन्न हो आखिरकार वह स्त्री ही है लेकिन मीराबाई राणा को चुनौती देकर एवं घूँघट को त्याग कर स्त्री–मुक्त के संघर्ष में क्रान्ति का आवाहन करती हैं–

"राणा जी ! अब न रहूँगी तोरी हटकी।
साध संग मोंहि प्यारा लागै, लाज गई घूँघट की।
पीहर मेड़ता छोड़ा आपण, सुरत निरत दोऊ चटकी।
सतगुर मुकुर दिखाया घट का, नाचूँगी दे दे चुटकी।"[8]

अतः यह मीरा का सामाजिक विद्रोह ही नहीं अपितु स्वयं की मुक्ति की करुण पुकार हैं, जिसमें वह निडर होकर तत्कालीन सामाजिक नियम–कानूनों को एवं सामन्ती मूल्यों के पोषण पितृसत्तात्मक समाज की परम्पराओं का खुला विरोध करती हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक ने मीरा की इसी चेतना के आधार पर लिखा है– "वस्तुतः मीरा में एक नई रूपांतरित नारी जीवंत हुई है। वे लोक निन्दा और पारिवारिक कटुता की चिन्ता न कर प्रकारांतर में पुरुष–वर्चस्व को चुनौती देने वाली पहली क्रान्तिकारी महिला हैं। नारी–सृजन और आचरण की प्रतीक मीरा सांस्कृतिक संघर्ष के द्वारा स्त्री–विमर्श की नींव बनाती हैं।"[9] इस तरह मीरा द्वारा बनायी गई नींव पर स्त्री–मुक्ति के संघर्ष का इतिहास खड़ा दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार मीराबाई का सम्पूर्ण व्यक्तित्व क्रान्तिकारी चेतना से युक्त था। मीरा ने विपरीत परिस्थितियों में नारी–स्वातन्त्र्य की स्थापना कर, नवीन विचारधारा को जन्म दिया। निष्कर्ष रूप में

बलदेव वंशी की इस उक्ति को रखना अधिक समीचीन लगता है– ”मीरां उफनती आवेगी बरसाती नदी की भाँति वर्जनाओं की चट्टानें तोड़ती, राह बनाती अपने गंतव्य की ओर बेरोक बढ़ती चली गयी। वर्जनाओं के टूटने की झंकार से मीरां की कविता उत्पन्न हुई। वह हर स्तर पर लगातार वर्जनाओं को तोड़ती चली गयी। राजपरिवार की, रनिवासे की, सामन्ती मूल्यों की, पुरुष–प्रधान समाज द्वारा थोपे नियमों की कितनी ही वर्जनाओं की श्रृंखलाएँ मीरां ने तोड़ फेंकीं और मुक्त हो गयी। इतना ही नहीं, तत्कालीन धर्म–सम्प्रदाय की वर्जनाओं को भी अस्वीकार कर दिया। तभी मीरां, मीरां बनी।“[10]

lUnHk%

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण:2001, पृ. सं.–101
2. प्रो. देशराज सिंह भाटी, मीराँबाई और उनकी पदावली, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, नवीन संस्करण:2009, पृ.सं. –232
3. प्रो. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
4. http://liveindiahindi.com/meera-rang-rachi
5. डॉ. सुमनराजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण:2011, पृ.सं.– 148–150
6. प्रो. देशराज सिंह भाटी, मीराँबाई और उनकी पदावली, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, नवीन संस्करण:2009, पृ.सं.–267
7. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तेइसवॉ संस्करण:2010, पृ.सं.–52
8. प्रो. देशराज सिंह भाटी, मीराँबाई और उनकी पदावली, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, नवीन संस्करण : 2009, पृ.सं.–163
9. http://www.vicharvithi.com/2013/06/blog_post_2911.html
10. बलदेव वंशी, भारतीय नारी सन्त परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण:2011, पृ.सं.–75

****

mlds fgLls dh /kwi % vfLrRo dh rYkk'k

lq/kk ikYk*

सन् 1975 में रचित मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप' स्त्री–पुरुष सम्बन्धों पर आधारित एक प्रौढ़, सर्वाधिक चर्चित, प्रशंसित प्रथम उपन्यास है। मृदुला जी का पहला उपन्यास 'अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष की घोषणा' के बाद सन् 1975 में छपा था। उपन्यास में एक स्त्री द्वारा पति और प्रेमी से सम्बन्धों के बीच अपने निजी व्यक्तित्व की तलाश का चित्रण होने के कारण समीक्षकों ने इसे 'महिला वर्ष का प्रथम उपन्यास' कहा है। उपन्यास पर तरह–तरह की प्रतिक्रियाएँ आईं, जिनमें सबसे दिलचस्प उनकी शरतचंद–नायिकानुमा माँ की थी, उनका कहना था– ''इसे कॉलेज में लगा देना चाहिए, जिससे हर प्रबुद्ध कमसिन उसे पढ़े और मर्दों के पीछे भागकर अपनी प्रतिभा का नाश न करें।''[1]

'उसके हिस्से की धूप' में एक आधुनिक स्त्री के प्रेम का त्रिकोणात्मक संघर्ष बिल्कुल नये रूप में, परम्परागत मूल्यों और भावुकता की मानसिकता को नकारते हुए प्रस्तुत किया गया है। परम्परागत विवाह की एकरसता, पति की उदासीनता तथा सर्जनशील मन की निष्क्रिय बेचैनी से ऊबकर, भावुकता के प्रवाह में प्रेम और विवाह के नये सम्बन्ध स्थापित करना और उससे भी ऊबकर 'प्रथम पति' की ओर आकृष्ट होना 'आधुनिक नारी' की ही समस्या हो सकती है। इसी स्थिति का अंकन केन्द्रीय पात्र मनीषा के मनोभावों, अर्न्तद्वन्द्वों, सोचों, प्रतिक्रियाओं और अवचेतन में सुप्त कामनाओं द्वारा किया गया है।

ÁLrqr gS bl miU;kl ds dFkU egRoiw.kZ fcUnqvksa dk fo'ys"k.k&

Áse vkSj fookg dk }U} %

प्रस्तुत उपन्यास में पुराने नैतिक मूल्यों का विरोध तथा प्रेम–सम्बन्धी नई नैतिकता है। लेखिका ने प्रेम जैसे सूक्ष्म अनुभव तथा उसकी भीतरी परतों को उघाड़ते हुए एक विवाहिता स्त्री के प्रेम का त्रिकोणात्मक संघर्ष प्रस्तुत किया है। उपन्यास के फ्लैप की टिप्पणी में कहा गया है कि ''यह प्रेम कहानी तो है पर प्रेम इसकी समस्या नहीं है– यह मानव मात्र के लिए एक स्वतन्त्रता की माँग करता है जो स्त्री–पुरुष दोनों को समान रुप से चाहिए........यह उपन्यास आधुनिकता के नए मापदण्ड स्थापित करता है.........आधुनिकता के घिसे–पिटे सीखचों से बाहर निकलकर देखने को मजबूर करता है।''[2]

मनीषा भावुक दृष्टि से प्रेम के बारे में सोचती है। मनीषा को इस बात का दु:ख है कि उसकी जितेन के साथ अरेन्जड मैरिज हुई है अगर वह उसके साथ प्रेम करके विवाह करती तो अच्छा होता। अपनी मित्र सुधा सिद्प्पा से कहती है– ''प्रेम साधारण से साधारण मनुष्य को भी महान बना देता है। एक–दूसरे को पाने की सच्ची ललक हमसे कठोर से कठोर साधना करा देती है, बड़े से बड़ा आत्मत्याग।''[3] ठीक इसके विपरीत सुधा प्रेम के बारे में तटस्थ और व्यवहारिक दृष्टिकोण रखती है– ''प्रेम क्षणिक वस्तु है जब चुक जाता है तो विवाहित जीवन ऐसा ही होता है।''[4] प्रेम सम्बन्धी इन्हीं दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों और विचारधाराओं को उपन्यास में अभिव्यक्त किया गया है।

प्रेम के विषय में भावुक और रोमांटिक दृष्टि रखने वाली मनीषा प्रेम पाने के लिए जितेन से मधुकर की ओर आकर्षित होती है। पति जितेन के चुंबन और प्रेमी मधुकर के चुंबन में भी उसे भिन्नता

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रतीत होती है। प्रेम के प्रवाह में बहने वाली मनीषा मधुकर के साथ विवाह के पश्चात् जब चार साल बाद जितेन से नैनीताल में मिलती है तो जितेन के साथ आलिंगनबद्व होकर जान जाती है कि प्यार करना कला नहीं जरुरत है।

अन्त में मनीषा आत्मावलोकन द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि प्रेम साध्य नहीं होता, वह होता है साधन। प्रेम को जीवन का चरम लक्ष्य मानने के कारण ही उसके जीवन में भटकाव आया है। वह स्वयं स्वीकार करती है कि ''उसके अपने जीवन का खालीपन इसलिए बराबर बना रहा है, क्योंकि वह उसे किसी न किसी पुरूष के प्रेम से भरने का प्रयत्न करती रही है। इतना घनत्व प्रेम में नहीं होता कि वह अंतरिक्ष जैसे फैले जीवन के शून्य को सदैव के लिए भर सके।''[5] इस प्रकार प्रेम के सतही धरातल पर खड़ी मनीषा द्वन्द्वग्रस्तता की स्थिति से गुजरते हुए अन्त में जीवन की सार्थकता की तलाश में लग जाती है। ''अपने जीवन की सार्थकता अपने भीतर खोजनी होगी, जिस प्रकार रोजमर्रा के गार्हस्थिक कार्यों में समय कतरा–कतरा बिखर जाता है किन्तु उससे उपलब्धि की तृप्ति नही होती, उसी प्रकार पुरूष–सापेक्ष पहचान उसकी निजी अतंरंग पहचान नही हो सकती।''[6]

nkEiR; lEcU/k %

'उसके हिस्से की धूप' स्त्री–पुरूष के दाम्पत्य सम्बन्धों पर आधारित उपन्यास अवश्य है परन्तु सुखद और स्वस्थ्य दाम्पत्य सम्बन्ध का अभाव मनीषा व जितेन के सम्बन्धों में दिखता है। जितेन की अति व्यस्तता, उदासीनता, यंत्रवत् जिन्दगी से ऊबकर वह आत्मसार्थकता की तलाश के लिए नौकरी करती है। इनमें पति–पत्नी के मधुर, सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का अभाव रहता है। कुछ क्षणों के लिए भी आम पति–पत्नी की तरह दोनों ने कभी अनाप–शनाप विषयों पर बातें नहीं की। जितेन धीर, गंभीर, उदार, समझदार जरूर है परन्तु रोमांटिक प्रवृत्ति उसमें नहीं है। अतः पति के व्यस्त और कर्मरत जीवन के साथ वह खुद को नहीं ढाल पाती इसलिए उसे खालीपन महसूस होता है। लेखिका यह बताना चाहती हैं कि वर्तमान जीवन की यांषिकता और आपाधापी ने मनुष्य को जड़ और नीरस बना दिया है और यह नीरसता दाम्पत्य जीवन को भी खोखला कर रही है।

शिक्षित तथा विवेक सम्पन्न मनीषा नारी स्वतन्त्रता की पक्षधर है। उसका मानना है कि हर जगह स्त्री–पुरूष दोनों में समानता का अभाव आवश्यक है। स्त्री अकेले ही क्यों पुरुष के प्रति समर्पित हो? वह अकेली ही क्यों पति का इंतजार करें ? मनीषा वैवाहिक जीवन के बारे में सोचती है– ''यह वैवाहिक जीवन भी बड़ी अजीब चीज है वह सोच रही थी जो करो एक साथ। साथ बैठो, साथ बोलो, चाहे बोलने को कुछ हो या नही, साथ घूमो, साथ दोस्त बनाओ, चाहे एक का दोस्त दूसरे को कितना भी नामुराद क्यों न लगे, साथ खाओ, साथ सोओ चाहे एक के खर्राटे दूसरे को सारी रात जगाए क्यों न रखे? वह थका है दिमाग से और कसरत करना चाहता है, वह थकी है जज्बात से और अकेली रहना चाहती है, पर चूँकि वे विवाहित हैं, इसलिए जरुरी है कि जो भी करें एक साथ करें चाहें उसमें एक को कितनी ही कोत क्यों न हो?''[7] वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट मनीषा, मधुकर की ओर आकर्षित होती है और दाम्पत्येत्तर सम्बन्ध स्थापित करती है।

nkEiR;Ùkj lEcU/k %

उपन्यास में दाम्पत्येत्तर सम्बन्ध मनीषा और मधुकर में देखे जा सकते हैं। वैवाहिक कुसामंजस्य से मुक्ति पाने हेतु मनीषा जितेन से तलाक लेकर मधुकर से विवाहेत्तर प्रेम सम्बन्ध बनाती है। ''तन की हाजिरी और मन की गैरहाजिरी अर्थात् प्रेमविहिन शारीरिक सम्बन्ध ही दाम्पत्येत्तर सम्बन्धों का मूल कारण है। चाहे वह मनु हो या मनीषा विवाह को वासनापूर्ति से अधिक मानसिक सन्तुष्टि का साधन मानती है।''[8] इसी कारण भीतर से अतृप्त और उदिग्न मनीषा अपने मन को शान्त करने के लिए प्रेमी का रास्ता ढूँढ लेती है। मनीषा, मधुकर की नजदीकियाँ बढ़ने लगती है और वह अपने पति से तलाक लेना चाहती है। उसका सोचना कुछ इस प्रकार है ''जिस आदमी को उससे दो बात करने की फुर्सत नहीं है उससे कैसा लगाव? जो रिश्ता रात के अँधेरे में जन्म लेता है और चन्द घण्टे कायम रहकर दिन के उजाले में खत्म हो जाता है उसे तोड़ने में कैसा संकोच?''[9] जितेन उसे समझाने का प्रयत्न

करता है और कहता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह पुनः उसके पास लौट सकती है। इतना सज्जन और उदार मन का पति आज के इस युग में देखने को नहीं मिलेगा। उसकी यही सज्जनता उसके वैवाहिक जीवन में दरार डालती है। वह मधुकर के समान अपने प्रेम का अभिनय नहीं कर पाता। मधुकर में प्रचण्ड स्वत्वीय भावना है वह जितेन की तरह निर्लिप्त नहीं है। मनीषा, मधुकर के उत्साह, सरगर्मी, जोश और गरममिजाज से प्यार करती है। एक अपरिपक्व स्वेच्छाचारी नारी के रूप में वह मधुकर की ओर आकर्षित तो होती है पर मधुकर के साथ चार वर्ष बिताते हुए उसे बार–2 जितेन का भी स्मरण होने लगता है। अतः जितेन और मधुकर के बीच वह द्वन्द्वग्रस्त होकर झूलने लगती है।

दो पुरूषों के बीच की भटकन (द्वन्द्वग्रस्तता)

मनीषा मधुकर के साथ दूसरा विवाह करती है परन्तु मधुकर के साथ वैवाहिक सम्बन्धों में भी मधुर दाम्पत्य सम्बन्धों का अभाव दिखाई पड़ता है। मनीषा को एहसास होता है कि आज के और चार वर्ष पहले के मधुकर के साथ के जीवन में कहीं कोई साम्य नहीं है। ''पहले जो सत्य था अब नाटक बनकर रह गया है, प्रेम करते–करते ऊब चुके है वह और मधुकर, प्रेम का नाटक करने लगे हैं।''[10] दोनों की तुलना करती हुई वह सोचती है ''पर जहाँ जितेन चोट खाने पर कछुवे के समान भीतर जा घुसता है वही मधुकर गर्दन निकालकर आक्रमण पर उद्धत हो जाता है।''[11] चार साल बाद जितेन से मिलने व उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में भी संकोच नहीं करती। यह प्रसंग यह सिद्ध करता है कि एक भारतीय नारी के लिए अपने पूर्व पति तथा वैवाहिक जीवन की यादों को भुला देना आसान नहीं होता। मनीषा में पाश्चात्य यौन–स्वतन्त्रता की भावना जरूर है, पर भारतीय संस्कार ग्रस्तता से भी ग्रसित है यही उसकी दुविधा, भटकन और द्वन्द्वात्मक स्थिति का मूल कारण है। ''इस प्रकार मनीषा को न माया ही मिलती है न राम ही। उसकी दुविधा इन दोनों को खो देती है। प्रेम का ऐसा त्रिकोणात्मक संघर्ष, गृहस्थ जीवन की ऐसी बहकी उलझी आकृतियाँ हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में दशाई गयी हो ऐसा स्मरण नहीं आता।''[12]

vkRel kFkZdrk dh rYkk'k %

दाम्पत्य और दाम्पत्येतर सम्बन्ध मनीषा को मानसिक संतोष देने के बजाय दार्शनिक बना देते हैं। प्रेम को जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाली मनीषा अन्त में यह जान जाती है कि प्रेम जीवन का लक्ष्य नही कर्म है, साध्य नहीं साधन है। वह अर्न्तमुखी हो स्व विश्लेषण करते हुए यह समझ जाती है कि अपने जीवन की सार्थकता उसे अपने भीतर हो खोजनी होगी। मनीषा अपना सच्चा परिचय अपने मानस तल की गहराईयों में ढूँढने लगती है। ''लिखूँगी, यही सब जो मेरे भीतर इतने दिनों तक खदबदाता रहा है, लिखूँगी अपने में निहित इस व्यक्तित्व की कहानी, जो बिना लिखे अब और अपने भीतर मुझसे रखी नहीं जा सकेगी ।''[13] मधुकर मनीषा की लेखन कला को महत्व नहीं देता। मनीषा कलम हाथ में लेकर कहती है–''तुम मुझे लेखिका मानो–न–मानो मधुकर कुछ फर्क नहीं पड़ता, मैं लिखूँगी, उसमें और कोई नतीजा न भी निकले, कम से कम मुझे तसल्ली होगी कि जो कुछ मैं कर सकती थी मैने किया।''[14]

fu"d"kZ %

कुल मिलाकर यह उपन्यास प्रेम और स्वतंन्त्रता के बीच सम्बन्धों (स्त्री–पुरूष) की खींचतान को आधार बनाकर चला है, जिसमें प्रेम की चाह रखने वाली मनीषा दो पुरूषों से प्रेम प्राप्त कर के भी स्वयं को अधूरा महसूस करती है। प्रेम की चाह ने उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को कहीं न कहीं विकसित नहीं होने दिया। स्वतन्त्रता पुरूष और स्त्री दोनों की जरूरत है लेकिन स्त्री जीवन की त्रासदी ही यही रही है कि उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को सदैव ही नकारा गया है। लेखिका इसी बिन्दु को आधार बनाकर वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को प्रेम से ऊँचा स्थान देती हुई कहती है कि प्रेम यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता और विकास में बाधक है तो वह अस्वस्थ प्रेम है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में पुरूष और स्त्री दोनों का विचार है लेकिन उपन्यास में मनीषा के द्वारा लेखिका ने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की बात को उठाया है।

I UnHk %

1. चुकते नहीं सवाल – मृदुला गर्ग, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 151
2. उसके हिस्से की धूप– मृदुला गर्ग, राजकल प्रकाशन, नई दिल्ली, लैप से
3. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 88
4. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 87
5. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 137
6. स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प – रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 175
7. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 18
8. मृदुला गर्ग का कथा साहित्य – डॉ0 तारा अग्रवाल, विद्या प्रकाशन, कानपुर, पृ0सं0 158
9. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 123
10. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 137
11. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 25
12. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ –डॉ0 शील प्रभा वर्मा, पृ0 169
13. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 143
14. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 147

****

L=h thou dk cgkus dVq ;FkkFkZ % unh

lqeu yrk dqekjh*

उषा प्रियम्बदा हिन्दी की विशिष्ट कथाकार हैं। 'नदी' उपन्यास में नायिका ''आकाशगंगा'' के बहाने स्त्री–जीवन के कटु यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में एक सूत्र वाक्य है– ''बस बहने दो जीवन सरिता को, कहीं न कहीं–जल्दी या देरी से–कोई न कोई हल तो निकलेगा।''[1]

इस उपन्यास में लैशबैक, नायिका का भारत से अमेरिका की यात्रा, स्त्री जीवन का संघर्ष, अंधविश्वास, स्त्री–पुरुष के विविध सम्बन्ध, स्त्री की भावना, नई दृष्टिकोण, बच्चे की चाह आदि विषय पर चित्रण किया गया है। नदी ऊँचे–नीचे, ऊबड़–खाबड़, टेढ़े–मेढ़े रास्ते से गुजर कर ही अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। लेखिका ने भी जीवन में आने वाले संघर्ष, सुख–दुःख आदि चित्रण किया है। इस उपन्यास में नायिका 'आकाशगंगा' के जीवन संघर्ष का चित्रण है। आकाशगंगा का अर्थ विस्तृत, सीमारहित जिसको बांधा नहीं जा सकता है, लेकिन आकाशगंगा के नाम को छोटा कर 'गंगा' कर दिया जाता है। गंगा सीमित होती है जो हिमालय से निकलकर बंगाल की खाड़ी में जाकर अपने अस्तित्व समाप्त कर देती है। तभी तो उसका पुत्र स्टीवेन कहता है– ''आकाशगंगा तो विस्तृत है– अपरिमित, असीम, गंगा तो अपनी परिधि, अपनी में बँधी हुई है–हिमालय से बंगाल की खाड़ी तक।''[2]

नायिका आकाशगंगा भारत में पली बढ़ी और शादी के बाद विदेश में रहने अपने पति के साथ गई। वहाँ वह एक साधारण दाम्पत्य जीवन जी रही थी। दो लड़की, पति और बेटा भविष्य के साथ खुशहाल परिवार था। लेकिन अचानक भविष्य को ल्यूकीमिया हो जाती है। आकाशगंगा के दोनों भाई भी ल्यूकीमिया के कारण मृत्यु हुई थी। भविष्य की भी मृत्यु ल्यूकीमिया से हो जाती है। बेटे के मृत्यु पर गगनेन्द्र ने सारा दोष गंगा के सर मढ़ कर पत्नी की अनुपस्थिति में सारा समान, कागज, सब कुछ बटोरकर विदेश से स्वदेश (भारत) लौट जाता है। वह अपनी पत्नी को बेसहारा अकेले परदेश में छोड़ जाता है– ''डॉ0 सिन्हा का मुझे भविष्य की बीमारी का पूरा दोष देना सही था ? क्या बिना बताए सारे कागज पत्र लेकर, सब कुछ बाँध–बूंध कर, मेरी बेटियों को मुझसे दूर कर वापस लौट जाना सही था? कितनी बार मन हुआ कि ससुराल फोन करके बेटियों के बारे में पूछे।''[3]

इस उपन्यास में अधिकांश पात्र शिक्षित हैं। गगनेन्द्र भी शिक्षित डाक्टर की उपाधि प्राप्त है। वह शिक्षित होकर भी भविष्य के मृत्यु का कारण पत्नी के रक्त दूषित होना बताया। यहाँ एक सवाल खड़ा होता है कि ज्यादा पढ़े–लिखे व्यक्ति की या तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है या दोष दूसरे पर मढ़कर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त होना चाहता है। गगनेन्द्र और गंगा का सम्बन्ध क्या एक बेटे की मृत्यु से खत्म हो जाना चाहिए ? क्या गंगा अपने बेटे से उतना प्यार नहीं करती थी जितना गगनेन्द्र करता है, जन्म देने वाली माँ अपने बेटे के मृत्यु को देखती है तो क्या उसे कष्ट नहीं होता ? वह तो नौ महीने तक अपनी कोख में रख कर कितना सपना संजोती है। क्या उसका पति यह सब नहीं अनुभव करता है ? एक बच्चे के मौत के बाद दूसरा बच्चा भी लिया जा सकता था लेकिन इसके लिए अपनी पत्नी को छोड़ देना कहाँ तक तर्कसंगत होता है और दो लड़की संतान रूप में है ही तो फिर लड़के की चाह

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

क्यों, यह संकीर्ण सोच ही है। तभी तो अर्जुन कहता है– ''तुमको तो तुम्हारे पति बेसहारा और अकेला छोड़कर चले गए। एक बार भी नहीं सोचा कि अकेली औरत परदेश में पत्नी कैसी है।''[4] बेटे के मृत्यु के बाद पत्नी और पति दोनों को एक दूसरे का सहारा देने का वक्त होता था, लेकिन गगनेन्द्र ने अपनी पत्नी को मानसिक सहारा देने के बदले उसे छोड़कर बच्चियों के साथ स्वदेश चला जाता है। ऐसे में गंगा को अर्जुन और डॉ0 एरिक का सहारा मिलने पर वह उसे इंकार नहीं कर पाती है। डॉ0 एरिक गंगा को नाम के अनुसार इधर–उधर भटकने से बचाने के लिए उसे दिल्ली जाने का टिकट लाता है और साथ ही एयरपोर्ट जाता है। एरिक के वाक्य को देख सकते हैं– ''तुम तो परम्परागत संस्कृति से आई हो, कब तक अपने नाम की तरह इधर से उधर भटकती रहोगी।''[5]

गगनेन्द्र बहुत संकीर्ण मिजाज का था, इसलिए वह अपनी पत्नी को किसी से भी बात करना, मित्रता करने नहीं देता था। दुनिया कितनी भी आधुनिक हो जाए, जब तक सोच आधुनिक नहीं होगी तब तक कुछ भी बदल नहीं सकता। केवल चोला बदल लेने से मनुष्य आधुनिक नहीं होता है। जबकि स्त्रियों की सोच समय के हिसाब से बदल रहा है। प्रवीण गंगा को पत्नी तो मान लेता है लेकिन विश्वास नहीं होता जबकि रिश्ते विश्वास पर बनता है। ''वह मरने के बाद भी तुझे कन्ट्रोल में रखना चाहते थे, कुछ देने का मतलब था कि तुझे स्वतंत्रता बेच–बाचकर देश चली न जाए–इसलिए दिल के बहुत छोटे निकले तेरे प्रवीण जी।''[6]

प्रवीण नायिका गंगा से शादी के वक्त शर्त रखता है कि ''प्रवीण जी की बस एक शर्त थी, कि पुरानी जिन्दगी से एकदम नाते खत्म, देश, परिवार, बच्चे, आगामी शिशु सभी से एकदम सम्बन्ध खत्म।''[7] बार–बार स्त्री को समझौता करना पड़ता है गंगा भी तो यही शर्त प्रवीण पर लागू कर सकती थी लेकिन स्त्री होने और आर्थिक रूप से मजबूत न होने की वजह से इंकार नहीं करती है।

1985 के बाद के उपन्यासों में विवाह संस्था और पारम्परिक दाम्पत्य के प्रति विद्रोह–भाव निरन्तर उग्रतर होता चला गया। उपन्यासों में विशेषतः महिला लेखन के उपन्यास, विवाह संस्था का तीव्रतर विरोध कर उसमें स्त्री की शोषित स्थिति के प्रति निरंतर विद्रोह दर्शाते हैं। 'नदी' उपन्यास में प्रवीण बहन, आकाशगंगा या एरिक की पत्नी इन लोगों ने पारम्परिक विवाह को धत्ता बताते हुए अपने जीवन में पर–पुरुष के साथ सम्बन्ध बनाया और स्वतंत्रतापूर्वक जीना चाहा। प्रवीण कौर की शादी और एक बच्चे होने के बाद भी फकीरचंद नामक युवक से प्रेम भी किया और सहवास भी। जिसे उक्त वाक्य में देखते हैं– ''टकराई और उसी की हो गई। एकदम पागल, एकदम मतवाली, न अपना सुध, न बच्चे की, न माँ–बाप के नाम की। जैसा पूरा तन एक आग में धधकता रहता था, एक ऐसी प्यास तन–मन में बस गई थी कि बूझने का नाम ही नहीं लेती थी।''[8]

आकाशगंगा भी विवाहिता दो बच्चों की माँ, भरा–पूरा परिवार रहते हुए भी वह अर्जुन सिंह के साथ और डॉ0 एरिक एरिकसन के साथ सम्बन्ध बनाती है। गंगा एक भारतीय नारी है। वह गैर पुरुष से सम्बन्ध बनाने की सोच नहीं सकती लेकिन पति के द्वारा अपमानित, अपने को रोक नहीं पाती। आधुनिक स्त्रियाँ पारम्परिक दाम्पत्य के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर हो गया था। शायद इसलिए गंगा ने ऐसा किया– तभी वह कहती है– ''अर्जुन जी, जाना चाहूँगी तो मुझे कोई रोकने वाला नहीं है, कहा न आपसे, मैं अपनी मर्जी से यहाँ हूँ।''[9] डॉ0 एरिक के साथ सहवास कर स्तव्य नाम का एक बेटा को भी जन्म देती है, प्रवीण के साथ विवाह भी करती है। ''पहले पति इंजीनियर, दूसरे पति फल और फूल अंगूर उगाने वाले।''[10]

नायिका गंगा के विवाह के समय ताई जी ने कहा था कि ''जिन्दगी में धीरज रखना, धीरज और क्षमा स्त्री के यही दो गहने होते हैं।''[11] क्या स्त्री को ही क्षमा और धीरज रखने का जिम्मेदारी होती है ? पुरुषों पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। यदि यह नियम पुरुष और स्त्री पर समान रूप से लागू होता तो गगनेन्द्र और गंगा का रिश्ता यूँ न टूटता। बचपन से ही यह घुट्टी पिला दिया जाता है कि स्त्री को समाज के सभी नियम पालन करना है। इसके अतिरिक्त उसके पास कोई विकल्प नहीं। एक पुरुष चार–पाँच बच्चों का पिता भी हो तो भी उसे दूसरा विवाह करने की छूट है। पर स्त्रियों के साथ

ऐसा नहीं है। गंगा के माँ के समय भी नहीं था और आज भी, सारे कानून और अधिकारों के बावजूद कितनी स्त्रियाँ ऐसी है जो दूसरे विवाह को एकदम नकार देती है। यह सभी स्त्रियों पर थोपा हुआ है। पर पुरुष की कल्पना स्त्री के लिए पाप होता है। क्या यह हमारे समाज में पुरुष सत्ता की देन नहीं है ? पर जहाँ हमें सीता की भूमिका निभाने के लिए बाध्य किया जाता है, वहाँ हम कुन्ती क्यों नहीं हो सकते ? द्रोपदी का पाँच पाण्डवों को पतिरूप में वरण करना उसका निर्णय यदि बल्कि थोपा गया है। लेखिका ने इस उपन्यास में ऐसे सवाल उठायी है जिससे उनकी स्त्री विमर्श के दृष्टिकोण का पता चलता है।

गगनेन्द्र की माँ की सोच कितना ऊँचा है। पुत्र के विक्षोभ से कोई अपनी पत्नी छोड़ता है। नागेन्द्र पुत्र की मृत्यु का कारण पत्नी को मानता है लेकिन गंगा की सास ऐसा नहीं मानती तभी तो वह कहती है– ''भविष्य की बीमारी उसे, तुमसे विरासत में मिली हो– पर तुम्हारा क्या दोष है ? कोई जानबूझ कर तो ऐसा करता नहीं। समझदारी यही है कि दोनों साथ रहें– बच्चियों को सम्भाले।''[12]

नायिका गंगा को उसके सभी मित्र समझाते हैं कि समझौता पर लो, वापस पति के पास चले जाओ। डॉ0 एरिक कहता है ''तुम अपने पति से समझौता कर लो।''[13] गंगा इतनी टूट चुकी है कि वह वापस पति के साथ जुड़ना नहीं चाहती है वह कहती है– ''कुछ भी हो, मैं उनसे समझौता नहीं करूँगी। उन्होंने मुझे बहुत रौंदा, बहुत कुचला और अन्त में फटे चिथड़े की तरह कूड़े–कचरे की तरह घर से निकालकर फेंक दिया। मैं सम्मान से जीना चाहती हूँ, भले ही मुझे झाडू लगाने का काम करना पड़े।''[14] प्रवीण कौर अकेले पूरी जिन्दगी को न काटते हुए अपने पति से सुलह करने के लिए समझाती है उनके वाक्य इस प्रकार से है– ''मेरा तो कहना है कि तुम अपने आगे वाली जिन्दगी के लिए अपनी छोटी–छोटी बेटियों के लिए जहर का कड़वा घूँट निगल कर पति से सुलह कर लो।''[15]

तभी गंगा बहुत ही संवेदी होकर कहती है– ''सच कहती हूँ बहन जी, मैंने उन्हें पूरा–पूरा स्वीकार कर लिया था। अपनी हँसी, अपनी कला, सभी का गला घोंट दिया। तब भी वह खुश न रहे। अब अगर उस दुनिया में लौटकर गई तो मैं घुट–घुट कर मर जाऊँगी। मैं जीना चाहती हूँ पूरी तरह अपनी तरह। जिन्दगी को लेकर मुझे बहुत कम ख्वाहिशें हैं, केवल चैन से, आत्मसम्मान से जीना चाहती हूँ।''[16]

पति के छोड़ देने के बाद गंगा अपने को संभाल नहीं पाई इसलिए अर्जुन सिंह और डॉ0 एरिक के साथ प्रगाढ़ सम्पर्क किया और गर्भ भी धारण किया। इसलिए प्रवीण व्यंग्य करती हुई कहती है–

''अरे तुझसे तो थोड़े दिन भी मर्द के गुजारा नहीं चला। नतीजा सामने तो है।''[17]

आधुनिक दुनिया में पढ़े–लिखे लोग दूसरे के हक को मारने में जरा भी संकोच नहीं करते हैं। वह हमेशा से दूसरे के हक पर आँखें गड़ाए रहते हैं। स्त्री को ससुराल वाले से नहीं बनती या छोड़ देते हैं तो वह वापस मायके नहीं आ सकती है। गंगा के घर में ठीक ऐसा ही हुआ है। गंगा के मायके में सभी भईया वकील हैं, अच्छा परिवार, कोई चीज का अभाव नहीं है तब भी गंगा की बुआ की स्थिति दयनीय है। बाल–विवाह होने पर पति का आकस्मिक मृत्यु होने से भी अपने ही ससुराल में उपेक्षिता रहती है और मायका का तो बात ही नहीं करना चाहिए। मायके वाले तो लड़की का विवाह करने के बाद मुक्ति पाते हैं। इसे निम्न वाक्य में दे सकते हैं– ''एक अनावश्यक विराम की तरह उनका कोई अपना घर, अपना ठिकाना नहीं था– ससुराल जाती थी तो वहाँ भी अनादर और तिरस्कार पाती थीं, लौटकर घर आती थीं तो यहाँ भी, बड़े से बँगले में एक कुठरिया में ही रहती थी जो कि बरामदे के एक कोने में दीवार उठाकर बनवा दी गई थी। उनकी अनुपस्थिति में वहाँ घर की साइकिल, खाट–खटोले जो बाहर के मेहमानों के लिए रखे जाते थे और उनके अचानक आ जाने पर लॉन में डाल दिए जाते थे।''[18] मतलब विधवा के बाद बेटियां घर के निर्जीव फालतू पड़े सामान में गिनी जाती थी। गंगा को भी जब पति छोड़ देता है तो मायके में जमीन होने पर भी ताऊजी चाचाजी ने सब कुछ हथिया लिया तथा गंगा का हक भी इस वाक्य को देखते हैं। ''जज साहब– बड़े दद्दा के मरने के बाद पता चला कि बाबा से मिली जमीन जायदाद तीन भाइयों और उनके परिवार में बराबर बाँटने को

बाध्य, सारी प्रॉपर्टी उन्होंने अपने नाम ही कर ली थी।...दो फ्लैट गंगा के हैं, यह सब तयेरे भाई, जज साहब का जबानी फुसलावा था....अगर लैट होते तो कभी शायद लौटने का सोचतीं पर अब वह सब सोच कर क्या मलाला करना।''[19]

स्त्रियां हर जगह कमजोर साबित हो रही है। स्त्रियों को जायदाद सम्पत्ति से कोई मतलब नहीं रहता, वह अधिकतर भावना में जीती, दिल से सोचती है, इसलिए स्त्री का हक पुरुष यूँ ही ले लेता है। प्रवीण के साथ विवाह होने बाद प्रवीण की जीवन–साथी के साथ–साथ सम्पत्ति पर भी हक रहता है लेकिन प्रवीण ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्र के नाम कर देता है और गंगा के लिए एक टुकड़ा खेत। गंगा का बेटा स्तव्य आता है तब अपनी माँ गंगा की स्थिति देखकर कहता है ''तुम नहीं समझती कि तुम्हारे साथ अन्याय हुआ। तुम्हारे परवीन जी बहुत स्वार्थी निकले–तुमने उनकी पत्नी की सेवा की, और उनका भी। उन्होंने तुम्हारी बाकी जिन्दगी सुख चैन से बीते, इसका ख्याल नहीं किया। बस एक छोटा–सा टुकड़ा खेत का और जब तक जियो सिर्फ तभी के लिए यह फार्महाउस। इसे भी बेचने या कुछ और करने का अधिकार नहीं।''[20] गंगा गगनेन्द्र से भी तलाक और अपने खर्च का पैसा मांग कर सकती थी लेकिन नहीं करती है।

गंगा अपने बेटा खो देने के बाद डर गई थी और ज्योतिष ने भी कहा था कि पुत्र योग नहीं है जिस कारण से वह अपने दूसरे बच्चे को खोना नहीं चाहती थी इसलिए वह अपना बच्चा कैथरीन बसबी को देती है और बाद में बच्चे का खबर तक नहीं लेती– ''बेबसी, अंधविश्वास, मेरे मन में यह अंधविश्वास बैठ गया था कि यदि मैं तुम्हें किसी और को सौंप दूँगी तो कुछ अच्छी तरह रहोगे–खूब बड़े होंगे मालूम ? पहले जमाने में लोग यही करते थे, बच्चे को किसी सम्बन्धी किसी दाई नौकरानी के हाथ बेच देते थे। तब वह बच्चा उनका नहीं रहता था। यह तो एक प्रचलित टोटका था।''[21] एक माँ बच्चे को जन्म देने के बाद उसे सुरक्षित रखने के लिए कैसे–कैसे उपाय, टोटका अपनाती है, उसे बचाने के लिए अपने ज़िगर के टुकड़े को दूसरे को सौंप देना पड़ता है। जैसे इस उपन्यास में गंगा ने बच्चा कैथरीन को दे देती है। 'नदी' की नायिका आकाशगंगा अपने नाम के अनुसार कहाँ से कहाँ विस्थापित होती है यह दिखाया गया है। भारत से विदेश फिर स्वदेश से परदेश में जाकर बस जाना। डॉ0 एरिक एक विदेशी होने पर भी गंगा का सटीक अर्थ खोज लेता है। नदी जीवन–प्रवाह का ऐसा दृश्य है जिसमें अदृश्य के अंधेरे देर तक चमकते रहते हैं। गंगा जो इधर–उधर घूमती–फिरती, यहाँ–वहाँ विचरती रहती है, यही अर्थ है न ?[22]

नायिका आकाशगंगा का नाम गंगा पुकारा जाता है। ''आकाशगंगा जो धरती पर उतर कर केवल गंगा रह गई है, इधर–उधर घूमती रहती है और फिर समुद्र में आत्मसात हो जाती है।''[23] बेटे स्टीवेन एक प्रतीकात्मक वाक्य कहता है। वह भारत घूमना चाहता है गंगा की यात्रा करना चाहता है और अपनी माँ जहाँ–जहाँ रही है वहाँ–वहाँ जाकर देखना चाहता है, महसूस करना चाहता है। ''और गंगोत्री से सुन्दरवन तक की यात्रा करूँगा–जहाँ–जहाँ गंगा बहती है सम्भव है ?''[24]

गंगा की जिन्दगी कहाँ से शुरू हुई और किस पड़ाव पर आकर ठहरी गई, जिसे वह बार बार सोचती है। हर कोई जीवन में अपना–अपना लक्ष्य ढूंढ लेता ही है। जैसे नदी अन्त में जाकर समुद्र में मिला है ''नदी अपना सुन्दरवन खोज ही लेगी, अपना लक्ष्य–अपना सागर।''[25] उसी तरह नायिका गंगा के जीवन में उतार–चढ़ाव के बाद अपना एक ठिकाना ढूंढ लेती है। वह प्रवीण के घर पर हमेशा के लिए रहने लगती है।

गंगा का बेटा स्टीवेन विदेशी मुल्क का है लेकिन उसे भारत को जानने के लिए उत्सुकता है। वह सितार सीखने और भारत घूमने के बहाने भारत जाना चाहता है वहाँ रहना चाहता है। उपन्यास में बहुत सहज कहानी है। नायिका गंगा बार–बार अपने अतीत के बारे में सोचती है। डॉ0 सिन्हा स्वदेश लौटकर अपनी सहपाठी सती खन्ना से विवाह करता है इससे गंगा को गगनेन्द्र से तलाक लेने के लिए कोई तकलीफ नहीं उठानी पड़ती और न कोई लांछन मिलता है। वह भी गगनेन्द्र से अलग होना चाहती थी लेकिन किसी को बोली नहीं, उसके पति ने ही उसके सारे समस्या का निदान कर

दिया था। उपन्यास के माध्यम से समकालीन समय का एक बहुत बड़ा सच निकलकर आता है। स्त्री को छोड़ देने पर पति अलावे भी विकल्प है, जबकि पहले ऐसा नहीं होता था पति के छोड़ देने पर मायके वाले की परेशानी बढ़ जाती थी लेकिन आधुनिक स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ही दूसरा पति खोज लेती है और विवाह भी करती है, एक खुशहाल जीवन जीती है। यह परम्परा भारत में अभी बहुत कम दिखायी देता है लेकिन पश्चिम में यह परम्परा एक आम बात है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। 'नदी' स्त्री पुरुष सम्बन्ध और उसके भविष्य का एक अच्छा उपन्यास है।

इस उपन्यास में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध के विविध रूप मिलता है। गगनेन्द्र और गंगा का सहज दाम्पत्य जीवन से तलाक तक की कथा, परिस्थिति की मारी और किसी के दुःख में अपने खुशी के लिए नायिका गंगा को अर्जुन सिंह का सहारा भावनात्मक रूप से जुड़ी गंगा और एरिक का सम्बन्ध, फिर गंगा और प्रवीण का सम्बन्ध। इस उपन्यास में कैसे–कैसे रूप में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध रूप का चित्रण किया गया, एक नई दृष्टिकोण मिलती दिखायी देती है।

lUnHkZ %

1. नदी, पृ0 34
2. नदी, पृ0 169
3. नदी, पृ0 34
4. नदी, पृ0 33
5. नदी, पृ0 44
6. नदी, पृ0 154
7. नदी, पृ0 144
8. नदी, पृ0 123
9. नदी, पृ0 30
10. नदी, पृ0 143
11. नदी, पृ0 59
12. नदी, पृ0 86
13. नदी, पृ0 43
14. नदी, पृ0 44
15. नदी, पृ0 107
16. नदी, पृ0 107
17. नदी, पृ0 107
18. नदी, पृ0 59
19. नदी, पृ0 133
20. नदी, पृ0 147
21. नदी, पृ0 145
22. नदी, पृ0 18
23. नदी, पृ0 103
24. नदी, पृ0 145
25. नदी, पृ0 83

****

o'ohdj.k ,oa efgyk l'kfDrdj.k % Hkkjrh; lanHkZ esa

/khjUnz flag*

वर्तमान का मानव दीर्घ, सतत विकास प्रक्रिया का प्रतिफल है। इस विकास की प्रक्रिया में मनुष्य ने कई चक्र देखें हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के पष्चात विष्व दो गुटों में बट गया था। पूँजीवादी संघ का नेतृत्व अमेरिका, जबकि साम्यवादी गुट का नेतृत्व सोवियत संघ कर हरा था।[1] सोवियत संघ के पतन हो जाने के पश्चात विश्व एक ध्रुवीय हो गया अर्थात् अमेरिका पूरे विश्व में नेतृत्वकर्ता के रूप में उभरा और यहीं से भारत ने एल0पी0एच0 नीति को अपनाया, जिसके फलस्वरूप भारत में वैश्वीकरण प्रारंभ होता है।[2] इस वैश्वीकरण के दौर में जहाँ एक ओर गलाकाट प्रतिस्पर्धा चल रही है वहीं दूसरी ओर बाजार तंत्र ने महिलाओं को एक वस्तु के रूप में समाज के समक्ष परोसा है। भूमण्डलीकरण एक ओर महिला सशक्तिकरण के लिए चुनौती खड़ी कर रहा है तो दूसरी तरफ महिलाओं को एक अवसर प्रदान कर रहा है। महिला सशक्तिकरण से तात्पर्य है कि महिलाओं को पुरूषों के बाराबर वैधानिक, राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज व राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने में है।

लड़कियों के साथ भेदभाव की प्रक्रिया जन्म के पूर्व से ही प्रारंभ हो जाती है। जिसको भ्रूण हत्या के रूप में देख सकते हैं एवं जन्म के पश्चात भी समाज में लड़का–लड़की में विभेद किया जाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि परिवार और समाज के द्वारा ही लड़कियों को पैदा किया जाता है, जब कि जन्म के समय सभी बच्चे ही होते हैं। भारत में हमेशा से पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था वाला समाज रहा है जहाँ महिलाओं की सामाजिक परिस्थिति निम्न रही है। महिलाओं में शिक्षा का स्तर भी निम्न रहा है तथा इनकी राजनीतिक जागरूकता के अभाव के कारण इनकी राजनीतिक सहभागिता भी निम्न रही है एवं आर्थिक रूप से महिलायें अधिकतर पुरूषों पर निर्भर रही हैं। अपनी निम्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रस्थिति के कारण महिलायें लैंगिक विषमता, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा, रूढ़ियों, अंधविश्वासों जैसी समस्याओं से ग्रसित थी।[3] और इन्ही समस्याओं से छुटकारा हेतु महिला सशक्तिकरण की अवधारणा प्रचलित हुई। जिसके कारण महिलायें पुरूषों से कंधा मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में कदमताल कर रही हैं जो उनके सशक्तिकरण को बयाँ करता है।

वैश्वीकरण के प्रभाव स्वरूप एक तरफ जहाँ गुणवत्ता पूर्ण उच्चशिक्षा का प्रसार हुआ तो दूसरी तरफ महिलाओं में जागरूकता आयी। जिससे महिलाओं का शैक्षिक उत्थान हुआ और उनका सामाजिक सशक्तिकरण हुआ।[4] महिलायें सामाजिक क्षेत्र में दिन–प्रतिदिन नये–नये कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं। परिवार निर्माण से लेकर राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान कर रही हैं, अर्थात परिवार की देखभाल से लेकर शैक्षिक गतिविधियों (शिक्षक, प्रोफेसर, कुलपति) के माध्यम से राष्ट्र के निर्माण में भूमिका निभा रही हैं। पिछले दशकों में सरकार द्वारा महिला सशक्तिकरण की शिक्षा के कई कार्यक्रम, योजनाओं को चलाया जा रहा है। इस दिशा में स्वालम्बन, जननी सुरक्षा योजना, आषा योजना, बालिका प्रोत्साहन राशि योजना, बालिका समृद्धि योजना, किशोरी शक्ति योजना, 'बेटी बचाओ, बेटी पठाओ' योजना इत्यादि है।

*शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वैश्वीकरण के युग में भारत में एफ0डी0आई0 के अंतर्प्रवाह में वृद्धि हुई जिससे विभिन्न प्रकार के उद्योगों एवं सेवा क्षेत्र के विकास में तीव्रता आई। फलतः योग्यता के आधार पर महिलाओं के लिये रोजगार के अवसर में वृद्धि; हुई तथा महिलाओं का रोजगार में भागेदारी में वृद्धि हुई जिससे भारतीय महिलाओं का आर्थिक सशक्तिकरण हुआ।[5] आई0सी0आई0सी0आई0 बैंक की अध्यक्ष 'चन्दा कोचर' का नाम बड़े गर्व से लिया जाता है। इसके अलावा 'पेप्सिको' की अध्यक्ष 'इन्दिरा नूरी' भी बड़ी प्रभावशाली महिलाओं की सूची में अपना नाम दर्ज करवाया। इसके अतिरिक्त भी कई महिलायें भी आर्थिक जगत में कई पदों पर कार्यरत होकर अपना नाम रोशन कर रही हैं।

भारतीय संविधान के द्वारा महिलाओं को राजनीतिक क्षेत्र में आरक्षण सुविधा देकर शक्तिशाली बनाया है। सरकार द्वारा विधानसभा, लोकसभा, पंचायतीराज व्यवस्था में महिलाओं के लिये आरक्षण सुविधा देकर महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक नया आयाम प्रदान किया। भारत में सरोजनी नायडू, इन्दिरा गाँधी आदि महिलाओं ने सर्वप्रथम राजनीति में कदम रखा और सरोजनी नायडू ने कहा था ''याद रखो जो हाथ पालना झुलाते हैं वही दुनिया पर राज करते हैं।''[6] तत्कालीन भारत में वसुंधरा राजे सिंधिया, ममता बनर्जी, जयललिता जैसी महिलायें राज्य के मुख्यमंत्री के पद पर मृदुला सिन्हा (गोवा), श्रीमती मुर्मू (झारखण्ड) राज्यपाल के पद पर, स्मृति ईरानी, सुमित्रा महाजन, उमाभारती, आदि मंत्रियों के पद पर आसीन हैं जो महिला सशक्तिकरण की ओर बढ़ते हुये कदम की ओर इंगित करते हैं।

वैश्विकरण ने संचार साधनों का विकास किया है एवं उपभोक्तावादी परिश्चमी संस्कृति का प्रसार किया है जिसको अपना कर महिलाओं की स्वतंत्रता एवं स्वच्छन्दता में वृद्धि हुई है। परिणाम स्वरूप उनके जीवन शैली में बदलाव आया जैसे–पश्चिमी वेश–भूषा, प्रेमविवाह, अंतर्जातीय विवाह, लिव–इन–रिलेशसिप, अविवाहित रहना, अधिक उम्र में विवाह करना आदि। जो महिलायें घर के अन्दर कमरों मे बन्द रहती और जिसकी अभिव्यक्ति पर भी पाबन्दी थी आज वह मुखरित होकर बोल रही है और स्त्रियों की दर्दनाक दशा को समाज के समक्ष मजबूती से रख रही हैं, साथ ही टी0वी0 स्क्रीन पर विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति के माध्यम से महिलाओं की समस्याओं पर चर्चा कर रही हैं। इस क्षेत्र में महिलाओं ने एक मिशाल कायम की है।

आज खेल की दुनिया में भी महिलायें उल्लेखनीय कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं। आलंपिक में स्वर्ण पदक विजेता 'मैरीकॉम' ने देश का नाम अन्तरराष्ट्रीय पटल पर रोशन किया। इसी क्रम में 'सायना नेहवाल' ने ओलंपिक में रजत पदक जीता था। सानिया मिर्जा, अंजूबाबी जार्ज, डोला बनर्जी, सुनीताराव, कृष्णा पूनिया आदि ने अपने–अपने खेल के क्षेत्र में अच्छा प्रदर्शन कर रही हैं। 'पी0टी0 ऊषा' अपने सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिये 'उड़न परी' के नाम से जानी जाती हैं। ये महिलाओं, लड़कियों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर रही हैं जिससे भारत का आत्मविश्वास बढ़ा है।

वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में भी महिलाओं की सक्रियता दिखायी पड़ती है। अग्नि 5 मिसाइल को प्रक्षेपित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाली महिला वैज्ञानिक 'टी0सी0 थॉमस' ने महिलाओं के दमखम को दिखाया है, इस उपलब्धि के कारण उन्हें अग्निपुत्री की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय मूल की महिलाओं में कल्पना चावला, व सुनीता विलियम्स का नाम उल्लेखनीय है।

निश्कर्षतः कह सकते हैं कि महिलायें समाज की रचनात्मक शक्ति होती है और उनमें अपार क्षमता निहित होती है। इन्हें सबल और सशक्त बनाकर हम देश को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से सुदृढ़ बना सकते हैं। इसीलिए शायद देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि ''जब महिलायें आगे बढ़ती है तो परिवार आगे बढ़ता है, समाज आगे बढ़ता है और राष्ट्र भी अग्रसर होता है।''

I UnHk %

1. कड़िया, बी0एल0, अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, पृष्ठ, सं0 381
2. वहीं, पृष्ठ, 287
3. कुमार, राधा, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृष्ठ, 14—15
4. Mazumdar, Maya, Social status of women in India, Delhi pages-35,303
5. Singh, Baijhatt, Economics of women education and empowerment, Delhi, P. 179.
6. स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृष्ठ 13
7. Ghosh J. Information and women work force participation : A consideration of resent trnds in Asia.

****

j?kohj lgk; dh dfork esa L=h&foe'kZ

x¨ikYk ;kno*

स्त्री–विमर्श के दौर में आज पूरे विश्व में नारीवादी चिंतन ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'नारीवाद' वस्तुतः नारी की स्वतंत्रता पर बल देने वाला विचार है, जो समकालीन दौर में कई प्रस्थापित मूल्यों को चुनौती दे रहा है। वह समता, स्वतंत्रता और न्याय के वाजिब हक को पाने के लिए सत्ता, समाज एवं उन तमाम संस्थाओं को कटघरे में खड़ा कर रहा है जो उसके विरोधी हैं।

स्त्री प्रकृति, जीवन और समाज के केन्द्र में होते हुए भी उत्पीड़न, दमन व शोषण का शिकार रही है। आरम्भ से ही पुरुष वर्चस्ववादी सामंती समाज ने उसकी अस्मिता को नकारकर उसे नजर अंदाज किया है। उसने उसके बुद्धिवादी पक्ष की विशेषताओं को, उसकी तार्किक क्षमता व रचनाशीलता को अपनी संकीर्ण मानसिकता के चंगुल में फँसाकर एक ऐसा दृष्टि प्रदान की है जो सदैव उनसे बेहतर होने की स्थिति को रोके रहे और पुरुष प्रधान समाज–सत्ता की प्रभुत्ववादी शक्तियाँ अपने वर्चस्व को कायम रख सके। यही वजह है कि किसी भी देशकाल व साहित्य में स्त्री–समस्या एक संवेदनशील व जटिल विषय बनकर उभरती रही है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत में उभरे स्त्रीवादी चिंतन ने इसे और भी तीखा स्वर प्रदान किया है। रघुवीर सहाय की कविताएँ भी इससे अछूती नहीं है।

रघुवीर सहाय ने अपने समय की भयावहता से सीधे साक्षात्कार करते हुए अपनी काव्य यात्रा को विकसित किया है। वे देख रहे थे कि आज की लोकतंत्रीय व्यवस्था में स्त्रियों की दशा अत्यंत ही दयनीय है। वह आत्यंतिक शोषण, पाशविकता और परवशता की शिकार है। फलतः कवि की संवेदना को उद्वेलित करती है यह स्थिति। 'खड़ी स्त्री', 'चढ़ती स्त्री', 'एक लड़की' तथा 'अभी तक खड़ी स्त्री' आदि छोटी–छोटी कविताएँ स्षियों के शोषित जीवन की विडम्बनाओं को अभिव्यक्त करती है। ऐसी ही एक कविता है 'औरत की जिंदगी'–

''कई कोठरियाँ थी कतार में/उनमें किसी में एक औरत ले जायी गयी/ थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया/ उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा/उसके बचपन से जवानी तक की कथा।''[1]

रघुवीर सहाय की यह कविता औरत की जिंदगी में रोने के जितने कारण है और प्रसंग हो सकते हैं, उनकी ओर इशारा करती है और औरत के प्रति हमारे विचारों और भावों के आयतन को मानवीय अर्थों में बढ़ती और गहरा करती है।

रघुवीर सहाय की कविताओं में चित्रित स्त्री हमारे समय की ठोस और वास्तविक स्त्री है। वह एक जीवित इकाई है। उनकी कविता में स्त्रियों की करुण सामाजिक स्थिति के द्वारा उनके जीवन यथार्थ का सूक्ष्म अवलोकन किया गया है। यथा,

''और की पीठ उसका इतिहास है,/ उस पर जुल्म का असर वहाँ देखो/ अपने सीने को अगर उसने छिपा रखा हो।''[2]

इस सामंती समाज में नारी 'बिचारी' मात्र बनकर रह गई है। वह शोषण और यातना की आत्यंतिक स्थितियों से गुजरने को विवश है और इसी कारण पुरुष के सामने अंततः 'चित्त' है–

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यलय, वाराणसी।

''नारी बिचारी है, / पुरुष की मारी है, / तन से क्षुधित है,
मन से मुदित है, / लपककर झपककर / अंत में चित्त है।''[3]

विनोदप्रियता के इस लहजे में भी नारी जाति की त्रासदी की एक अंतर्धारा बहती दिखती है। मानों विडम्बनाओं का शिकार हो जाना ही उसकी नियति है–

''पढ़िए गीता, / बनिए सीता, / फिर इन सबमें लगा पलीता / किसी मूर्ख की हो परिणीता / निज घरबार बसाइए / होंय कँटीली / आँखें गीली / लकड़ी सीली, तबियत ढीली / घर की सबसे पतीली / भरकर भात पसाइए।''[4]

यह निम्न मध्यवर्गीय नारी की पूरी जीवन गाथा है। ऐसी जीवन गाथा जिसमें प्यार और सम्मान का अभाव है। जहाँ स्त्री की उम्र ''इज्जत से शुरू करके अपमान की ओर बढ़ने को बाध्य है।'' ऐसी बेबस और लाचार स्त्रियों को देखकर कवि को रोना आता है–

''मैंने जमा की / नौ जवान / या दस बेबस लड़कियाँ और उन्हें चिपके कपड़े पहना दिए / फिर मैं रोया उनके स्तनों की असली शक्ल देखकर।''[5]

क्या ये लड़कियाँ सचमुच जवान हो गई है या सिर्फ उम्र से बड़ी हुई है? सिर्फ उम्र से बड़े होने और सचमुच बड़े (विकसित) होने में फर्क है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उनकी कविताओं में स्त्रियों का इस तरह आना कवि द्वारा अभिव्यक्त की गई आत्मदया या वृथा भावुकता तो नहीं? नहीं, कवि बहुतेरे कवियों की तरह नारी को 'अबला' समझकर उसके प्रति 'दया' का भाव प्रदर्शित नहीं करता बल्कि यह उसकी मानवीय करूण है। अशोक वाजपेयी के शब्दों में कहें तो–

''.......स्त्री के लिए रघुवीर सहाय के यहाँ अद्‌भूत करुणा है; पर वह नहीं जिसे एक पुरुष–प्रधान समाज में एक पुरुष–कवि द्वारा की गई दया कहा जा सके।''[6]

रघुवीर सहाय दया के प्रदर्शन को एक सामंती मूल्य मानते थे क्योंकि उस प्रदर्शन में कहीं–न–कहीं दया के पाप को छोटा, हीन और असहाय समझने और खुद को समर्थ, बड़ा और सामंत सरीखे शासक मानने की प्रवृत्ति जाने–अनजाने काम कर रही होती है। इसलिए रघुवीर सहाय अपनी रचनाओं में दया दिखाने के खिलाफ हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा है :–

''हिन्दी साहित्य में स्त्री के प्रति यह भावना बार–बार व्यक्त हुई है कि वह उपेक्षित है, इसलिए दया की पात्र है। आधुनिक कहे जाने वाले साहित्य में पुरुषों से उसके शरीर–संबंध को विशेष महत्व दिया गया है पर वहाँ भी उसके प्रति दया का भाव लेखक के मन से गया नहीं है– मानो आधुनिक जीवन के नर–नारी–समता के विचार ने रचनाकार को छुआ ही न हो और वह पिछले जमाने के सामंती मन से ही स्त्री को देख रहा हों.....।''[7]

स्पष्ट है कि नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण समतावादी था। पूँजीवाद ने मनुष्य और मनुष्य के बीच के संबंधों को मनुष्य और वस्तु के बीच के संबंधों में बदल देने की परिस्थितियाँ पैदा की है। परंतु रघुवीर सहाय के यहाँ ऐसा नहीं है। वे अपनी कविताओं में दूसरे पक्ष को अर्थात् स्त्री को समानता और संपूर्ण मानवीय गरिमा के साथ प्रस्तुत करते हुए उसकी महत्ता को हमेशा स्वीकार करते हैं। वे नर–नारी की समानता और सहधर्मिता के आदर्श को इस प्रकार वाणी प्रदान करते हैं–

''बंधु हम दोनों थके हैं / और थकते ही रहें तो साथ चलते भी रहेंगे / वह नहीं है साथ जिसमें तुम थको तो हम तुम्हें लादे फिरें / और हम थकें तो दम तुम्हारा फूल जाय–हाय!''[8]

दरअसल रघुवीर सहाय के पूरे रचना–कर्म में मनुष्य के लिए अधिक आजादी, अधिक समता, अधिक न्याय, अधिक आशा की माँग है। वे 'कम से कम' वाली बात के हिमायती हैं भी नहीं। वे जानते हैं कि सिर्फ वोट देने का अधिकार मिलने से अथवा संविधान में व्यवस्था कर देने से स्त्रियों की अवस्था नहीं सुधरेगी। इसलिए वे उसे मुक्त और स्वाधीन कराने के लिए, उसे समाज में एक स्वायत्त स्थान दिलाने के लिए संसदीय जनतंत्र और उसकी संस्थाओं का अधिक से अधिक सही इस्तेमाल करना

चाहते हैं। पर कवि अकेला कितना बदलाव ला सकता है। इसके लिए स्त्री को खुद जागरूक होना पड़ेगा, उसे अपने अधिकार और कर्त्तव्यों से परिचित होना होगा। उसे अपने शोषण और गुलामी की स्थिति की पहचान करनी होगी, इन परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार कारणों की खोज करनी होगी। कवि की असली चिंता यही है–

''ग्रीष्म फिर आ गया/फिर हरे पत्तों के बीच खड़ी है वह /ओंठ नम/ और भरा–भरा–सा चेहरा लिये/बदली की रोशनी–सी नीचे को देखती/निरखता रह/उसे कवि/न कह/न हँस/न रो/कि वह/अपनी व्यथा इस वर्ष भी नहीं जानती।''[9]

यहाँ कवि की मुख्य चिंता यह नहीं है कि वर्तमान सामाजिक स्थितियों के बीच असहाय स्त्री कितनी व्यथाओं से घिरी हुई है। उसके लिए अधिक चिंतित करने वाली बात यह है कि वह स्त्री अपनी व्यथा को जानती क्यों नहीं? वह उससे बेखबर क्यों हैं? स्पष्टतः जब वह अपनी व्यथा को पहचान लेगी तो वह उसके कारणों की भी खोज करेगी अथवा करना चाहेगी। वह एक नयी स्थिति होगी जो उसकी वास्तविक मुक्ति के संदर्भ में पहला कदम होगा।

निष्कर्ष यह है कि रघुवीर सहाय की कविताओं में स्त्रियों क कई कहानियाँ हैं। कहीं वह प्रेम में, अनुराग में, कामना में और दुख में पड़ी स्त्री है तो कहीं मंत्रणा, जाल और षड्यंत्र में फँसी है। वह ताकत और क्रूरता से घिरी, दहशत और आतंक के बीच जी रही स्षी है। परंतु रघुवीर सहाय हर हालत में उसे बिना अतिरंजना और पूरी ऐंद्रिकता के साथ देखते और दिखाते हैं। रघुवीर सहाय के यहाँ स्त्रियों के प्रति 'एक व्यापक मानवीय करुणा' है। इसी मानवीय करूणा से वे संचालित होते हैं और अपने कवि और नागरिक होने के दायित्व को निभाने के लिए ''अपनी भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं''[10] लड़ते नजर आते हैं। उम्मीद है, उन्हें मिलेंगे अपने हक सब। वह पाएँगी सारा का सारा जीवन।

I nÒ %

1. रघुवीर सहाय रचनावली, भाग 1, पृ0 161.
2. वहीं, पृ0 360.
3. वहीं, पृ0 92.
4. वहीं, पृ0 79.
5. वहीं, पृ0 177.
6. कवि कह गया है–अशोक वाजपेयी, पृ0 85.
7. रघुवीर सहाय रचनावली, भाग 3.
8. वहीं, भाग 1, पृ0 77.
9. वहीं, पृ0 127.
10. वहीं, पृ0 103.

****

e/;dkyhu lkfgR; ,o efgyk,

lrh'k dqekj*

''साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान एक सृष्टा के रूप में भले ही अपेक्षाकृत कम रहा हो, किन्तु एक प्रेरणादायक के रूप में यह बहुत अधिक है। महिला पुरूष की प्रेरणा है और समस्त साहित्य की रचना का आधार प्रेरणा ही होता है, अतः एक प्रेरक के रूप में साहित्य सृजन में महिलाओं के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। प्राचीन काल में अभिव्यक्ति के लिए समान अधिकार नर और नारी को प्राप्त थे परन्तु फिर भी सृजन के क्षेत्र में यह उपलब्धि समान रही है। परन्तु समय के साथ–साथ परिवर्तन होता गया और सामाजिक व धार्मिक दबाव के कारण नर और नारी की साहित्य सृजन क्षमता में अन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता गया और महिलाएँ सृजनकर्ता पुरूष की प्रेरणा बनकर रह गईं और यह स्थिति कमोवेश प्रत्येक भाषा, काल और देश में रही है।''[1]

''मध्यकाल में महिलाओं के विकास का नहीं अपितु पतन का युग था फिर भी इस काल में कई स्थानों पर महिलाओं ने साहित्य सृजन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। कोथई आन्द्राल टोयल भी प्रसिद्व भक्ति गीत रचनाकार की थी। उसमें तिसमोली और ''तिरुप्पवाई'' नामक दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे थे। तमिल भाषा की दूसरी प्रसिद्ध कवयित्री अब्बई है जिसने नीति कविताओं की रचना की थी। प्रकृति और संस्कृत में भी कुछ महिलाओं ने ग्रन्थ लिखे। इन महिला रचनाकारों में प्रभुदेवी, मदालसा, सुभद्रा, जयन्ती, अजेय के नाम प्रमुख हैं। इसके साथ ही कुछ अन्य महिला लेखिकाओं ने मराठी, कश्मीरी, उड़िया व गुजराती में भी लेखन किया और प्रान्तीय साहित्य को समृद्ध बनाया। मध्यकालीन ब्रजभाषा की प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई थी जिसके भक्तिगीत आज भी जनमानस के हृदय में गूँजते रहते हैं। कालान्तर में मीरा के पदचिन्हों पर चलकर छत्र कुँवरि बाई, राधाबाई, कृष्णा बाई और गौरी बाई आदि ने भी भक्तिगीतों की रचना की। इस क्षेत्र में मुस्लिम कवयित्री ताज ने योगदान प्रदान किया। मीराबाई के राग गोविन्द में कृष्ण के प्रति समर्पित गीत और भजन हैं जो आज भी जन–जन की जिह्वा पर है। महराष्ट्र में गाये जाने वाले भक्ति गीतों की रचना का श्रेय जनाबाई को दिया जाता है जिनमें अनुभूति की तीव्रता और भावुकता का सुन्दर मिश्रण है।''[2]

लेखन के क्षेत्र में मध्यकालीन नारी से यद्यपि यह अपेक्षा करना उचित नहीं होगा कि वह साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रणी बनी रहें फिर भी कुछ महिलाओं ने काव्य के अतिरिक्त दर्शन व्याकरण, जीवनी काव्य आदि विषयों पर भी साहित्य सृजित किया व विजयनगर की रानी ओडवा तिसमालग्या ने नाटक, दर्शन व व्याकरण के साथ–साथ कविता और संगीत में भी प्रसिद्धि अर्जित की। राजा मानसिंह की पत्नी मृगनयनी ने कई राग रागनियों में कविताएं लिखीं। मुगल काल में बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम ने जीवनी काव्य के द्वारा 'हुमायूँनामा' की रचना की। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा एक विदुषी महिला थी उसने शायरी में महारत हासिल की, उर्दू शायरी को प्रसिद्धि प्रदान कराने में बेगम जाफरी, गुना बेगम, जिया जानी, सदर आदि महिलाओं के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

18वीं शताब्दी से पहले लेखिका मृदुपलानी ने 'राधिका संतावानम' और अष्टपदी की रचना की। उसे संस्कृत में विशेष योग्यता प्राप्त थी। उसने तेलुगू और संस्कृत दोनों भाषाओं में लेखन

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कार्य किया। गुजरात में गौरी नामक एक महिला ने लगभग साढ़े छः सौ गीतों की रचना की। काश्मीर युसुफ शाह चक की पत्नी हब्बा खातून ने भक्ति गीतों की रचना की तथा अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त की। एक ब्राह्मण फारसी कवि की परित्यक्ता पत्नी अरूणिमाल ने विरह गीतों को लिखा। पंजाबी में रामकौर की जनम साखियाँ और अंग्रेजी में तारूदत्त की कविताएं भी इस काल की अमूल्य धरोहर है। बंगला उपन्यास लेखिकाओं में स्वर्ण कुमारी देवी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो रविन्द्रनाथ टैगोर की बड़ी बहिन थी। वह उपन्यास लेखिका होने के साथ–साथ कहानीकार, नाटककार, पत्रकार और समाज सेविका भी थी। उन्होंने भारती पत्रिका का कई वर्ष तक सम्पादन किया। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में तेलुगू में 100 से भी अधिक लेखिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट है कि मध्यकाल में भले ही मुस्लिम शासकों ने साहित्य के विकास की ओर अधिक ध्यान न दिया और महिलाओं की स्थिति दयनीय होने के कारण वे साहित्य के क्षेत्र में अधिक उपलब्धियाँ अर्जित न कर पाई हों, परन्तु प्रान्तीय शासकों के सहयोग से जो साहित्य इस काल में सृजित हुआ वह इतिहास की अमूल्य धरोहर है।

इस प्रकार देखा जाय तो मध्यकाल में जहाँ महिलाओं का एक तरह से पतन का काल था तथापि महिलाओं ने अपने गुणों के कारण उस युग में भी अपनी पहचान बनाये रखा और साहित्य में अपना अमूल्य योगदान दिया।

lnHkZ %

1. भारतीय इतिहास में महिलाएँ, डॉ0 के0एन0खुराना, डॉ0 एस0एस0चौहान, प्रकाशक–लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, संस्करण–प्रथम संस्करण 2012, पृ0सं0 141
2. वहीं, पृ0 142

****

ikphu lLd`r xUFkksa esa fL=;ksa dh n'kk ,oa orZeku esa ukjh l'kfDrdj.k

lUrks"k dqekj*

किसी भी सभ्यता को सभ्य कहने का आधार उसमें निहित नैतिकता, आचरण एवं स्त्रियों की दशा होती है। स्त्री दशा उस देश की संस्कृति का प्रतिमान मानी जाती है। समुदाय का स्त्रियों के प्रति सोच एवं व्यवहार अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक आधार होता है।

भारतीय सभ्यता में स्त्रियों को अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। प्राचीन सभ्यता, सैन्धव सभ्यता के धर्म में माता देवी को सर्वोच्च पद प्रदान किया जाना उस समाज में उन्नत स्त्री दशा का परिचायक है। ऋग्वेद में उसकी आदरपूर्ण स्थिति का वर्णन मिलता है। पुरुषों के ही समान उसके धार्मिक तथा सामाजिक अधिकार थे। उन्हें शैक्षणिक अधिकार एवं सुविधायें भी प्रदान की गयी थी। उनका उपनयन संस्कार होता था। ऋग्वेद में घोषा, लोपामुद्रा, शाश्वती, अपाला, सिकता, निवावरी, इन्द्राणी आदि विदुषी नारियों के कई नाम मिलते हैं जो वैदिक मन्त्रों एवं स्त्रोतों की रचयिता हैं। स्त्रियों और शूद्रों के लिए भी वेदों और मन्त्रों पर समान अधिकार था–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।।[1]

ऋग्वेद कालीन समाज में कन्याओं का विवाह पन्द्रह–सोलह वर्ष की आयु में होता था जिससे उन्हें अध्ययन का पर्याप्त समय मिल जाता था। समाज में सती प्रथा, विधवा प्रथा, पर्दा प्रथा का चलन नही था। स्त्री को सम्पत्ति तथा शासन के अधिकारों से वंचित रखा गया था। 'भू–सम्पत्ति का अधिकारी वह था जो शक्तिशाली शत्रुओं से बलपूर्वक उसकी रक्षा करने में समर्थ होता। चूँकि यह कार्य स्त्री के वश में नहीं था। अतः उसके धन सम्बन्धी अधिकारों को मान्यता नही मिली। इसी प्रकार की असमर्थता शासन के क्षेत्र में भी रही है।[2]

ऋग्वेद से पता चलता है कि विवाह के बाद वधू सभी आगन्तुकों को दिखलाई जाती थी, यह आशा की जाती थी कि वृद्धावस्था तक जनसभाओं में भाषण करे–

समंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत्।
सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं विपरेतन।
वाशिनित्वं विदथमावदासि।।[3]

उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों के अनुसार कन्याओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वे ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए अध्ययन करती थी। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य द्वारा ही कन्या योग्य पति को प्राप्त करने में सफल होती है– ब्रह्मचर्येण कन्यानं युवा बिन्दते पतिम। कन्याओं की गुरुकुल शिक्षा समाप्त होने लगी। उनका विवाह व्यस्कावस्था में ही होता था। स्त्रियों का सामाजिक समारोहो में जाना समाप्त हो गया। विधवा–विवाह होते थे। सती प्रथा एवं पर्दा प्रथा का अभाव था। अल्तेकर के अनुसार वैदिक काल की राजनैतिक आवश्यकताएँ ही प्रागैतिहासिक सती प्रथा की समाप्ति तथा नियोग एवं पुनर्विवाह को मान्यता प्रदान किये जाने के लिए उत्तरदायी थी।[3] विवाहित व्यक्ति ही यज्ञों

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी।

तथा धार्मिक कर्मकाण्डों के योग्य था। उपनिषद् काल में कई महिलाओं का नाम दार्शनिकों की श्रेणी में मिलता है– मैत्रेयी, गार्गी, अत्रेयी आदि। गार्गी ने प्रख्यात दार्शनिक याज्ञवल्क्य से गूढ़ दार्शनिक प्रश्नों पर वाद–विवाद किया था।

सूत्रकालीन ग्रन्थों के अनुसार स्त्रियों से सम्बन्धित संस्कारों में वैदिक मन्त्रों का उच्चारण बन्द हो गया। उनके विवाह की आयु घटाकर नौ वर्ष से बारह वर्ष कर दी गयी। जिससे शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया। विवाह को ही उपनयन का विकल्प समझा जाने लगा–

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः।
पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।[4]

वशिष्ठ के अनुसार स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नही है। बचपन में पिता युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र उसकी रक्षा करते हैं–

पिता रक्षति कौमारे भर्तो रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वतन्त्रयमर्हति।।[5]

मनु ने कहा कि पति के दुराचारी तथा चरित्रहीन होने की स्थिति में भी पत्नी उसकी देवता की समान पूजा करे–

विशीलः कामवृत्तों वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिम्।।[6]

नियोग एवं पुनर्विवाह की प्रथायें बन्द हो गयीं जिससे विधवा एवं पुत्रहीन स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। अतः उनके विवाह एवं पोषण के लिए व्यवस्थाकरों ने धन सम्बन्धी अधिकारों को मान्यता देना प्रारम्भ किया।

मनुस्मृतिकार ने स्त्रीधन का विभाजन पुत्रों एवं पुत्रियों में समान रूप से करने की व्यवस्था दी है–

अध्यग्न्यध्यावाहिनंक दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनंस्मृतम्।।[7]

मनु के अनुसार पति की अनुमति के बिना पत्नी निजी सम्पत्ति को बेच नही सकती थी–

न निर्हारं स्त्रिय; कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया।।[8]

मनुस्मृतिकार ने स्त्रीधन का विभाजन पुत्रों एवं पुत्रियों में समान रूप से करने की व्यवस्था दी है–

जनन्यानां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं जनन्यश्च सनाभयः।।[9]

पांचवी से बारहवीं सदी (उत्तर कालीन स्मृतियां एवं भाष्य) में कन्याओं का विवाह आठ से दस वर्ष के बीच उपयुक्त माना गया। सती प्रथा का प्रचलन हो गया। स्त्रीधन एवं विधवा के मृत पति का उत्तराधिकारी होने का सिद्धान्त व्यवहारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। मुस्लिम सत्ता की स्थापना के साथ–साथ समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन हुआ, जिससे स्त्रियों का सार्वजनिक जीवन समाप्त हो गया। बाल–विधवाओं की संख्या में वृद्धि हुई। सती प्रथा का प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य गुप्त काल में 510 ई. में एरण लेख से पता चलता है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त का मित्र गोपराज हूणों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया, जिसके साथ उसकी पत्नी अग्नि में जल मरी–

भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता,
भार्यावलग्नानुगतानिग्नराशिम्।[10]

पाँचवीं शती के ग्रन्थों के अनुसार नियोग एवं विधवा पुनर्विवाह सीमित हो गया। विधवाओं को अपवित्र बताकर कठोर साधना का जीवन बिताने को बाध्य किया जाने लगा। कुछ विधवाएं जीवन की कठोरताओं से त्राण पाने के लिए सतीव्रत का अनुसरण करती थी।[11]

समाज उनके प्रति घृणा एवं निर्दयता का भाव रखने लगा। उनको अशुभ मानकर समस्त उत्सवों से बहिष्कृत कर दिया गया।

अमंगलेभ्यः सर्वेभ्यो विधवा स्यादमंगला।
विधवा दर्शनात्सिद्धिः क्वापि जातु न विद्यते।।[12]

शास्त्रों एवं महाकाव्यों में स्त्री के महत्वपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा मिलती है। महाभारत के अनुसार गृहणी ही वस्तुतः गृह कही जाती है। गृहणी के बिना गृह अरण्य के समान है। महाभारतकार ने लिखा है कि स्त्रियां समृद्धि के देवी है। समृद्धि चाहने वाले व्यक्ति को उनका सम्मान करना चाहिए–

श्रिय एताः स्त्रियों नाम सत्कार्यामूर्ति इच्छता।
ललितानुगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत।।[13]

महाभारत में स्त्री को अवध्य कहा गया है। स्त्री को धर्म, अर्थ तथा काम का मूल बताया गया है–

भार्या मूलं त्रिवर्गस्य...।[14]

मनुस्मृति में कहा गया है कि – जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहां देवता रमण करते हैं, जहाँ स्त्रियों की पूजा नही होती, वहाँ के सभी कार्य व्यर्थ हो जाते है–

यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[15]

ज्योतिषाचार्य वाराहमिहिर के अनुसार स्त्रियां परिवार की लक्ष्मी होती हैं, उनका सम्मान किया जाना चाहिए– गृहे लक्ष्म्यो मान्याः सततं अवला मान विभवैः।[16]

महाकवि कालिदास ने भी गृहणी, सम्मति देने वाली सहचरी तथा एकान्त की सखा के रूप में स्त्री की महत्ता को स्वीकार किया है–

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या, ललिते कलाविधौ।[17]

मध्यकाल तक आते–आते भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अत्यन्त पतनोन्मुख हो गयी। अनेक कुप्रथाओं सती प्रथा दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल–विवाह, बालिका शिशु हत्या, विधवा प्रथा, देवदासी प्रथा आदि ने स्त्रियों को हीन बना दिया। आधुनिक समाज के अनेक पुरोधाओं एवं समाज सुधारकों जैसे– राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले आदि ने अंग्रेज गवर्नर जनरलों एवं सुधारवादी अफसरों की सहायता एवं आन्दोलन से जन जागृति फैलाकर इन सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त करने की कोशिश की।

हमारी सभ्यता का आधार जातीय व्यवस्था रहा है और इस व्यवस्था के शिकार जितने दलित आदिवासी और पिछड़े हैं, उतनी ही महिलाएं भी। उन अप्रसांगिक एवं सड़ी–गली परम्पराओं व मान्यताओं को दफन करने की जरूरत है, जिससे महिलाएं कमतर मानी जाती है। अतीत में पश्चिमी देशों में भी महिलाओं के साथ भेदभाव होते रहे हैं, लेकिन उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता, न्याय के मूल्यों के आधार पर अपने में तेजी से बदलाव किया।

ग्रीक सभ्यता में सुकरात के दर्शन को उनके शिष्य प्लूटो ने उतना ही माना जितना उनको मानव के हित में या तर्कसंगत लगा। अरस्तू ने भी प्लूटो के सिद्धान्तों व दर्शन से बहुत प्रभावित होते हुए भी वही बाते मानी जो उनके विवेक पर तर्कसंगत लगी। इस तरह यथास्थितिवाद की जकड़न से समाज मुक्त होता गया। भारत में स्थिति एकदम विपरीत है। यहां पुरानी परम्परा एवं मान्यता को ही सर्वोच्च माना जाता है।

पश्चिम के तमाम देशों में अनेक क्षेत्रों में क्रान्ति हुई, लेकिन हमारे यहां नही हो सकी। ज्योतिबा फुले ने महिलाओं की आजादी और शिक्षा की मिसाल कायम कर शुरूआत तो की, लेकिन समाज की जडता नही टूटी। अम्बेडकरवादी आंदोलन जरूर जातिवादी और मनुवादी व्यवस्था को चुनौती देता है, लेकिन उसे बड़ी लम्बी यात्रा करनी पड़ेगी। स्त्रियों को समानता, सम्मान, स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता आदि हासिल करने में जहाँ से भी सहयोग मिलता है, वहां से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

संचार के क्षेत्र में बड़ी क्रांति आई है, जिसकी वजह से स्वतः ही महिलाओं ने अपनी तरह से बराबरी और रहन–सहन के तरीके अपनाए। उच्च शिक्षा में भी भागीदारी ली। घर से बाहर निकली और

नौकरी भी की। राजनीतिक नेतृत्व भी इनके हाथ में आया। ऊपरी तौर पर दिखने लगा कि अब ये पुरुष के समान पहुंच रहीं हैं, लेकिन समाज की सोच के स्तर पर बदलाव बहुत कम हुआ है। जोधपुर में दो गांव ऐसे हैं, जहां 100 वर्ष के बाद बारात आई, क्योंकि लड़कियां पैदा होते ही मार दी जाती थी। बिहार की एक सामाजिक संस्था ने दो दशक पहले एक रिपोर्ट दी थी कि यहां प्रतिवर्ष 16 लाख कन्याओं को पैदा होने के बाद मार दिया जाता है।[18]

महानगरों से सुंदर गांवों तक फैले हुए हमारे देश में स्त्रियों की स्थिति में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सुधार हुआ है। फिर भी कभी–कभी चिंता सताने लगती है कि ग्रामीण स्त्रियां कब विकास की मुख्यधारा से सही मायने में जुड़ पाएंगी? गांवों में बैठी खाप पंचायतें अर्थात सामाजिक पंचायतें अभी भी रोड़े अटकाती रहती है।

संविधान के अनुच्छेद 15(1) में लिंग के आधार पर भेद–भाव करना कानूनन अपराध माना गया है।[19] वहीं अनुच्छेद 15 (2) में स्त्रियों और बच्चों के लिए अलग नियम बनाए जाने की अनुमति दी गई है।[20] संविधान के अनुच्छेद 243–डी तथा 243–टी के अन्तर्गत स्थानीय निकायों के सदस्यों और उनके प्रमुखों की एक–तिहाई सीट्स स्त्रियों के लिए सुरक्षित की गई। इन संशोधनों के बाद समाज में महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन भी दिखाई दिए। पहल किसी भी रूप में हो, एक नई शुरुआत का जन्म देती है।

परिवारों में स्त्रियों के अधिकारों व सम्मान तथा स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने की दृष्टि से परिवार न्यायालय अधिनियम के अंतर्गत परिवार न्यायालय का गठन किया गया। परिवार न्यायालय अधिनियम की धारा 4 (4) (बी) के अन्तर्गत न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय स्त्रियों को वरीयता दिए जाने का प्रावधान है। जैसे–जिला उपभोक्ता मंच की प्रत्येक इकाई में धारा 10(1), 16(1) तथा 20 (1) के अंतर्गत फोरम में कम से कम एक महिला सदस्य का होना अनिवार्य है। स्त्रियों को घरेलू हिंसा से बचाने के लिए घरेलू हिंसा अधिनियम सन् 2005 में पारित किया गया तथा 17 अक्टूबर, 2006 से इसे लागू किया गया।[21]

संविधान में स्वतन्त्रता समानता एवं न्याय आदि सिद्धान्तों के आधार पर स्त्रियों के प्रति भेद–भाव रोकने एवं उन्हें शसक्त बनाने हेतु अनेक कानून बनाये गये। जैसे– बाल–विवाह निरोधक कानून, पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार सबको अनिवार्य शिक्षा कानून, शोषण के विरूद्ध कानून आदि। वर्तमान में स्त्रियों को जो भी अवसर मिल रहा है वे अपनी उपादेयता सिद्ध कर रही हैं वे किसी भी मामले में पुरूषों से कम नहीं हैं। आवश्यकता है उन्हें अवसर उपलब्ध कराने की। आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवारों की स्त्रियां नये–नये कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं, लेकिन आर्थिक विषमता की वजह से स्त्रियों के लिए बहुत कुछ किया जाना शेष है।

lUnHkZ %

1. यजुर्वेद (26/2)
2. पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृष्ठ–343
3. ऋग्वेद (10/85)
4. मनुस्मृति (2/67)
5. मनुस्मृति (9/18)
6. मनुस्मृति (5/154)
7. मनुस्मृति (9/194)
8. मनुस्मृति (9/199)
9. मनुस्मृति (9/192)
10. एरण अभिलेख
11. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति (के.सी. श्रीवास्तव)
12. स्कन्द पुराण (3/7.51)
13. महाभारत अनु० (15)

14. महाभारत–आदि पर्व (74, 40)
15. मनुस्मृति (3/56)
16. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति (के. सी. श्रीवास्तव)
17. रघुवंशम् (8/65)
18. दैनिक जागरण समाचार पत्र।
19. भारतीय संविधान (अनुच्छेद–15/1)
20. भारतीय संविधान (अनुच्छेद–15/2)
21. नई दुनिया समाचार पत्र (जनवरी 2012)

****

tlu /kel dl fodkl el fL=;k dk ;kxnku % ,d vfHkyl[kh; v/;;u

d".kk flg*

तीर्थंकर महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हुए। भगवान महावीर के सम्बन्ध में अपने विचारों को अत्यंत मार्मिक और सरल शब्दों में प्रगट करते हुए आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है, ''महावीर के धार्मिक सम्प्रदाय में स्त्री–पुरुषों का किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं किया गया है। पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार प्राप्त हैं, महिलाओं को भी वे सब अधिकार प्राप्त हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद–बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे अधिक श्रमणियाँ थीं और यही प्रथा आज तक जैनधर्म में चली आ रही है।''[1] उपर्युक्त विचार यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय धर्मों में नारी को पुरुष के समकक्ष स्थापित करने में जैन धर्म विशेष रूप से अग्रणी रहा है।

जैन धर्म में असीम और दृढ श्रद्धा भक्ति रखने वाली तथा जैन धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने वाली स्त्रियों का इतिहास साहित्यिक स्रोतों के साथ ही आभिलेखिक स्रोतों में भी सुरक्षित पड़ा है। अन्य प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों के समान ही जैन मतावलम्बियों ने भी अनेक अभिलेख लिखवाये जिसमें महिलाएँ भी शामिल थीं।

ये पुरालेख पाषाणखण्डों, ताम्रपटों आदि पर उत्कीर्ण कराये गये पाये जाते हैं। ऐसे प्राचीनतम लेख इतिहास के मूल स्रोत के रूप में अपना विशेष स्थान रखते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के कई युगों का ज्ञान प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपटों, सिक्कों, मुहरों आदि के द्वारा सम्भव हो सका है। लोक जीवन के विविध अंगों पर भी इनसे रोचक प्रकाश पड़ता है।

इसी श्रृंखला में अनेक ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो जैन धर्म के विकास में स्त्रियों के योगदान को परिलक्षित करते हैं। जिस प्रकार जनसाधारण तक अपने कथ्य को पहुँचाने की दृष्टि से जैन साहित्यकारों ने काल तथा क्षेत्र को दृष्टि में रखकर विविध भाषाओं में अपने ग्रंथों की रचना की उसी प्रकार जैन अभिलेख भी प्राकृत[2], कन्नड[3], तमिल[4], संस्कृत[5], और तेलुगू[6] आदि भाषाओं में सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचुर मात्रा में लिखवाये गये जिनसे अन्य सूचनाओं के साथ ही जैन धर्म में स्त्रियों के योगदान से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। वास्तव में जैन अभिलेखों की परम्परा खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख[7] से प्रारम्भ होती है और पूर्वमध्यकाल तक अक्षुण्ण बनी रहती है। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन अभिलेख मथुरा व उसके आसपास के ही क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। अधिकांश जैन लेख गुप्तोत्तर काल के हैं, तथा इनकी सर्वाधिक संख्या कर्नाटक में है।

ये लेख अपनी धार्मिक मान्यता के लिए भक्त एवं श्रद्धालु पुरुष या स्त्रीवर्ग द्वारा लिखाये जाते थे जिससे धर्म के विकासक्रम को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। अनेक जैन भक्त पुरुष और महिलाओं के नाम भी इन लेखों से ज्ञात होता है। अधिकांश नाम अपभ्रंश और तत्कालीन लोक भाषा के रूप को प्रकट करते हैं।[8]

* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रागैतिहासिक काल में जैन धर्म को विकसित करने वाली महिलाओं का विवरण तीर्थंकरों की माताएँ, पत्नियाँ और उनकी संतति के रूप में मिलता है। इन जैन महिलाओं का व्यक्तित्व और कृतित्व परखा जाए, तो ऐसा अनुमान होता है कि ये स्त्रियाँ अपने व्यक्तित्व को तीर्थंकरों के व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बित किये हुए थी और जनमानस युगों से तीर्थंकरों के माध्यम से ही इन स्त्रियों के व्यक्तित्व से परिचित रहा है।[9]

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर परवर्ती तीर्थंकरों के समय तक जैन परम्परा में नारी को उच्च स्थान प्राप्त था। अनेक भारतीय नारियों ने जैन साधना मार्ग को अपनाकर निर्वाण प्राप्त किया।[10] ये स्त्रियाँ जैन धर्म को उत्तरोत्तर विकसित करती गई। जैन धर्म में 24 तीर्थंकर हुए और उन्नीसवें तीर्थंकर 'मल्लीनाथ' को स्त्री माना जाता है।[11] इस तथ्य ने जैन धर्म को विकसित करने में नारी की भूमिका को महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया है। आध्यात्मिक जगत में स्त्री को दिया गया यह सर्वोच्च सम्मान था जो सूचित करता है कि जैन परम्परा में नारी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

प्रथम तीर्थंकर 'ऋषभदेव' से लेकर 24वें तीर्थंकर 'महावीर' के काल तक अनेक जैन स्त्रियाँ रही होंगी, जिन्होंने जैन धर्म को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया होगा, परन्तु ऐतिहासिक साधनों के अभाव में उन महिलाओं के स्वतंत्र व्यक्तित्व को उभार का उनका वास्तविक चरित्र–चित्रण प्रस्तुत कर पाना अत्यन्त दुसाध्य कार्य है।

ऐतिहासिक साधनों का अभाव होते हुए भी कालान्तर में 'आभिलेखिक स्रोतों' के माध्यम से जैन धर्म से सम्बन्धित स्त्रियों तथा जैन धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा भक्ति और योगदान के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ सम्पूर्ण भारतवर्ष से प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है।

जैन धर्म पर अटूट विश्वास रखने वाली ये महिलाएँ सामान्य वर्ग के अतिरिक्त बड़े–बड़े राजघरानों, सामन्त परिवारों, महामंत्रियों और सेनापतियों की गृहलक्ष्मियाँ थीं। ये महिलाएँ जिनालय बनवाती थीं और उनके इस पुण्य कार्य में उनके पति, परिवार के लोग भी सहायता करते थे। सौभाग्यवश कुछ राजवंश तथा अनेक राजा जैनमतावलम्बी थे।[12] सामान्य श्रावक–श्राविकाओं के समान ही इन राजपुरुषों व इनकी पत्नियों ने भी मंदिरों के निर्माण कराये और दान दिये।

सर्वप्रथम कलिंगराज खारवेल की अग्रमहिषी का मंचपुरी गुहालेख[13] आता है जो उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरि खण्डगिरि पहाड़ियों में बनी एक गुफा से प्राप्त हुआ है। इसमें उल्लेख है कि ललाक वंशीय राजा हस्तिसिंह के प्रपौत्र की दुहिता और कलिंगराज खारवेल की अग्रमहिषी ने अर्हतों के अनुग्रहलाभ हेतु कलिंग के जैन भिक्षुओं के निवास करने के लिए गुफा बनवाई।

अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि ई0सन् के आरम्भ से मथुरा में जैन धर्म का अधिक प्रचार हुआ। मथुरा के पश्चिम में कंकाली टीला नामक स्थान जैन धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ से तथा अन्य स्थलों से बहुसंख्यक जैन प्रतिमाएँ मिली हैं। मथुरा के 'आयागपट्ट लेख' तथा 'जैन मूर्ति लेख' प्रायः ''नमो अरहतो वर्धमानस'' से प्रारम्भ होते हैं। मथुरा के लेख 0814 से सूचना मिलती है कि श्रमणों की उपासिका (श्राविका) गणिका नादा, गणिका नंदा की बेटी वासा, लेणशोभिका ने अर्हन्तों की पूजा के लिये व्यापारियों के अर्हत मंदिर में अपनी माँ, अपनी बहन, पुत्री, लड़के के साथ और अपने सारे परिजनों के साथ मिलकर एक वेदी, एक पूजागृह, एक कुण्ड और पाषाणसन बनवाये, अभि0 915 में गोतिपुत्र की स्त्री कौशिक कुलोद्भूत शिवमित्रा ने एक आयागपट स्थापित किया। आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनके ऊपर तीर्थंकर, स्तूप, स्वास्तिक आदि पूजनीय चिन्ह उत्कीर्ण किये जाते थे।[16]

शुंग तथा शक, कुषाणकाल में मथुरा और उसके आस–पास जैन मत का पर्याप्त विकास हुआ जिसकी पुष्टि पुरातात्विक अवशेषों से होती है। शक, कुषाणकाल की बहुसंख्यक जैन प्रतिमाएँ अभिलिखित हैं। उन पर लेख ब्राह्मीलिपि में मिश्रित संस्कृत प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं।
अभि0 12[17] के अनुसार भदन्त जयसेन की शिष्या धर्मघोषा ने दानस्वरूप एक मंदिर दिया। बलहस्तिनी के आदेश से एक तोरण खड़ा किया गया।[18] फल्गुयशस नर्तक की पत्नी शिवयशा के द्वारा अर्हन्तों की

पूजा के लिए सुंदर आयागपट बनवाया गया[19] जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में है। मथुरा निवासी–लवाड (?) की पत्नी ने आयागपट्ट का दान दिया,[20] उच्चनागरी शाखा की खुदा (क्षुद्रा) ने वर्धमान की प्रतिमा समर्पित की।[21] कुठ कसुथ की धर्मपत्नी स्थिरा ने सर्वतोभद्रिका प्रतिमा दान में दी।[22] वे चौमुखी शुभ मूर्तियाँ जो चारों ओर से देखी जा सके, सर्वतोभद्रिका कहलाती थीं।[23] वर्मा की पुत्री और जयदास की पत्नी गुल्हा ने एक ऋषभदेव की सुंदर प्रतिमा समर्पित की। वेणी नामक एक श्रेष्ठी की धर्मपत्नी और भट्टिसेनकी माँ कुमारमित्रा ने भगवान की एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा को समर्पित किया। जय की माता मासिगि ने भी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा को दान के रूप में दिया, मितश्री ने भगवान अरिष्टनेमी की प्रतिमा को स्थापित करवाया।[24]

शुचिल की स्त्री ने वाचक अर्य्य मातृदिन के आदेश से भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा को दान में दिया। अर्य्य संघसिंह के आदेश से श्राविका दीना की तरफ से वर्धमान की प्रतिमा अर्पित की गई। यह मातिल की पत्नी थी।[25] आर्य बलत्रात की शिष्या, गृहसेन की बहू जया ने वर्धमान की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, एक विवाहिता बोधिनन्दि (?) की आज्ञा से वर्धमान की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई, जितामित्रा (बुद्धि की पत्नी) ने अर्यनन्दिक के आदेश से एक अर्हन्त की सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करवायी।[26] सिंहदत्ता, जो ग्रामिक जयनाग की कुटुंबिनी थी, ने एक विशाल पाषाण स्तम्भ की स्थापना करवाई, बुबकी की पुत्री, राज्यवसु की पत्नी विजयश्री ने एक मास का उपवास करने के बाद भगवान वर्धमान की प्रतिमा का दान किया, भगवान ऋषभदेव को प्रसन्न करने के लिए तथा सुख शान्ति हेतु पसक की पत्नी दत्ता ने दानधर्म किया, श्राविका दीना ने अर्हत नन्द्यावर्त यानी 18वें तीर्थंकर अर्हनाथ की प्रतिमा का निर्माण करवाया जो देवनिर्मित स्तूप पर प्रतिष्ठित हुई। ओखा नामक श्राविका तथा शिरिक और शिवदिन्ना के द्वारा भगवान महावीर की प्रतिमा मंदिर में स्थापित कराई गई साथ में इनके द्वारा एक जिनमंदिर की स्थापना भी कराई गई।[27] उपर्युक्त के अतिरिक्त अनेक जैन स्त्रियों ने दानधर्म आदि का कार्य किया। धर्म सोमा नामक एक सार्थवाह स्त्री की ओर से दान देने का उल्लेख है।

मथुरा के उपर्युक्त जैन लेखों से ज्ञात होता है कि धार्मिक कार्यों में स्त्रियों की आस्था पुरुषों से कहीं अधिक थी।

इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत की अनेक महिलाओं ने न केवल जैन धर्म को स्वीकार किया था बल्कि इस धर्म के विकास में भी अभूतपूर्व योगदान दिया था। उदाहरणार्थ– 776 ई0 के देवरहल्लि अभिलेख जो संस्कृत और कन्नड़ में मिलता है, से सूचना मिलती है कि प्रार्थिनी निर्गुन्द (परमगूल) की पत्नी कुदाच्चि ने श्रीपुरु की उत्तर दिशा में लोक तिलक नाम का जिन मंदिर बनवाया।[28] 950 ई0 के हुम्मच अभिलेख से यह विदित होता है कि शान्तर की पत्नी पालियक्क ने अपनी माता की मृत्यु पर पालियक्क बसदि नाम की एक पाषाण बसदि खड़ी की और बहुत सा दान दिया।[29] 1075 ई0 के कुप्पुटूरू अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि कदम्ब नरेश कीर्तिवर्मा की ज्येष्ठ रानी माललदेवी ने कुप्पटूर के पार्श्वदेव चैत्यालय को पद्मनन्दि सिद्धान्त देव से सुसंस्कृत कराके उनका नाम वहाँ के ब्राह्मणों से ब्रह्म जिनालय रखवाकर ऋषियों के आहार एवं दैनिक पूजा के लिए 500 होन्नु एवं भूमि दान किया।[30] 1077 ई0 के हुम्मच अभिलेख से यह सूचना मिलती है कि गंगनरेश गोविन्द अपर नाम नन्नि शान्तर की पत्नी चट्टल देवी ने तालाब, कुआँ, बसदि मंदिर, नाली, पवित्र स्नानागार इत्यादि धार्मिक एवं पुण्य कार्यों को सम्पन्न किया।[31] 1103 ई0 के दानसाले अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि चट्टल देवी ने अपने पुत्रों के साथ पंचबसदि के लिए गाँव दान में दिया तथा अपनी बहिन वीरब्बरसि की स्मृति में एक बसदि की नींव हेतु पत्थर जमवाया। इस बसदि को अभिलेख में ''जिन–समय कामधेनु'', ''जिन समय निदानदीपवर्ति'' कहा गया है।[32]

गंग वंश की बाचल देवी ने जो भुजबल गंग पेर्म्मडि देव की दूसरी रानी थी, उसने बन्निकेरे नामक स्थान में एक सुंदर जिनालय बनवाया, तथा सब करों एवं चुंगियों से मुक्त कराकर अनेक प्रकार के दान दिये जिसमें बन्निकेरे की कुछ जमीन, दो कोल्हू आदि शामिल थे।[33] होयसल वंश के प्रतापी

नरेश विष्णुवर्धन की पत्नी शान्तल देवी थीं। श्रवणबेलगोला से प्राप्त चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख में उसकी धार्मिकता एवं जिन भक्ति आदि गुणों की प्रशंसा है।[34] श्रवणबेल्गोला से प्राप्त चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख से ज्ञात होता है कि शान्तलदेवी ने गन्धवारण बसदि का निर्माण कराया, वहाँ एक तालाब निर्मित कराया आदि। उसे अभिलेख में 'सम्यक्त्व चूड़ामणि' एवं 'जिनसमयसमुदितप्राकार' कहा गया है। जैन व्रतों के प्रति दृढ़ इस श्रद्धालु स्त्री ने शिवगंग नामक स्थान में सल्लेखना विधि से देहत्याग किया। शान्तलदेवी की माता माचिकब्बे ने भी श्रवणबेल्गोल में आकर कठोर संन्यसन विधि को धारणकर एक माह तक अनशन करके देहत्याग किया था।[35] हरियब्बरसि, जो विष्णुवर्धन की पुत्री थी, हन्तियूर के अभिलेख से सूचित होता है कि इसने हन्तूर नामक स्थान में नाना रत्नों से जड़ित एक विशाल जैन मंदिर बनवाया था तथा मंदिरों की मरम्मत, पूजा प्रबन्ध, ऋषि और वृद्ध स्त्रियों को आहार देने के लिए गुत्ति स्थान के चिन्न नामक व्यक्ति एवं बम्प नामक मछुए से सब करों को मुक्त कराकर अपने गुरु गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव को भेंट किया।[36]

जैन धर्म पर अचल श्रद्धा रखने वाली एक विशिष्ट महिला आचल देवी का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। उसका पति सेनापति चन्द्रमौलि शैव धर्म को मानता था परन्तु आचल देवी जैन धर्म को। वह अपने चार प्रकार के दान के लिए प्रसिद्ध थी। उसके पति ने उसके कार्य में कभी बाधा नहीं डाला। आचल देवी ने श्रवणबेलगो़ल में एक जिनालय बनवाया। ले0 404 (प्रथम भाग 107) से ज्ञात होता है कि शासक वीर बल्लाल ने उक्त महिला की प्रार्थना पर बेक्क नामक ग्राम गोमटेश्वर की पूजा हेतु दान में दिया था।[37]

इन राजघरानों की महिलाओं के अतिरिक्त सामान्य नागरिकों की स्त्रियों ने भी जैनधर्म के प्रति अपना अनुराग दिखाया। लेख नं0– 353 में लिखा है कि हेगडि जक्कय्य और उसकी पत्नी जक्कब्बे ने दीडगुरु में एक चैत्यालय बनवाया तथा भगवान पार्श्वनाथ की स्थापना करके देवपूजा और ऋषियों के आहार के लिए भूमिदान दिया। ले0नं0 383 में हर्य्यले महासती नामक महिला का उल्लेख है, जिसने मृत्यु के समय अपने पुत्र से कहा कि मेरा ख्याल कभी न करना, केवल धर्म का विचार करना। यदि मुझे और तुम्हें पुण्योपार्जन करना है तो जिन मंदिर बनवाओ...आदि। इसके बाद जितेन्द्र के चरणों में पंच नमस्कार मंत्र को जपते हुए उसने समाधि से देहत्याग दिया।[38]

जैन अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म को विकसित करने के लिए जैनाचार्यों ने बुद्धिमत्तापूर्वक ऐसी नीति अपनायी जो जनता के प्रत्येक वर्ग के लिए उपादेय एवं कल्याणकारक थी। जैन धर्म ने एक ओर जहाँ शासक वर्ग को अपनी ओर आकर्षित किया वहीं दूसरी ओर मध्यम एवं निम्न वर्ग के लोगों, छोटे–छोटे व्यापारियों, कर्मकारों, सेवकों एवं स्त्रियों को भी प्रभावित किया। इन लोगों में जैन धर्म के विकास में स्त्रियों ने अभूतपूर्व योगदान दिया, चाहे वे उत्तर भारत की महिलाएँ हो या दक्षिण भारत की, चाहे वे शासक वर्ग से सम्बन्धित हो चाहे सामान्य नागरिक स्त्रियाँ हों। इन सभी स्त्रियों ने प्रचुर धनराशि से अनेक जैन मंदिर एवं मूर्तियों का निर्माण कराया, प्रतिमा निर्माण, स्थापना आदि कराया।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जिनसे इस तथ्य का पता चलता है कि जैन धर्म की उन्नति में महिलाओं का बहुत बड़ा योगदान था। उत्तर व दक्षिण भारत से प्राप्त अनेक ऐसे लेख हैं जिसमें स्त्रियों ने दान या प्रतिमा निर्माण के द्वारा जैन धर्म में श्रद्धा व्यक्त करते हुए इस धर्म के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बहुत बड़ी मात्रा में उत्तर भारत में स्त्रियों ने आयागपट्ट का दान या निर्माण कराया है जो जैन धर्म की पूजा में प्रयुक्त किए जाते थे। इसके अतिरिक्त भगवान अरिष्टनेमि, ऋषभदेव, शान्तिनाथ, भगवान वर्धमान, महावीर, अर्हनाथ की कई प्रतिमाओं का निर्माण तथा स्थापना कार्य भी इनके द्वारा किया गया। इन्होंने इन प्रतिमाओं का तथा सर्वतोभद्रिका प्रतिमा का दान भी किया, वेदी, पूजागृह, मंदिर, कुण्ड और पाषाणसन आदि भी बनवाये। दक्षिण भारत की स्त्रियों ने जिन मंदिर, पाषाण बसदि, मंदिर, तालाब, कुआँ बनवाया, जिनालय को सब करों से मुक्त कराया, मंदिरों की मरम्मत कराई। इसके अतिरिक्त अपने प्राणों का त्याग भी जैन विधि से किया।

पुरुषों की तुलना में इन स्त्रियों की धार्मिक आस्था कहीं अधिक थी जिसे उपर्युक्त अभिलेख प्रमाणित करते हैं। ये लेख स्त्रियों की उच्च सामाजिक स्थिति को दर्शाते हैं। स्त्रियों द्वारा किए गए उपर्युक्त सभी कार्य यह सिद्ध करते हैं कि इस धर्म को पल्लवित तथा विस्तृत करने में नारीवर्ग का अभूतपूर्व योगदान था जिससे जैन धर्म की जयगाथा चारों ओर प्रतिध्वनित हो सकी।

lUnHkZ

1. बोरदिया, हीराबाई; जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ, पृ0 5
2. विजयमूर्ति, जैन शिलालेख संग्रह, भाग–2, अभिलेख संख्या– 05, 09, 10, 12, 13 इत्यादि।
3. वहीं, भाग–02, अभिलेख सं0– 138, 139 इत्यादि।
4. जैन, हीरालाल, जैन शिलालेख संग्रह, भाग–4, अभिलेख संख्या– 150, 151, 167, 194, 195, 196 इत्यादि।
5. विजयमूर्ति, जैन शिलालेख संग्रह, भाग–2, अभिलेख संख्या– 06, 49, 80, 89 इत्यादि।
6. जैन, हीरालाल; जैन शिलालेख संग्रह, भाग–4, अभिलेख संख्या– 29, 39 आदि।
7. शास्त्री, हीरानंद; एपिग्राफिया इण्डिका, वाल्यूम 20, पृ0 72–75
8. विजयमूर्ति, जैन शिलालेख संग्रह, भाग–3, पृ0 02, 03
9. बोरदिया, हीराबाई; जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ, पृ0 06, 07– ये मुख्यतः जैन कथा ग्रंथों पर आधारित हैं।
10. वहीं, पृ0 6
11. वहीं, पृ0 6
12. जैसे– कलिंगराज खारवेल, शक–कुषाण, शान्तर वंश, गंग, होयसल आदि।
13. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ0 401–402
14. पं0 विजयमूर्ति, भाग–2, पूर्वोद्धृत, पृ0 14–15
15. वहीं, पृ0 15
16. वहीं, भाग–03, ये आयागपट्ट मांगलिक चिन्हों से अंकित करके किसी तीर्थंकर को चढ़ाये जाते थे, पृ0 10
17. वहीं, भाग–2, पृ0 16
18. वहीं, अभि0–14, पृ0 17
19. वहीं, अभि0–15, पृ0 17–18
20. वहीं, अभि0–16, पृ0 18
21. वहीं, अभि0–19, पृ0 19
22. वहीं, अभि0–22, पृ0 21
23. वहीं, भाग–03, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं में चारों ओर एक तीर्थंकर की मूर्ति बनी होती है। चौमुखी मूर्तियों में आदिनाथ, महावीर और सुपार्श्वनाथ अवश्य होते हैं। ऐसी मूर्तियाँ कुषाण और गुप्त काल में बहुत बनती थीं, पृ0 11
24. विजयमूर्ति, पूर्वोद्धृत, भाग–2, लेख–23 (पृ0 22), लेख 26 (पृ0 23–24), लेख 27 (पृ0 24), ले0 28 (पृ0 25)
25. वहीं, लेख 29 (पृ0 25–26), लेख 30 (26)
26. वहीं, ले0सं0 36, पृ0 30
    वहीं, ले0सं0 37, पृ0 30–31
    वहीं, ले0सं0 41, पृ0 33
27. वहीं, ले0सं0 44, पृ0 35
    वहीं, ले0सं0 52, पृ0 38–39
    वहीं, ले0सं0 56, पृ0 41–42
    वहीं, ले0सं0 58, पृ0 42–43
    वहीं, ले0सं0 88, पृ0 54
28. वहीं, भाग–2, अभि0 121, पृ0 109–115
29. वहीं, भाग–2, अभि0 145, पृ0 187–188
30. वहीं, भाग–2, अभि0 209, पृ0 266–271
31. वहीं, भाग–2, अभि0 213, पृ0 281–300
32. वहीं, भाग–2, अभि0 248, पृ0 365–373
33. वहीं, भाग–3, अभि0 253, पृ0 140

34. जैन, हीरालाल, भाग–1, पूर्वोद्धृत, अभि0 56 (132), पृ0 123–129
35. जैन, हीरालाल, पूर्वोद्धृत, अभि0 53 (143), पृ0 88–100, 62(131), पृ0 146–147
36. विजयमूर्ति, भाग–2, पूर्वोद्धृत, अभि0 293, पृ0 445–449
37. विजयमूर्ति, भाग–3, पूर्वोद्धृत, पृ0 144
38. वहीं, भाग–3, पृ0 144

****

djrh ckj&ckj Ágkj

f’kod|ekj ;kno*

मनुष्य होने का अर्थ संवेदनशील और सजल होने से है, जो किसी भावुकता के दायरे में नहीं बल्कि प्रतिबद्धता के रास्ते विकसित हुआ हो। भावुकता व्यक्ति को सजल नहीं दुर्बल बनाती है। मनुष्य होना दुर्बलता से मुक्ति है। यह मुक्ति वैज्ञानिक चेतना की बदौलत ही सम्भव है। आज भावुकता का घटाटोप रच कर एक अवैज्ञानिक और क्रूर सत्ता को लाने की तैयारी जोरों पर है। संस्कृत कर्मी, कवि, रचनाकार, इस दुनिया के सच को उजागर कर मनुष्य की स्वतंत्रता और उसकी मुक्ति का आख्यान रचता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की बहुचर्चित एवं बहुप्रसिद्ध कविता 'तोड़ती पत्थर', उसी आख्यान का एक ज्वलन्त दस्तावेज है जो 'सुधा' मासिक पत्रिका में 'मई, 1937' में प्रकाशित हुई तथा यह द्वितीय अनामिका (1938 ई0) में संकलित है।[1] निराला जी ने यह कविता उस समय लिखी जब हमारा देश गुलाम था सभी लोग चाहे वह दलित हो, स्त्री हो या आदिवासी हो दासता की जकड़ बंदियों में कैद थे। यह कविता अपने समय और समाज का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। जिसके माध्यम से हम स्वतन्त्रता पूर्व के भारत की स्थिति की समीक्षा कर सकते हैं। देश में और समाज में स्त्री की क्या दशा थी इसकी समीक्षा यह कविता करती है। वैसे भी स्त्रियों के शोषण की दासता बहुत पुरानी है। लेकिन आधुनिक काल में आकर उसका स्वरूप बदल जाता है।

कविता का प्रारम्भ ''वह तोड़ती पत्थर। देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर/वह तोड़ती पत्थर'' से होता है। इसके ठीक पहले निराला जी 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'सरोज' स्मृति जैसी लयबद्ध तथा छन्दबद्ध तथा तत्सम प्रधान शब्दावली में कविताएँ लिख चुके थे फिर क्या कारण है कि निराला जी ने इतनी सरल एवं अविधात्मक कविता लिखते हैं। यह प्रश्न विचारणीय है। असल में निराला जी बहुवस्तु स्पर्शिनी प्रतिभा के धनी कवि थे। वे हमेशा साहित्य में कुछ नया देने के लिए तत्पर रहते थे। दरअसल मूल कारण यह है कि निराला जी ने इस कविता में भाव के अनुसार ही भाषा का भी चयन किया है शायद इसीलिए यह कविता इतनी अविधात्मक बन गयी है। जो देखने में बिल्कुल साधारण एवं अविधात्मक लगती है लेकिन ध्यान से देखने पर इसमें अर्थ की अनेकानेक छवियाँ दिखाई पड़ती है।

कविता की पहली ही पंक्ति है 'वह तोड़ती पत्थर'। यह पंक्ति देखने में जितनी सरल है इसके गूढ़ में जाने पर उतनी ही गम्भीर भी है। 'पत्थर' अपने आप में अनेक अर्थ की छवियाँ लिए हमारे सामने उपस्थित होता है। वह 'पत्थर' कोई सामान्य पत्थर नहीं है जिसे वह स्त्री तोड़ रही है, यह एक ऐसा सामंती, पुरुषवर्चस्ववादी पत्थर है जो सदियों से स्षी का दमन–शोषण करता चला आ रहा है। वह स्त्री को एक वस्तु के रूप में स्वीकार करता है तथा उपयोग न होने की स्थिति में उसे झटक देता है। वह ऐसे ही सामंती पुरुषवर्चस्ववादी पत्थर को तोड़ रही है जो आज भी स्त्री को पत्थर तोड़ने के लिए मजबूर करता है।

कविता की दूसरी पंक्ति है 'देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर' कवि इलाहाबाद के स्थान पर कुछ और रख सकता था लेकिन ऐसा नहीं किया क्यों? शायद इसीलिए कि इलाहाबाद आज से

* शोध–छात्र, हिन्दी–विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

'लगभग 80 साल' पहले शिक्षा और बुद्धिजीवियों का केन्द्र हुआ करता था। जब यहाँ स्त्रीकी यह दशा है तो अन्य जगहों पर क्या दशा होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। फिर कविता की तीसरी पंक्ति है– ''वह तोड़ती पत्थर'' निराला जैसा अर्थगाम्भीर्य का कवि एक पंक्ति को दो बार कहे यह भी विचारणीय है। इसका मतलब निराला जी का 'वह तोड़ती पत्थर' अर्थात् उस शोषित स्त्री पर ज्यादा जोर है।

निराला श्रम के सौन्दर्य के कवि हैं। श्रम के सौन्दर्य का प्रतिपादन उनकी अनेक कविताओं का प्रमुख विषय है। अगले छन्द में वे कहते हैं ''कोई न छायादार/ पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार, /श्याम तन, भर बँधा यौवन,/नत नयन, प्रिय–कर्म–रत मन''[2], अर्थात् वह स्त्री ऐसे जगह पर बैठी है जहाँ कोई भी 'छायादार पेड़' नहीं है। 'छायादार पेड़' भी अपने आप में एक गहरी व्यंजना लिए हुए है अर्थात् वह स्त्री–पुरुषसत्ता के किसी रूप (चाहे पिता हो, भाई हो, पति हो या पुष हो) की छाया में नहीं है। इन सबकी छाया (छलछद्म) से दूर होकर वह सांवली स्त्री पूरे मनोयोग से सर झुकाकर विनम्र होकर उस पुरुषवर्चस्ववादी, सामंतवादी, शोषणकारी, दमनकारी पत्थर को तोड़ रही है।

सच्ची कला अभ्यस्तीकरण का निषेध करती है। निराला ने हिन्दी साहित्य में पहली बार स्त्री के श्याम सौन्दर्य को इतना महिमा–मण्डित किया गया है इसके पहले साहित्य में केवल कोमलांगी नायिकाओं का ही वर्णन किया जाता था। असल में निराला सौन्दर्य की परिभाषा को बदलना चाहते थे, जो काम ठीक उसी समय कथा साहित्य में मुंशी प्रेमचंद कर रहे थे, राजनीति में गाँधी जी कर रहे थे वही काम कविता में निराला कर रहे थे यह विचारणीय है। दूसरे दृष्टि से कहें तो यह कविता स्त्री के उस सौन्दर्य की कविता है जो उसे स्वावलंबी तथा स्वतंत्र होकर अपना जीवन कुशलतापूर्वक व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती है। यह कविता एक साथ अनेक अर्थों की अभिव्यंजना करती है। आगे कवि कहता है– गुरु हथौड़ा हाथ/करती बार–बार प्रहार/सामने तरु मालिका अट्टालिका प्राकार।[3] अर्थात् आजादी पहले ही भारत में पूँजीवाद का वर्चस्व कायम हो चुका था वह सांवली स्भी एक साथ पूँजीवाद, सामंतवाद की शोषणकारी नीतियों पर प्रहार करती है। उसके हाथ में कोई छोटा–मोटा यन्त्र नहीं है जिससे वह पुरुष वर्चस्ववादी पत्थर को तोड़ रही है उसके हाथ में भारी भरकम हथौड़ा है जिससे वह अपने शोषकों को कुचल रही है और आगे बढ़ रही है जिसका प्रभाव अब समाज के हर क्षेत्र में दिखने लगा है। कवि आगे कहता है– चढ़ रही थी धूप;/गर्मियों के दिन/दिवा का तमतमाता रूप;/उठी झुलसाती हुई लू,/रुई ज्यों जलती हुई भू,/गर्द चिनगीं छा गयीं,/प्रायः हुई दोपहरः–/वह तोड़ती पत्थर।''[4] अर्थात् स्त्री अस्मिता को दबाये रखने के लिए पुरुषों के तमाम प्रयासों, कुचक्रों को नकारते हुए सारे कष्टों को सहते हुए भी वह स्त्री अपने आन्दोलन (स्त्री विमर्श) को आगे बढ़ा रही है और स्त्री विमर्श का झण्डा बुलंद करते हुए कभी न रूकने के लिए प्रतिबद्ध है। कविताएँ जीवन के उज्ज्वल पक्षों के साथ ही सत्ता द्वारा निर्मित स्याह पक्ष को भी उसी मुखरता से प्रस्तुत करती है। 'तोड़ती पत्थर' कविता अपने अस्तित्त्व को बचाने के लिए संघर्षरत स्त्री की दास्तान है, जिसे बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति निगलने के लिए तैयार है। आगे कवि कहता है– ''देखते देखा मुझे तो एक बार/उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;/देखकर कोई नहीं,/देखा मुझे उस दृष्टि से/जो मार या रोयी नहीं,/सजा सहज सितार,/सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार/एक क्षण बाद वह काँपी सुघर,/ढुलक माथे से गिरे सीकर,/लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा–/'मैं तोड़ती पत्थर।[5]' जैसी पंक्तियाँ शुष्क होती संवेदना को तरल बना कर गहरी आत्मीय उमंग पैदा करती है। वह स्त्री एक बार सामंतवाद, पूँजीवाद के चमक–दमक और पुरुष के छल–छद्म स्वरूप की ओर आकर्षित होती है और अपने भाग्य पर तरस खाती है, लेकिन फिर उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह अपने कर्म में लीन हो जाती है इस संकल्प के साथ कि जब तक वह स्वावलंबी तथा आत्मनिर्भर होकर पुरुषों के बराबर नहीं हो जाएगी तब तक वह नहीं रुकेगी। अपना कर्म ईमानदारी से करते हुए सफलता के उत्कर्ष पर पहुँच कर ही रूकेगी जो आज लगभग सभी क्षेषों में दिख रहा है। वस्तुतः

यह कविता स्षी नवजागरण की कविता है। जब तक स्षियाँ स्वावलम्बी नहीं होंगी तब तक वे मुक्त नहीं हो सकती हैं यह कविता इसका प्रमाण है।''

lnHk %

1. निराला रचनावली, भाग–1, पृ0सं0 343, संपादक नन्द किशोर नवल
2. वहीं
3. वहीं
4. वहीं
5. वहीं

****

^;s vke jkLrk ugha* miU;kl esa L=h ,oa jktuhfrd ;FkkFkZ

Hkxorh nsoh*

रजनी गुप्त द्वारा कृत 'ये आम रास्ता नहीं' उपन्यास स्त्री की महत्त्वकांक्षा की कहानी पर आधारित है। राजनीति के चक्रव्यूह में स्त्री केन्द्रित यह उपन्यास राजनीति की चकाचौंध का यथार्थपरक विश्लेषण करता है। उपन्यास में राजनीति को एक ऐसे रंगमंच के रूप में स्थापित किया है कि जिस पर हर कोई पूरी ताकत से अभिनय करना चाहता है अधिकतर इस मंच पर अभिनयकारी स्वार्थ का मुखौटा चढ़ाए मिलेंगे और बहुत कम ऐसे होंगे जो निस्वार्थ होंगे। इस रंगमंच पर स्त्री को सम्पूर्ण अधिकार तो प्राप्त है अभिनय करने का, परन्तु यहाँ स्त्री की कामयाबी का झण्डा पुरुष की तुलना में आसानी से नहीं लहराता। दूर से राजनीतिक चमक को देखकर आम जन सलाम करते हुए झुकते हैं परन्तु भीतर की सच्चाई की कहानी कुछ और ही है जिसका पर्दाफाश करता है 'ये आम रास्ता नहीं'। उपन्यास सटीक ढंग से स्पष्ट करता है कि राजनीतिक क्षेत्र में कौन–सी स्त्री अधिक टिक पाती और कौन–सी नहीं। आम निष्ठावान स्त्रियाँ यदि इस क्षेत्र में कदम रखती हैं तो उन्हें राजनीति की स्त्री विरोधी स्थितियों से गुजरना पड़ता है। उपन्यास का शीर्षक 'ये आम रास्ता नहीं' एकदम सटीक बैठता है वास्तव में स्त्री के लिए यह आम रास्ता है भी नहीं। इस क्षेत्र में ऊँचा स्थान पाना है तो आपके पास राजनीति में गॉड फादर या राजनीतिक पृष्ठभूमि का होना आवश्यक है। दैहिक समझौते भी भारतीय राजनीति में एक भूमिका निभाते हैं! हाँ, यदि आपके नैतिक मूल्य दैहिक समझौता करने के पक्षधर नहीं हैं तब आपको मृदु की तरह कदम वापिस लेने पड़ेंगे या फिर आप वहीं बैठेंगी यहाँ आपको बिठाया जाएगा खोये हुए अस्तित्व के साथ।

उपन्यास मृदु के स्वप्न के माध्यम से राजनीतिक क्षेत्र में स्त्री की असुरक्षा के यथार्थ को उभारने का सफल प्रयास करता है। ''दूर दूर तक फैली हुई फूलों की घाटी। घाटी के बीचोबीच एक भव्य महल। महल के मध्यकक्ष में बड़ा–सा सिंहासन। सिंहासन पर बैठी हुई मृदु ने सोचा, अगर ये सिंह सचमुच के सिंह होते तो...? उसका सोचना भर था कि धातु के नक्काशी वाले वे सिंह सचमुच गुर्राते हुए उस पर झपट पड़े।...'' यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि मृदु आज़ाद होते हुए भी आज़ाद नहीं है। असुरक्षा का भय निरन्तर घेरे रहता है कि यही सुरक्षाकर्मी कब मौका पाकर भक्षक बन जाएगें। वह एक तरफ राजनीतिज्ञों की कूटनीति व लंपटता की शिकार होती और दूसरी तरफ स्वप्न में भी उनका दबाब बरकरार रहता है। यह दबाब से परिपूर्ण कहानी केवल मृदु के जीवन से ही सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि प्रत्येक राजनीतिक स्त्री की कहानी का प्रतिनिधित्व करती है।

प्रदेश अध्यक्ष (उपन्यास का पात्र है) उन राजनीतिक पुरुषों का प्रतीक है, जो निरन्तर सामन्ती मानसिकता को ढोते आ रहे हैं। लेखिका प्रदेश अध्यक्ष के माध्यम से राजनीतिज्ञों की नग्नता का खुला बखान करवाती है। नशे में धुत प्रदेश अध्यक्ष मृदु के समक्ष राजनीतिक पुरुषों के कई कच्चे चिट्ठे खोलता है। उपन्यास में राजनीतिक पुरुषतंत्र द्वारा स्पष्ट झलकता है कि राजनीति में आई स्त्रियों को कोई खास महत्त्व नहीं दिया जाता। कई बार स्त्रियों के प्रति ऐसा व्यवहार रहता है जैसे स्त्रियों का कोई अस्तित्व ही न हो। स्त्री द्वारा दी गई कई सलाहों को धुएं की तरह उड़ा दिया जाता है। इस

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय ।

विषय पर प्रदेश अध्यक्ष का कहना है कि ''कौन कहता है, राजनीति में आने वाले औरतें दिमाग की तेज होती हैं? किसने कहा तुमसे ये सब? किसी न किसी बड़े नेता की सरपरस्ती में जीती जागती ताकत की कठपुतली भर बनकर रह जाती हैं वे तो...।'' पितृसत्तात्मक मानसिकता से परिपूर्ण प्रदेश अध्यक्ष अहं की जो भाषा बोलता है वह आज की देन नहीं है इसका इतिहास वर्षों पुराना है, जिसे आज तक पुरुष ने अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए निरन्तर पीढ़ी–दर–पीढ़ी ढोया है। इस मानसिकता ने केवल स्त्री को आज तक शून्य के गर्त में धकेला है।

राजनीतिक दाँव–पेंचों में व्यक्ति–व्यक्ति का विकास खोता चला गया है और यहाँ दाँव–पेंचों का रूप सबसे बेरहम एवं हिंसात्मक देखने को मिलता है। एक–दूसरे को प्रयोग करने की प्रथा बहुत तेजी से चलती आ रही है जिसमें अच्छी तरह पीसी जा रही है स्त्री। उसे प्रयोग करने की सारी प्रक्रिया के लिए सिद्धहस्त हैं सत्ताधारी राजनीतिक पुरुष। वह जानते हैं कि किस स्त्री को किस तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। प्रदेश अध्यक्ष का इस सन्दर्भ में कहना है कि ''सच तो यह है कि उनका भाषण सुनने की दिलचस्पी किसी में नहीं होती, मैडम। सबके सब उनके दीदार करने खिंचे चले आते हैं... कोई भी औरत, खास तौर पर राजनेत्री अगर सुन्दर हो तो क्या कहने? फिर तो सोने पै सुहागा।'' ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र में स्त्री अपनी जड़ें नहीं जमा सकती। वह अपनी जड़ों को खूब गहराई तक ले जा सकती है किन्तु इसकी सफलता के लिए प्रदेश अध्यक्ष का कहना है कि ''यहाँ आयीं ज्यादातर औरतें या तो अपने पॉलिटिकल बैकग्राउंड की वजह से सालों से जमी हैं या किसी–न–किसी नेता के झोले में पड़े खूबसूरत गुलदस्ते की तरह सजी धजी घूमती फिरती हैं और फिर इन्हें भी किस कदर बैकफुट पर धकियाने में जुटे रहते हैं नेता लोग।'' राजनीति में अपनी जगह बनानी है तो उनके लिए बैकग्राउंड का होना बहुंत जरूरी है। परन्तु जिन स्त्रियों की कोई राजनीतिक पृष्ठभूमि नहीं होती वे राजनीतिक रुतबा पाने हेतु आमतौर पर शॉर्टकट रास्ता चुनती हैं। वर्तमान समय में स्त्री विमर्श जोरों पर चल रहा है। उत्पीड़ित स्त्रियों के अधिकारों की बात करते हुए 'मनुष्यत्व' के प्रश्न को ज़ोरों से उठा रहा है। मगर स्त्री सुधार का ठेका केवल विमर्शकारों व आन्दोलनकारियों ने ही नहीं उठाया है, बल्कि इस आन्दोलन को व्यवहारिक रूप देने के लिए स्त्रियों एवं स्वच्छ मानसिकता वाले पुरुषों को एकजुट होकर पितृसत्ता को कड़ा जबाब देना होगा। किन्तु समस्या यह उभरती है कि कुछ स्त्रियाँ आगे बढ़ने की होड़ में शॉर्टकट रास्ता अपना लेती हैं, जिससे स्त्री विमर्श व्यवहारिक रूप लेने से कमज़ोर पड़ता है।

राजनेत्री रत्ना कई सालों के ग्रहण किए गए अनुभवों से वह अपने विचार कुछ इस तरह से रखती है ''राजनीति में अगर आपकी जड़ें बहुत गहरी नहीं हैं, आप शक्तिहीन हैं या आपका व्यक्तित्व निष्प्रभ है तो फिर राजनीति में सुप्रीमपावर द्वारा आपको सीधे–सीधे बिस्तर पर खींच लिया जाएगा।.. यानि अपने मकसद तक पहुँचने के लिए आपके सामने दो ही रास्ते हैं– या तो आपके पास खूब सारा पैसा हो या फिर आपको अपनी सुन्दरता का इस्तेमाल करना आता हो समझीं?'' अखिल भारतीय कमेटी लेवल पर स्टेट का प्रतिनिधित्व करने वाली राजनेत्री रत्ना उन तमाम स्त्रियों को रिपरेजंट करती है जो अपनी देह को बलि चढ़ाकर समाज की भलाई की बात करती हैं। जिस स्थान पर रत्ना ने बुमेंस ट्रेनिंग सेंटर खोला है उसकी ज़मीन मुख्यमन्त्री की मेहरबानी से प्राप्त हुई है। उनका कहना है कि ''हमें एक बार नहीं बल्कि कई बार इसकी कीमत चुकानी पड़ती है। तब हमारे पास दो ही विकल्प थे– या तो इसे पूरी तरह छोड़कर घर लौट जाऊँ या फिर यहाँ के भेड़ियों से निपटने के लिए कुछेक के साथ कंप्रोमाइज करूँ। अपने क्षेत्र के विकास की खातिर मैंने दूसरा रास्ता चुना।'' सोचने की बात यह है कि समाज के विकास की खातिर ऐसी कौन–सी नैतिकता है जिसमें आप अपने अस्तित्व को दांव पर लगाओ। इस तरह की समझौतापरस्त स्त्रियों द्वारा पुरुषतंत्र को और अधिक बढ़ावा मिला है। सच्ची प्रगतिशील एवं स्वावलम्बी स्त्री, राजनेत्री रत्ना द्वारा लिए निर्णय के पक्ष में कभी खड़ी नहीं होती। वह स्त्री केवल अपनी क्षमता एवं दमखम से ही अपने अस्तित्व को स्थापित करती है। राजनीतिक क्षेत्र में मृदु एक दबंग स्त्री के रूप में उभरी है वह रसिक पुरुषों में रहते हुए कहीं भी उनसे समझौता नहीं

करती। वह एक सशक्त स्त्री के रूप में उभरती है जिसे पितृसत्ता के समक्ष झुकना नागवार लगता है। इस विषय के सम्बन्ध में मृदु का कहना है कि ''यहाँ इतनी आज़ादी तो जरूर ले ली थी मैंने कि जिसे मैं कतई पसन्द नहीं करती थी, वे रास्ते कभी नहीं आये। चुनने की स्वतंत्रता तो थी कि कब किसके साथ कहाँ कितनी दूर तक जाना है? यदि मैं न चाहू तो कोई मेरे पास जबरदस्ती नहीं कर सकता था।'' स्पष्ट होता है कि मृदु उस आधुनिक स्त्री का प्रतीक है जो पुरुष सत्ता की गुलाम नहीं है।

निष्ठावान मृदु समाज के लिए कुछ बेहतर करना चाहती किन्तु जल्दी ही वह राजनीति की खोखले ढकोसलेबाजी से परिचित हो जाती है। पाँच साल तक इस क्षेत्र में कार्य करने के उपरान्त उसे केवल वही पुरुष मिलते हैं, जो केवल स्त्री को भोग की वस्तु समझते रहे। मृदु के चरित्र में कहीं भी स्वार्थ की जड़े पनपती हुई नहीं दिखती हैं। यह बात सच है कि उसे समाज में सुधार लाने के लिए राजनीति की गद्दी का मोह था या यूँ कहे कि कुछ कर गुज़रने के लिए राजनीति उसे बेहतर रास्ता लगता था। लेकिन मृदु को इतना भी राजनीति का मोह नहीं था कि वह अपनी देह को दांव पर लगाती। मृदु की बैकग्राउंड मजबूत न होने तथा राजनीति क्षेत्र में समझौता परस्त न होने के कारण उसे विफलता हासिल होती है। ऐसे में भी वह अपना मनोबल टूटने नहीं देती। अन्ततः वह एक स्वयंसेवी संस्था से जुड़कर जीवन यापन करती है। मृदु की विफलता की कहानी ही उसके सशक्तिकरण की कहानी है। किसी भी सामाजिक कार्य को बेहतर अंजाम तक पहुँचाने के लिए अपने अस्तित्व की रक्षा आवश्यक है तथा उपन्यास की पात्र मृदु किसी अच्छे कार्य को सम्पूर्ण करने के लिए अपनी देह को कुर्बान नहीं करती। यही उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है।

मृदु के समक्ष राजनीतिज्ञों का कुत्सित चेहरा उस दिन सामने आता है जब वह नौकरी की तलाश में विधायक के पास जाती है। उस दिन वह हवशी विधायक की लपंटता का शिकार होने से बाल–बाल बचती है। इसी दिन जाना था मृदु ने राजनीति का असली चेहरा जब लार टपकाते हुए विधायक ने कहा कि ''क्या गजब ढा रही हैं आप तो... जैसा हम चाहें, वैसा कर पाओगी तुम?... कितनी सुन्दर तो आँखें हैं तुम्हारी, बिल्कुल नयनतारा नाम होना चाहिए तुम्हारा तो।... मैडम, तेरे जैसी तमाम औरतों के खाने–रहने का इन्तजाम किया जाता है हमारे यहाँ, मगर कुछ मेरी खातिरकारी की भी तो सोच। मुझे खुश कर दे बस।... समझी? जो कहेगी, सो करूँगा तेरे वास्ते।'' स्त्री को भोग की वस्तु समझने की धारणा सदियों से चलती आ रही है। आज के समय में स्त्री को एक वस्तु के रूप में समझना नया विषय नहीं है लेकिन हाँ भूमण्डलीकरण के दौर में इसे और बढ़ावा मिला जरूर है। पितृसत्ता ने भूमण्डलीकरण का मुखौटा चढ़ाकर नये तरीके से स्त्रियों को गुलाम बनाना आरम्भ किया है। इस दृष्टि से महाभारत का उदाहरण अत्यन्त सटीक है। राजनीति के कुचक्र में द्रोपदी के अस्तित्व को तार–तार कर उसे एक वस्तु की तरह दांव पर लगाकर घिनोनी राजनीति खेली जाती है। महाभारत ही नहीं, बल्कि आज तक राजनीति में अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए कई स्त्रियों को हथियार रूप में प्रयोग किया जाता है। ''सचमुच! सुन्दर होना यहाँ अभिशाप बन जाता है। पहले तो बे उसकी सुन्दरता के कसीदे काढ़ेंगे, आँखों की, रूप रंग की, चाल चुस्ती की, यहाँ तक कि उसकी काबिलियत की झूठमूठ तारीफें करेंगे मगर हस्तगत होते ही सारी की सारी काबिलियत एक कोने में धरी रह जाएगी फिर तो वह मुत का माल बन जाती है।'' निष्ठावान मृदु जैसी स्त्रियाँ इस क्षेत्र में कदम रखकर समाज को बेहतर बनाने की इच्छुक है, किन्तु पुरुष की ऐसी नकारात्मक मानसिकता के चलते स्त्रियाँ समझौता न करते हुए घर की तरफ कदम मोड़ने के लिए विवश हो जाती हैं। यह उपन्यास राजनीति में स्त्रियों की स्थिति जानने के लिए आइने का काम करता है इसे पढ़कर स्त्रियाँ भविष्य में हो सकने वाली त्रासदी से परिचय प्राप्त कर सकती हैं।

राजनीति स्वार्थ नीति का पर्याय है यहाँ हर व्यक्ति इसी दौड़ में रहता कि किसी से कैसे और कब फायदा लिया जा सकता है। कई बार पुरुष अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए स्त्री को सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल करते हैं। उदाहरण स्वरूप गजेन्द्र का चरित्र। गजेन्द्र मृदु को अपने करीब खींचने का हर सम्भव प्रयास करता है। कभी प्रेम से फुसलाने की कोशिश करता तो कभी बस न चले तो गुमराह

करके। गजेन्द्र जैसे चेहरों से कई बार मृदु को टकराना पड़ता। उसे हर दिन कोई–न–कोई फोन ऐसा आया ही रहता जिसमें उझे कई राजनीतिज्ञों द्वारा धमकाया जाता। ''सीधे–सीधे आ जाओ मेरे पहलू में वरना पति से तलाक करवाकर ही छोड़ेंगे। तुम्हारी ऐसी–ऐसी तस्वीरें कम्पूयटर पर दर्ज हैं कि जब तुम देखोगी तो होश उड़ जाएँगे। जब तुम गँजू, सुकेश साहनी के साथ सो सकती हो, तो मुझमें क्या कमी है? बोलो?'' इससे स्पष्ट होता है कि राजनीतिज्ञ अपने सुख सन्तुष्टि के लिए कोई भी रेखा पार कर सकते हैं। किन्तु स्त्रियाँ ऐसी मानसिकता वालों से भयभीत रहती है कि कब एवं किस स्त्री पर पुरुष प्रसन्न हो जाएं। राजनीतिज्ञ स्वार्थ पूर्ति हेतु स्त्रियों के पारिवारिक सम्बन्धों को तोड़ने के लिए भी भय पैदा करने लगते हैं जैसे कि उपन्यास में गँजू के विचार दृष्टिव्य हैं ''ऐसा है मैडम, कि मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा। सोचना आपको है, कि क्या करना है?... अब आपकी बेहतरी इसी में है कि जैसा हमारे बीच चल रहा है, चलने दें वरना आपके लिए नयी मुसीबतें खड़ी हो जाएगी।... आपके पति पुंज साहब वैसे भी हमारे पुराने दोस्त हैं सो उनका भला सोचना मेरा नैतिक फर्ज है।'' इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि मृदु जैसी सपना देखने वाली स्त्री का आज स्वयं अपना ही अस्तित्व संकट में पड़ा हुआ है। पढ़ी–लिखी एवं अपने अधिकारों से परिचित मृदु के हालातों को देखकर इस क्षेत्र से जुड़ी दूसरी स्त्रियों की स्थिति के बारे में अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। इस घटाटोप अन्धेरे में मृदु को एक तरफ राजनीति से उभरी व्यक्तिगत समस्याओं से जूझना पड़ता वहीं दूसरी ओर घर पर कदम रखते ही परिवार की तीखी नज़रों का शिकार होना पड़ता है। इस कड़े संघर्ष में मृदु अपना मनोबल कहीं भी टूटने नहीं देती।

उपन्यास पढ़ने के उपरान्त प्रतीत होता है कि राजनीतिज्ञों का हृदय संवदेनहीन है। राजनीति में कदम रखने से पूर्व मानों वह अपने भावों को दफन करके आते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण उपन्यास में आए कुँजू केस का राजनीतिकरण है। हालांकि इन सभी राजनीतिज्ञों का कुँजू पर संवेदनपरक हाथ होना चाहिए था बजाए स्वार्थ के। कुँजू उन स्त्रियों एवं नाबालिगों का यथार्थ प्रस्तुत करती है जो हर रोज़ शोषित होती हैं, साथ ही उन्हें राजनीति की मार झेलनी पड़ती है। बल्तकृत कुँजू के साथ सम्पूर्ण समाज की संवेदना जुड़ी थी, इसी बीच राजनीतिज्ञों ने भी अपना फायदा निकालना चाहा। पार्टी के सदस्यों ने कुँजू परिवार को लालच के जाल में फाँसने का हर सम्भव दांव खेला तथा जीत भी हासिल की। ''कल नेशनल डेमयोक्रेटिक पार्टी वाले लोग आये थे, तू इतनी बोल्ड है, तेरे जैसी लड़की को तो पार्टी में होना चाहिए।'' राजनीति के दांवपेचों से अनभिज्ञ कुँजू परिवार आखिरकार राजनीति का शिकार होने से नहीं बच पाता। कुँजू के राजनीति में कदम रखते ही राजनीति की कुरूपता उससे छुप नहीं सकी। राजनीतिज्ञों की कूटनीतिक चालों का समाना न कर पाने के कारण अन्ततः वह इस क्षेत्र से पलायन कर नक्सलवादी पार्टी में प्रवेश करती है। कुँजू सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि राजनीति के रास्तों का सफर तय करना आम स्त्री के लिए बहुत कठिन है।

आरक्षण से स्त्री मुक्ति तय की जा सकती है? क्या आरक्षण प्राप्त करने के बाबजूद भी स्त्रियों का शारीरिक एवं मानसिक शोषण नहीं हो रहा? ऐसा क्या कारण हो सकता है कि स्त्रियों को अधिकार प्राप्त होने के बाबजूद भी वह उनका उपयोग अच्छी तरह से नहीं करती? और जो स्त्रियाँ इस क्षेत्र में कदम रखती भी हैं तो उनकी स्थिति भी उपन्यास में छुपी नहीं है। उपन्यास पंचायत की प्रमुख अधिकारी के माध्यम से इस क्षेत्र में कार्यान्वित स्त्रियों की पोल खोलता है। मृदु पंचायत प्रमुख अधिकारी बीना यादव के पास गरीब बच्ची को दाखिला दिलाने हेतु कुछ पैसों की मदद माँगने जाती है लेकिन बीना यादव अपने विचार कुछ इस तरह से व्यक्त करती है कि ''ऐसा है बहन पति से पूछे वगैर तो हम एक पैसा तक नहीं दे सकते। न, कुछ लिखकर या साइन करके देने से मना किये हैं वे।'' प्रमुख पंचायत अधिकारी बीना यादव के विचार मृदु को छलनी करते हैं वह अवाक् व स्तब्ध रह जाती है। आज भी स्थिति कुछ बदली नहीं। अब भी स्त्री किसी–न–किसी तरीके से पुरुष पर निर्भर है। उसे पदवी तो मिली है किन्तु पुरुषतन्त्र हाथों ने अभी भी जकड़ा हुआ है। मृदु पंचायत में स्त्रियों की स्थिति को कुछ इस तरह व्यक्त करती है कि ''वैसे मानवती सिंह थोड़ी पढ़ी लिखी हैं मगर करती धरती वे

भी कुछ नहीं। पंचायत सदस्यों के साथ रंग विरंगी साड़ियाँ लहराती बैठकों में भाग लेने पति के साथ आती जाती, लेकिन जहाँ भी नीतिगत फैसला लेना पड़े, वहाँ पूँछ दबाये बिल्ली की तरह चुपचाप खिसक लेती।'' पितृसत्ता ने स्त्रियों को धर्मांध के कुएँ में ढकेलकर उनकी सोचने की शक्ति को छीनने का कार्य किया है। आज तक पुरुषतंत्र ने आदर्श बेटी, आदर्श माता, आदर्श पत्नी इत्यादि कहकर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटाने का प्रयास किया है और इसमें कोई दो राय नहीं है कि कानूनी आजादी के तहत कुछ स्त्रियों को छोड़कर वह बेचारी आदर्श का यह लेबल लेकर जी रही है। बीना यादव जैसी तमाम स्त्रियाँ भ्रम में जीती हैं कि वह स्वतन्त्र हैं। स्त्रियाँ पढ़ी–लिखी, नौकरीपेशा करने के उपरान्त भी गुलामी से उभर नहीं पा रहीं। जब तक स्त्रियाँ अपने आप को इस सोच से मुक्त नहीं करेंगी तब तक वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण नहीं कर सकतीं।

आलोच्य उपन्यास राजनीति में स्त्री के संघर्षमयी जीवन की गाथा को अभिव्यक्त करते हुए प्रकाश डालता है कि सामन्ती पुरुषों की इस क्षेत्र में पैठ बहुत जबरदस्त है। इन राजनीतिक पुरुषों के खेल में स्त्रियों का जीतना आसान नहीं है। 'ये आम रास्ता नहीं' से स्पष्ट होता है कि कहाँ है स्त्री की मुक्ति। स्त्री मुक्ति की बात की भी जाए तो मृदु की राजनीतिक जीवन यात्रा गवाह है स्त्री मुक्ति की। स्त्री मुक्ति से सम्बन्धित तमाम कानून बने हैं किन्तु व्यवहारिक रूप में देखा जाए तो हवा में टंगी है स्त्री मुक्ति। वर्तमान समय में स्त्री (पितृसत्तात्मक) समाज द्वारा निर्धारित तमाम जकड़बंदियों को तोड़ रही है। 21वीं सदी में स्त्रियाँ राजनैतिक क्षेत्र में कदम तेजी से बढ़ाने के लिए प्रयासरत हैं। उपन्यास पढ़ने के उपरान्त पाठक के समक्ष राजनीति में स्त्री की आन्तरिक असुरक्षा छुपती नहीं है। 'ये आम रास्ता नहीं' उपन्यास समसामियक समय में लिखा गया है जहाँ स्त्री का व्यक्तित्व पर्याप्त विकसित होता हुआ दिखाई दे रहा है, किन्तु स्थिति ऐसी है कि समाज का बहुत बड़ा स्त्री वर्ग अभी शोषण से मुक्त नहीं है। स्त्री सशक्तिकरण के इस दौर में माना जा रहा है कि स्त्री एवं पुरुष की योग्यता एवं क्षमता बराबरी के स्तर पर है लेखिका ने इस उपन्यास के माध्यम से राजनीतिक क्षेत्र में स्त्री एवं पुरुष की बराबरी का स्तर स्पष्ट कर दिया है। अभी भी समाज खुले दिल से स्त्री के राजनीति प्रवेश का स्वागत नहीं कर सका है। स्त्रियों को असुरक्षा के भय से उभरना है एवं बराबरी का स्थान प्राप्त करना है तो प्रत्येक स्त्री को चाहे वो बैकग्राउंड वाली हो, चाहे समझौतापरस्त हो, चाहे आम स्त्री इत्यादि हो, पुरुषों के समक्ष अपने अस्तित्व के प्रति सजग रहना होगा तथा अपने लिए गए निर्णयों पर अटल रहना होगा। स्त्री मुक्ति के इस संघर्षमयी यात्रा में स्वच्छ मानसिकता वाले पुरुषों का साथ मिलता है तो उन्हें इस यात्रा का हिस्सा बनाने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रस्तुत उपन्यास स्त्री को अपनी स्थिति पर सोचने के लिए विवश करता है यह समाज का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण भी दर्शाता है।

lanHk %

1. रजनी गुप्त, ये आम रास्ता नहीं, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ. 7
2. वहीं, पृ. 9
3. वहीं, पृ. 9
4. वहीं, पृ. 9
5. वहीं, पृ. 25
6. वहीं, पृ. 28
7. वहीं, पृ. 29
8. वहीं, पृ. 101
9. वहीं, पृ. 26
10. वहीं, पृ. 123
11. वहीं, पृ. 38
12. वहीं, पृ. 143
13. वहीं, पृ. 120
14. वहीं, पृ. 121

****

L=h foe'k dh Økfrdkjh dof;=h % ehjk

jkthó ekgu*

भारतीय चेतना का दृष्टिकोण प्रधान रूप से आध्यात्मिक रहा है, भक्ति तत्व उसका मूल है, हिंदी साहित्य इस मूल दृष्टिकोण से अलग नहीं रह सकता, इसलिए हिंदी साहित्य के मध्य काल में भक्ति की जो लहर चली वह एक आंदोलन के रूप में आगे बढ़ी। भक्ति कालीन आंदोलन में मीराबाई स्त्री चेतना की अग्रदूत कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध हैं। मीरा के पदों में प्रेम की पराकाष्ठा मिलती है। उन्होंने विरह और मिलन की गहन अनुभूतियों को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है।

मीरा ने श्रीकृष्ण को अपने एकमात्र प्रेमी, परमप्रिय पति रूप में देखा। वह अपने प्रियतम के मनोहारी रूप को देखकर खो सी जाती हैं। उनकी आँखों में एकमात्र श्रीकृष्ण की मनोहारी छवि ही रहती है। यथा –

बस्याँ म्हारे णेणण में नन्दलाल
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहाँ भाल।
मोहन मूरत साँवराँ सूरत णेणा बस्याँ विशाल
अधर सुधारस मुरली राजाँ उर बैजन्ती माल।
मीरा प्रभु संताँ सुख दास्याँ, भक्त बछल गोपाल।।[1]

मीरा ने अपने जीवन संघर्ष के पथ पर जो शस्त्र अपने हाथ में उठाया वह कोई और नहीं, उनके बचपन के सखा, और आराध्य गोविन्द गोपाल ही थे। समाज से लड़ने के लिए भक्ति भी शक्ति प्रदान करती है, इसका सर्वोत्तम उदाहरण मीरा हैं।

पुरुष प्रधान सामंती समाज में जहाँ स्त्री केवल भोग लिप्सा भरी दृश्टि से केवल मनोरंजन का साधन मात्र समझी जाती है, वहाँ मीरा ने गिरधर नागर को अपना ऐसा सुरक्षा कवच बनाया जिसके आगे पूरी राजसत्ता ही असहाय हो गई। कृष्ण रूपी ढाल और तलवार, यही है मीरा के जीवन संग्राम की मूल आत्मा जो मीरा के बहाने भारतवर्ष के इतिहास में नारी मुक्ति संग्राम के आरम्भ की उद्घोषणा करवाती है। यथा –

एरी, मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोना होय।।
दरद की मारी बन–बन डोलूँ, बैद न मिल्या कोय।
मीरा की तब पीर मिटैगी, जब बैद साँवलिया होय।।[2]

वर्तमान समय में विज्ञापन की दुनिया ने नारी को भी एक उत्पाद बना दिया है, जहाँ उसकी देह के दायरे में सारी वस्तुओं के भाव तय हो रहे हैं। आज नारी देह का प्रदर्शन पैसा बटोरने की अनिवार्य शर्त बन गई है। नारी और बाजार के इस संबंध पर टिप्पड़ी करते हुए मृणाल पाण्डेय ने लिखा है –

''दुनिया भर के बाजार उपभोक्ताओं की माँग से बनते हैं। हमारे यहाँ इस वक्त बाजार ही उपभोक्ताओं की माँग को नियमित करने लगा है। क्या हम यह होने देंगे?[3]

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (221005)।

नारी व्यथा से जुड़े इस प्रश्न का उत्तर उसकी बेबसी और लाचारी में उलझा है। यह दशा आज उस नारी की है जिसके अपने अधिकारों की लड़ाई चरम पर पहुँचती दिख रही है, परन्तु यह देखना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि नारी मुक्ति से जुड़े इन प्रश्नों के धरातल पर मीरा के काव्य की प्रासंगिकता क्या है?

आज की नारी और मीराबाई के बीच लगभग चार सौ वर्षों का अन्तराल है। इस लम्बे अन्तराल में दुनिया में वैज्ञानिक और तकनीकी रूप से बहुत बदलाव हुआ है, किन्तु इस विकास की प्रक्रिया में भी स्त्री को लेकर पुरुष मानसिकता में कुछ खास परिवर्तन नहीं हुआ है। मीरा का परिवेश सामंती था। आज की नारी का परिवेश प्रजातांत्रिक है, सारे विकास के बावजूद इसके पारिवारिक रिश्तों माता–पिता, भाई–बहन, सास–ससुर, ननद–भौजाई, प्रेमी–प्रेमिका, पति–पत्नी आदि की बुनियाद वही है जो सामंती भारत में थी। सामंती भारत में जो स्त्री के अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये गये थे, लगभग वही अधिकार और कर्तव्य आज प्रजातांत्रिक भारत में भी स्त्री के प्रति समाज ने लागू कर रखे हैं। जो थोड़ा बहुत बदलाव दिखता भी है, वह है शिक्षा के विकास के कारण। कन्या को आज भी पराया धन ही समझा जाता है। बहू के लिए आज भी ससुराल में वही बंदिशें हैं, जो गुजरे जमाने में थी। इस लिहाज से मीरा आज सबसे ज्यादा प्रासंगिक हैं।

आज तो कन्या के विवाह की माथा–पच्ची करते–करते अभिभावकों की कमर टूट जाती है और कन्या ससुराल के सुख की स्वप्निल कल्पना में डूबती उतराती अपने माता–पिता की कठिनाई देखते–देखते खुद को बोझ समझने की मानसिकता पाल बैठती है। आज के इस युग में अच्छे वर की खोज और विवाह कन्या के सामने सबसे अहम प्रश्न बनकर खड़ा है। आज कन्या किसी को प्रेम करती है और चाहती है, किन्तु मीरा के समय में किसी को चाहना, प्रेम करना आकाश के तारे तोड़ने के समान था। मीरा प्रेम दीवानी थी, इसमें कोई शक नहीं, पर उसके इस प्रेम की परवाह उसके अभिभावकों द्वारा नहीं की गई। अपने प्रेम को समाज के सामने स्वीकारने वाली मीरा सामंती युग की पहली नारी है यह भी तय है। मीरा का विवाह तो जबरन किया गया किन्तु मीरा ने उस विवाह को मानने से इनकार कर दिया। आज यदि कन्याओं का जबरन विवाह कर दिया जाता है तो नब्बे प्रतिशत लड़कियाँ समझौता कर उस विवाह को ही स्वीकार कर लेती हैं, किन्तु मीरा ने लोक लाज को ठुकराकर चार सौ साल पहले ही उसे अस्वीकार कर दिया था।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि ''मीरा ने जब अपनी कथा कही तब उन्होंने केवल अपनी ही व्यथा नहीं कही, अपने युग की असंख्य नारियों की, दुःखीजनों की व्यथा कही।''

मीरा को अपने मनोहर से अनन्य प्रेम है –

'' मीरा के प्रभु ष्याम मनोहर, प्रेम पियारा मीत।''

मीरा ने समाज के सामने प्रेम का उच्चादर्श रखा। मीराबाई का मानना था कि भारत की संस्कृति का आधार समाज में कटुता नहीं अपितु प्रेम की स्वीकृति है। कटुता संबंधों को तोड़ने का काम करता है और प्रेम जोड़ने का। मीरा ने अपने आँसुओं से सींच–सींच कर प्रेम बेलि बोई है। मीरा कहती है कि मुझे बदनामी मीठी लगती है, चाहे कोई निंदा करे, चाहे स्तुति, मैं तो अपनी अनूठी चाल ही चलूँगी –

''राणा जी म्हाने या बदनामी लागे मीठी।
कोई निंदो कोई बिंदो मैं चलूँगी चाल अनूठी।।''

अर्थात् मैं अपनी साधना में सदैव लीन रहूँगी। प्रेम दीवानी मीरा कहीं भी किसी के साथ बैठकर भजन करने के लिए तैयार रहती थीं। कृष्ण को पाने के लिए वह अपने जान की भी परवाह नहीं करती थीं। मीराबाई के विशय में नाभादास ने भक्तमाल में लिखा है – ''सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलि जुगहिं दिखायो।''

आज जबकि समाज शिक्षित है किन्तु स्त्रियों में जात–पात, ऊँच–नीच का भेद–भाव जस का तस बना हुआ है। मध्य वर्ग की पढ़ी–लिखी स्त्री की मानसिक सोच निम्नवर्ग की दलित स्त्री के प्रति

प्रायः जातिवादी ही है, किन्तु राजरानी मीरा ने तो जाति बंधन तोड़कर सभी वर्ग के स्त्रियों और पुरुषों को अपनी भक्ति की धारा में स्नान कराया, उसके साथ उठी–बैठी, साथ में यात्रा की और भजन गा–गाकर नाची। कौन ज्यादा प्रगतिशील है? आज की शिक्षित जातिगत द्वेष रखने वाली स्त्री या मीरा। पुरुषों की कीर्तन मण्डली में बैठकर अकेले एक स्त्री आज भी कीर्तन करने में खुद को असहज महसूस करती है। यदि वह सत्संग में जायेगी भी तो चार–पाँच औरतों का झुण्ड लेकर ताकि समाज यह न कह सके कि वहाँ उसके साथ कुछ नहीं हुआ, वह कुलटा नहीं है, चालू नहीं है आदि। यानि सत्संग में भी अपने चरित्र का बचाव और समाज का डर आज भी स्त्री के भीतर है तो फिर मीरा के द्वारा अकेले संतो ंके साथ मिलकर कीर्तन करना उस समाज में पुरुषों और सामंतों के डूब मरने के समान था, मीरा ने समाज के घृणित सोच को ठेंगा दिखा दिया, इस दृष्टि से भी मीरा आज की युवतियों से कहीं ज्यादा प्रगतिशील और स्वतंत्र विचारों वाली दिखाई पड़ती हैं।

राम स्वरूप चतुर्वेदी ठीक लिखते हैं कि '' मीरा का काव्य उन विरले उदाहरणों में से एक है जहाँ रचनाकार का जीवन और काव्य एक–दूसरे से घुल–मिल गए हैं, परस्पर के संपर्क से वे एक–दूसरे को समृद्ध करते हैं।''[4]

बच्चन सिंह मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर बल देते हुए लिखते हैं कि '' मीरा एक ओर सामंती अभिजात्य को एक झटके में तोड़ डालती है तो दूसरी ओर उनकी रचनाओं में अभिजात्य का संयम दिखाई पड़ता है।''[5]

स्त्री के बात की चोट सहने को पुरुष कभी तैयार नहीं होता। मीरा अपने परम पुरुष के आगे किसी और पुरुष के अस्तित्व को मानती ही न थी फिर होना क्या था? वही हुआ जिसका अंदेशा था, पुरुश द्वारा निर्धारित नारी–मर्यादा संबंधी मानकों पर चोट पड़ी, वह बौखला गया, येन–केन–प्रकारेण मीरा पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उन सब हथकण्डों का प्रयोग उसने किया, जितनी उसकी ताकत थी। परिणाम यह हुआ कि मीरा का कद ऊपर उठता चला गया। सामान्य स्त्री तो तब भी कुछ स्वतंत्र होती है, पर राजपरिवार की स्त्री के लिए बंधन ही बंधन है। राजमती की पीड़ा का जो आक्रोश नागमती के आँखों से बारह महीने फूट–फूट कर बहा, वह मीरा के भीतर ठोस रूप में इस कदर घनीभूत हो उठा कि आँखों का पानी सूखकर मीरा के कण्ठ से निकलने वाले सुरों में समाया ही नहीं, वरन् समूची राजसत्ता के सामने नारी मुक्ति संग्राम की मिशाल बन गया।

अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मीरा हिन्दी कवयित्रियों में पहली स्त्री है जिसने स्त्री जीवन पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों की शिकायत पूरे समाज के सामने की तथा नारी मुक्ति के लिए जीवन पर्यन्त प्रेम के सहारे संघर्ष करती रही जो आज भी पूरे विश्व और समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत है। डॉ0 चौथीराम यादव ने ठीक ही लिखा है – '' मीरा हिन्दुस्तान की पहली क्रांतिकारी महिला हैं जिसने ठीक राजसत्ता की नाक के नीचे नारी–मुक्ति संग्राम का बिगुल बजाया।''[6]

lnHkZ %

1. मीरा पदावली पद – 3 पृष्ठ 99
2. मीरा का बृहत्पदावली – सं0 पं0 हरि नारायण पुरोहित, पृ0 28, पद सं0 54
3. स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक – मृणाल पाण्डेय के लेख, स्त्रियाँ अश्लीलता का विरोध क्यों कर रही हैं, पृ0 29
4. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, राम स्वरुप चतुर्वेदी, लोकभारती इलाहाबाद, पृ0 50
5. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ0 134
6. डॉ0 चौथीराम यादव के 'शब्दिता' में प्रकाशित लेख से उद्धृत पंक्ति।

****

orleku Hkkjrh; lekt e efgykvk dh fLFkfr

lt; Hkkjrh*

आज पूरा विश्व एक गांव के रुप में बदल चुका है। इंटरनेट ने दुनिया को एक कोने को दूसरे कोने से जोड़ दिया ,जिससे भौगोलिक दूरियां सिमट गयी हैं। आज लोग विश्व में कहीं पर हो लेकिन आपस में विचारों का आदान प्रदान कर सकतें हैं। भूमण्डलीकरण ,उदारीकरण और निजीकरण ने आर्थिक गतिविधियों को तो प्रभावित किया हैं,साथ ही साथ सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियां भी अछूती न रह सकी । घरों की चारदिवारों में बंद महिलाएं आज विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति कर रही हैं। आज महिलाएं समाज में अपनी स्थिति, अधिकारों औंर समस्याओं को लेकर अधिक जागरूक हुई हैं। शिक्षा ,नई दिशा, और बदलती हुयी परिस्थितियों की वजह से आज महिला, समाज में अनेक समस्याओं के बावजूद जगमगा रही हैं।

भारतीय समाज में आज महिलाएँ सत्ता और प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं। वे अपने अधिकारों एवं दायित्वों के प्रति जागरूक होकर चतुर्दिक प्रगति कर रही हैं। लोकतन्त्र के मजबूत होने से आज महिलाएँ पुरूष के बराबर अपने को समझने लगी हैं। विचार अभिव्यक्ति, रोजगार, कानून के समझ समान–समान अवसर, स्वतन्त्रता, रहन–सहन तथा शिक्षा आदि के क्षेत्र में समानता ने महिलाओं को पुरूषों के समानन्तर खड़ा कर दिया है।

अट्ठारवीं शताब्दी में महिलाओं को शारीरिक, मानकिस, सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से पुरूषों से कमजोर माना जाता था। क्योंकि स्त्री में शारीरिक बल कम है, स्त्रियाँ स्वतंत्र निर्णय नहीं ले सकती है वह दूसरों के प्रभाव में आ जाती है। भावनाओं से प्रभावित हो जाती है, स्त्री में समाजिकता की कमी है स्त्री अपने सांस्कृतिक भावनाओं को उचित रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाती नवनिता सेन ने कहा– 'स्त्री को यह अवसर ही नहीं मिला' लेकिन महिलाओं के सम्बन्ध में आज ये चर्चा काफी हद तक निरर्थक है। क्योंकि आज महिलाएँ सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं।

स्त्री पुरूष जन्म के समय समान रूप से सक्षम होते हैं। लेकिन संस्कृति स्त्री को कमजोर बना देती है। बोबुआर ने अपनी पुस्तक 'सेकण्ड सेक्स' में लिखा कि – '' महिला पैदा नहीं होती बनायी जाती है।'' अर्थव्यवस्था में महिलाओं का अधिक शोषण होता है ऐसा मार्क्सवादी भी मानते हैं। राजनीति में महिलाओं को हासिये पर रखा जाता है। चूँकि महिलाओं को अवसर नहीं मिलने से प्रभावशाली ढ़ँग से अपने विचारों और कृतियों को प्रस्तुत नहीं कर सकीं।

महिलाओं को सबल बनाने के लिए उनके अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान में तो अनेक प्रावधान किये ही गये हैं। लेकिन साथ ही साथ महिला आयोग की स्थापना, पंचायतों में महिलाओं को आरक्षण, लोक सभा और विधान सभाओं में आरक्षण ने महिलाओं को अपने अधिकारों से जागरूक नेतृत्व की क्षमता को जन्म दिया। 8 मार्च 2015 के आकडों में यूपी बोर्ड की 12वीं 2014 की परीक्षा में 95.31:लडकियां पास हुयी ,जबकि 89.31% लडके पास हुए,सीबीएसई 12वीं की परीक्षा में 87.98%लडकियां और 77.78% लडके पास हुए । चार्टर्ड अकाउंटेट ऑफ इंडिया के अनुसार 2014 तक 22 फीसदी महिलाएं सीए थीं, सीबीएसई की 10वीं 2014 की परीक्षा में 98.94% लडकियॉ और 98.64% लडके पास

*प्रवक्ता (समाजशास्त्र), राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी ।

हुए, एमसी मेरीकाम ने मुक्केबाजी में भारत को पहली बार लंदन ओलंपिक में पदक दिलवाया, साइना नेहवाल ने भी लंदन ओलंपिक में पदक जीता ऑल इग्लैंड चैंपियनशिप के फाइनल में पहुंचने वाली पहली भारतीय महिला बनी, 2011 में थल सेना मे1055, नौसेना मे 288,और वायु सेना मे 936 महिला अफसर भर्ती की गयी।

भारत में रामकृष्ण मुखर्जी के अनुसार स्त्रियों की स्थिति सम्मान जनक नहीं है। थारू और खासी जैसी मातृसत्तात्मक जनजातियों में एवं नायर जैसी मातृ सत्तात्मक जाति में स्त्री कमजोर है। भारत में एक दशक के बाद मातृ मृत्यु दर 220 से घटकर 190 प्रति एक लाख पर हुआ, दस साल में घरेलू हिंसा से जुड़े मामलों में 134 फीसदी बढोत्तरी हुई, देश में 42 फसदी छात्राएं ही कॉलेज जाती हैं, महिला के अधिक कौशल और शिक्षा के बाद भी पुरुष के मुकाबले 40 फीसदी कम वेतन दिया जाता हैं। मैलिनोवास्की ने कहा कि महिला व्यक्ति नहीं हैं, क्योकि वह स्वतंत्र रुप से निर्णय, घूमना, जीवन साथी का चुनाव नहीं कर सकती, आज भी 15 से 19 वर्ष तक की 46 फीसदी लडकियां खुद से जुडे फैसले में कोई नहीं होती, 32ः अशिक्षित महिलाओं का भी यही हाल हैं। कल्पना शर्मा ने कहा—भारत में स्त्रियों को एक ऐसी वस्तु माना जाता है। जिस पर आघात समूह के लिए सम्मान जनक होता है। कल्पना शर्मा के अनुसार भारत में स्त्रियों से बलात्कार, छेड़खानी, दहेज के कारण उत्पीड़न और अगुआ किये जाने की घटनाएँ बढ़ी है। भारत के विकसित राज्य जैसे पंजाब और हरियाणा में यौन अनुपात राष्ट्रीय औसत से बहुत कम है। बल्कि एक वर्ष से छः वर्ष की लड़कियों की तुलना में लगातार लड़कों से घटती जा रही है। विश्व बैंक के अध्ययन के अनुसार भारत में एक वर्ष की आयु में लड़कियाँ बहुत अधिक मरती है जबकि जीव विज्ञान की दृष्टि से लड़कों को अधिक मरना चाहिए।

भारत में महिलाओं के विकास के लिए संवैधानिक, वैधानिक और नीतिगत उपाय किये गये है। अनुच्छेद 16 (4) के अन्तर्गत इन्हें नौकरियों में आरक्षण दिया गया है। नीति निर्देशक तत्वों में महिलाओं को समान वेतन, प्रसूति की सहायता, चाइल्ड केयर लीफ के प्रावधान किये गये हैं। भारत सरकार की बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ 2015, स्वयं सिद्धा 2001 ,स्वधारा 2001—2002 ,स्वर्णिम योजना 2002, महिला समाख्या योजना 1989, आशा योजना 2005, स्वशक्ति योजना 1998, धनलक्ष्मी योजना 2008 ,तथाउत्तर प्रदेश में तो प्रशासनिक सेवाओं में 20ः आरक्षण, इण्टर पास लड़कियों को बीस हजार रूपया, लैपटाप, उत्तराधिकार के मामले में महिलाओं को समान अवसर, मुत महिला शिक्षा, महामाया बालिका आशीर्वाद योजना निश्चित रूप से सकारात्मक उपाय है।

1993 में संविधान के 73 वे संशोधन में आरक्षण के प्रावधान ने महिला पंचायत पदाधिकारियों में चमत्कारिक प्रभाव उत्पन्न किया यद्यपि आरम्भ में इसके परिणामों का आभास अनेक लोगों को नहीं था। लेकिन दस वर्ष बाद ही महिलाओं ने अपने अधिकारों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त महिला आयोग को संवैधानिक दर्जा दिये जाने से महिलाएँ आज किसी भी तरह के शोषण की शिकायत कर सकती है। सरकार द्वारा प्रारम्भ किया गया। टोल फ्री नम्बर भी महिलाओं को अपने—अपने अधिकारों के प्रति जागरूप बनाता है।

वर्तमान समय में भारत में महिलाओं की स्थिति काफी बदली है। जहाँ 1901 में दो महिला स्नातक थी। वही 2001 में 10 करोड़ महिला स्नातक थी। नीरा देसाई और ऊषा थक्कर के अनुसार सभी श्रेणियों की महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन हुआ है। इनकी अस्मिता बढ़ी है। पहचान का संकट खत्म हुआ है। न्यायालय ने व्यस्क स्त्री को बिना विवाह के पुरूष के साथ रहने का अधिकार दिये हैं। पिछले कई वर्षों से उदारीकरण , निजीकरण, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने महिलाओं पर असमान प्रभाव डाला है। जो महिलाएँ अधिक कुशल क्षमतावान है उनके अवसर और सुविधा में बढ़ोत्तरी हुई लेकिन आम महिलाओं की स्थिति कमजोर हुई है।

उदारीकरण ने महिलाओं में पद्यमनी सेन गुप्ता के अनुसार दो प्रकार के परिवर्तन किए एक ओर ये अनेक आर्थिक स्वतंत्रता के प्रति सजग हुई है। दूसरी ओर इन्होने अपनी दैहिक स्वतंत्रता को अधिक स्थापित किया है। महिलाओं के सम्बन्ध में कहा गया कि अस्लीलता बढ़ी है। बाजार ने इनका

यौन शोषण किया है। इस सम्बन्ध में विवाद की स्थिति है। लेकिन सामाजिक संरचना और परिस्थितियाँ आज भी महिलाओं की स्वतंत्रता में बाधक बन रही है।

आज भी हमारे देश में ऐसी महिलाएँ है। जिन्होंने समाज की रूढ़ियाँ और बुराईयों को किनारे रखकर अपने चरित्र का निर्माण किया है। ये महिलाएँ पूरे महिला समाज के लिए आदर्श साबित हो सकती हैं। इसके लिए महिलाओं को हर क्षेत्र में आगे आना होगा। आने वाले समय में समाज के अन्दर महिलाओं की भूमिका अहम होगी। पुरूष प्रधानता रूढ़िवादी सोच महिलाओं पर असर नहीं डाल सकेगें।

I;nHkZ %

1. दैनिक एवं हिन्दुस्तान समाचार पत्र– 8,3,2015
2. समाजशास्त्र, गुप्ता एवं गुप्ता.1960 (भारतीय समाज मुददे एवं समस्याऐं) page24-30
3 कुरुक्षेत्र–मार्च,2015
4. सामाजशास्त्र (भारत में समाज –संरचना एवं परिवर्तन) G.K. Agrawal(2013-2014)B.A PART1 page63-79

****

fyfi dk fodkl

Mk0 fcfiu dqekj*

'लिपि' उच्चारण अवयवों द्वारा उच्चरित ध्वनि प्रतीकों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था है। मनुष्य के भावों और विचारों को अभिव्यक्ति करने का सबसे सार्थक और उचित माध्यम भाषा है। भाषा का संबंध वक्ता और उचित श्रोता तक सीमित है– यह भाषा का वाचिक रूप है। भाषा का यह वाचिक रूप काल और देश की सीमा से आबद्ध है। इसमें क्षणिकता है। इस क्षणिकता के कारण एक देश–काल के भाव–विचार दूसरे देश–काल तक सुरक्षित रख पाना संभव नहीं था। इस असंभव कार्य को संभव बनाने के मनुष्य ने लिपि' का अविष्कार किया। लिपि के माध्यम से मनुष्य ने वाचिक भाषा को लिखित रूप दिया जिससे एक देश–काल के भाव–विचार या अविष्कार दूसरे देश–काल तक आसानी से पहुंच गये। आज हम अपने पूर्वजों के विचार को आसानी से पढ़कर ग्रहण कर सकते हैं। यह संभव हुआ लिपि के अविष्कार से। अपने प्रारंभिक अवस्था में भाषा जहां कर्णग्राह्य थी लिपि ने उसे नेत्रग्राह्य बना दिया।

चित्र, भाव और ध्वनि आधारित लिपि के विकास का क्रमिक सोपान निम्न है–

1. चित्र लिपि
2. सूत्र लिपि
3. प्रतीकात्मक लिपि
4. भावमूलक लिपि
5. फन्नी लिपि
6. गूढ़ाक्षरिक लिपि
7. क्रीट लिपि
8. हिट्टाइट लिपि
9. सिन्धु घाटी लिपि
10. चीनी लिपि
11. ध्वनिमूलक लिपि[1]

चित्रलिपि में चित्रों द्वारा सीधे–साधे संदेश को आसानी से भेजा जाता था। इस तरह के चित्रों का अंकन पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथी दांत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल, मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाये जाते थे। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उजबेकिस्तान, सीरिया, मिश्र, ग्रेट ब्रिटेन, कैलिफोर्निया, ब्राजील, तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में मिले है।[2]

सूत्र लिपि में रस्सी, धागे या लचीले और टिकाऊ पौधे पर गांठ बांधकर किसी घटना, विशेष दिन, महत्तवपूर्ण बात आदि को याद रखा जाता है। इससे साधारण एवं स्थूल घटनाओं और बातों को याद रखने में तो मदद मिलती है पर भावाभिव्यक्ति में असमर्थ होती है। इससे गणना एवं ऐतिहासिक घटनाओं के अंकन में मदद मिलती थी। रस्सी में अलग–अलग रंग के धागे या अलग–अलग साइज

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

की छोटी वस्तुओं को बांधना, अलग अलग घटनाओं को इंगित करना होता था। 'पेरू की क्वीयू' इस प्रकार की सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। 'क्वीयू' में भिन्न–भिन्न लंबाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत लटकाकर भाव प्रकट किये जाते थे।[3]

'प्रतीकात्मक लिपि में प्रतीक ही लिपि के रूप में प्रयोंग में लाये जाते है। ये प्रतीक किसी विशेष भाव या किसी विशेष बात या किसी विशेष घटना के अभिव्यक्त करते है। ये प्रतीक किसी रेखा या चित्र के न होकर वस्तु के होते हैं। जैसे– तिब्बत और चीन की सीमा के समीपवर्ती प्रदेशों में मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े या लाल मिर्च को कागज मे लपेटकर भेजने का अर्थ यह होता है कि युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। भारतीय समाज मे हल्दी की गांठ विवाह के अवसर पर आमंत्रण है। युद्ध के मैदान में सफेद झंडा फहराना संधि का प्रतीक है। स्टेशन पर लाल झंडी गाड़ी के रोकने के लिये है। कोना कटा हुआ पोस्टकार्ड का आना किसी की मृत्यु का समाचार है आदि।[4]

'भावमूलक लिपि' के विकास में महत्वपूर्ण चरण हैं। चित्र लिपि से विभिन्न वस्तुओं को व्यक्त किया जाता था जबकि 'भावमूलक लिपि' में उन चित्रों से भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया। यह कहा जा सकता है कि 'भावमूलक लिपि' चित्रलिपि का विकसित रूप है। जैसे– दुख प्रकट करने के लिये आंसू के बहने, प्रकाश के लिये सूर्य, सुनने के लिये दरवाजे' चलने के लिये पैर' आदि का अंकन किया जाना।[5]

'फन्नी लिपि' को क्यूनीफार्म, तिकोनी या बाणमुखी लिपि के नाम से भी जाना जाता है। इस लिपि में बाण के आकार की त्रिभुजाकार रेखाओं का प्रयोग किया जाता था। यह संसार की प्राचीनतम लिखित लिपि मानी जाती है। इसका विकास 4000 ई0 पू0 के लगभग माना जाता है। मिट्टी की टिकिया , ईंट, खपड़ा आदि पर खोदकर लिखे जाने के कारण इसे कुछ विद्वान 'खपड़ पोथियां' कहते हैं। इस तरह की कुछ पोथियां लन्दन के अजायबघर में रखी हुई हैं। इस लिपि से गूढ़ाक्षरिक, क्रीट और हिट्टाइट लिपि का विकास हुआ है।[6]

गूढ़ाक्षरिक लिपि हीरोग्लाइफिक लिपि आरंभ में चित्र लिपि थी, बाद में भावलिपि हुई। और फिर अक्षरात्मक हो गयी। 4000 ई0 पू0 के आस–पास इसका विकास माना जाता है। इस लिपि में स्वर नहीं थे, केवल व्यंजन थे। यह लिपि पहले ऊपर से नीचे फिर बाद में दायें से बायें लिखी जाती थीं। यह लिपि पत्थरों पर खुदी हुई तथा 'पैपाइरस' पर स्याही से लिखी हुई मिली है। इसका सर्वाधिक प्रचार मिश्र में मिलता है। यदि इस लिपि में लकड़बग्घा लिखना हो तो इसे लकड़ी या बाघ के चित्रों द्वारा प्रकट किया जाता था।[7]

'क्रीट लिपि' मिश्र' के क्रीट द्वीप' में प्रचलित थी। यह चित्रात्मक और रेखात्मक थी। इसमें 135 चित्र और 90 रेखाएं थीं। चित्रात्मक लिपि का प्रयोग 3000 ई0 पू0 और रेखात्मक लिपि का प्रयोग 1700 ई0 पू0 के आस–पास प्रचलन में था। यह लिपि बाएं से दायें लिखी जाती थी।[8]

'हिट्टाइट लिपि' को हिट्टाइट हीरोग्लोइफिक' लिपि भी कहा जाता है। यह लिपि पूर्णतः चित्रात्मक थी। इसका प्राचीनतम प्रयोग 1500 ई0 पू0 का मिलता है। यह दायें से बायें और बायें से दायें लिखी जाती थी। इसमें कुल 419 चिन्ह मिलते हैं। विद्वान इस लिपि को मिश्री गूढ़ाक्षरिक लिपि और क्रीट की चित्रात्मक लिपि से विकसित मानते हैं।[9]

'सिन्धु घाटी की लिपि' भारत में लेखन कला की सबसे प्राचीनतम लिपि है। इस लिपि को पढ़ने का प्रयास हेरास, लैण्डन, स्मिथ, गैड तथ हंटर कर चुके हैं और वर्तमान में प्रयास जारी भी है पर अभी तक कोई सफलता प्राप्त नहीं मिल सकी है। एच0 हेरास और जान मार्शल का मानना है कि सिन्धु घटी की सभ्यता द्रविड़ों की भी इसलिए इस लिपि के जनक वही थे। एल0 ए0 वैडल के तथा डॉ0 प्राणनाथ इस लिपि को सुमेरी लिपि से निकली मानते हैं और उसकी प्राचीनता 4000 ई0 पू0 से स्वीकार करते हैं।[10] इस लिपि में चित्र और अक्षर दोनों मिलते हैं पर प्रधानता चित्रों की है। इस लिपि में हंटर 253 चित्र, लैण्डन 228 चित्र, स्मिथ396 चित्र बताते हैं।[11]

चीनी लिपि का विकास सिन्धु घाटी की लिपि के पश्चात् माना जाता है। मूल चीनी लिपि चित्रात्मक थी। विभिन्न धारणाओं से इसके विकास निर्माण की दो तिथियां 3200 ई0पू0 और 2700 ई0पू0 मिलती हैं। इस लिपि की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों ने जो तर्क दिये हैं उनसे निम्न महत्त्वपूर्ण बातें निकलकर सामने आती हैं–

1. पीरू की ग्रंथ लिपि की भांति किसी लिपि से यह निकली है।
2. सुमेरी लोंगों की क्यूनीफार्म लिपि से इसका जन्म हुआ।
3. चीन में हाथ की मुद्रा से भाव प्रदर्शन की पद्धति के अनुकरण पर इसक जन्म हुआ है।
4. सजावट या स्वामित्व–चिन्ह रूप में बनने वाले चिन्हों से इसका जन्म हुआ है।
5. मिश्र की हीरोग्लाइकी से इसकी उत्पत्ति हुई है।
6. मेसोपोटामिया ईरान या सिन्धुघाटी की चित्रलिपि की प्रेरणा से इन लोगों ने अपनी लिपि बनायी है।[12]

चीनी लिपि में कुल 50,000 चिन्ह हैं। इन चिन्हों को चार वर्गों में रखा जा सकता है–

(1). चित्रात्मक चिन्हः– कुआं, चांद, पेंड़, पहाड़

(2). संयुक्त चित्रात्मक चिन्हः– एक रेखा नीचे खींचकर उसके उपर सूर्य बनाकर 'सबेरा' का चिन्ह बनाना, दो पेड़ पास–पास बनाकर 'जंगल' का चिन्ह बनााना।

(3). भाव चिन्हः–	सूर्य+ चांद	=	प्रकाश
	स्त्री+ लड़का	=	अच्छा
	खेत+ पुरूष	=	शक्ति
	दो हाथ	=	मित्रता
	दरवाजा + कान	=	सुनना
	मुंह + पक्षी	=	गाना
	छत के नीचे स्त्री	=	शान्ति

(4) ध्वन्यर्थ संयुक्त चिन्हः– ध्वन्यर्थ का अभिप्राय है– दोहरा प्रयोग। चीनी में एक शब्द के कई अर्थ होते हैं जिससे उनके अर्थ को लिखने और समझने में कठिनता का अनुभव होती है। इसी कठिनता को दूर करने के लिये चीनियों ने ध्वनि के संकेत के लिये लिखने में चिन्हों का दोहरा प्रयोग आरंभ किया। चीनी का एक शब्द है 'फैग' जिसका अर्थ है– 'बुनना' तथा 'कमरा'। जहां फैग' का अर्थ बुनना अपेक्षित होता है उसके साथ सिल्क का भाव प्रकट करने वाले चिन्ह बना देते हैं। जहां 'कमरा' अर्थ अपेक्षित होता है 'दरवाजे' के भाव का चिन्ह बना देते हैं।[13]

ध्वनिमूलक लिपि' सर्वोत्तम लिपि मानी जाती है। यह लिपि के विकास की सबसे बडी महत्तवपूर्ण और अंतिम कड़ी है। लिपि के विकास में ध्वनिमूलक लिपि की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि क्योंकि इसमें चित्र और भाव की भूमिका से उपर उठकर प्रत्येक ध्वनि को अंकित करने की क्षमता का विकास पाया जाता हैं। ध्वनिमूलक के रूप में देवनागरी, रोमन, अरबी आदि को ले सकते है।[14]

ध्वनिमूलक लिपि के दो भेद हैं–

(क) अक्षरात्मक लिपि

(ख) वर्णात्मक लिपि

'अक्षरात्मक लिपि' में चिन्ह अक्षर को व्यक्त करते हैं। अक्षर में एक से अधिक ध्वनियों का समावेश होता है। देवनागरी लिपि एक प्रकार की अक्षरात्मक लिपि है। उदाहरण स्वरूप क' व्यंजन को लिया जा सकता है। 'क' व्यंजन में 'क्+अ' दो ध्वनियां शामिल हैं जिसमें पहली ध्वनि व्यंजन है और

'वर्णात्मक' लिपि' में प्रत्येक चिन्ह एक ही ध्वनि या वर्ण को प्रकट करता है और प्रत्येक वर्ण की स्थिति अलग–अलग होती है। रोमन लिपि इसका अच्छा उदाहरण है। इसमें ।B,C,D,E,F आदि पृथक– पृथक वर्ण हैं। जब इनसे शब्द बनाये जाते हैं तब भी प्रत्येक वर्ण की स्थिति पृथक–पृथक होती है। जैसे– 'कमल' में K+O+M+A+L पांचों वर्ण अपनी–अपनी स्थिति में हैं।

संसार की नौ ध्वनिमूलक लिपियां हैं–

1– फोनीशियन लिपि 2– दक्षिणी सामी लिपि 3– ग्रीक लिपि
4– लैटिन लिपि 5–आर्मेइक लिपि 6– हिब्रू लिपि
7– अरबी लिपि 8 – खरोष्ठी लिपि 9– ब्राह्मी लिपि[15]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपर्युक्त समस्त लिपियों का आविष्कार और विकास मनुष्य ने यादृच्छित ध्वनियों को स्थायित्व प्रदान करने के लिये किया। भाषा अपने प्रारंभिक अवस्था में वाचिक थी, क्षणिक थी और देश–काल की सीमा में आबद्ध थी। लिपि से भाषा को लिखित रूप मिला। लिपि से भाषा को स्थायित्व मिला और लिपि से भाषा समय–काल की सीमा से निकलकर युगों–युगों तक संचरण करने लगी। एक पीढ़ी का ज्ञान दूसरी पीढ़ी तक आसानी से पहुँच गया। एक काल देश का ज्ञान अनन्त काल तक के लिए सुरक्षित हो गया।

lUnHk %

1. हिन्दी भाषाः इतिहास और स्वरूप, डॉ0 राजमणि शर्मा, पृ0–369, प्रथम संस्करण, 1998, वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज नई दिल्ली– 110002
2. भाषा विज्ञान– भोलानाथ तिवारी, पृ0– 473, प्रथम संस्करण– 2001, किताब महल, 22ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद– 621466
3. वही, पृ0– 439
4. भाषा विज्ञान के सिद्धान्त और हिन्दी भाषा, डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ0–305, नवां संस्करण 2008, मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ।
5. वहीं, पृ0– 305
6. वहीं, पृ0–306
7. वहीं, पृ0–306
8. वहीं, पृ0– 306
9. वहीं, पृ0–306–07
10. भाषा विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ0– 450
11. भाषा विज्ञान के सिद्धान्त और हिन्दी भाषा, डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ0– 307
12. भाषा विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ0–445–446
13. वहीं, पृ0– 447
14. भाषा विज्ञान की भूमिका, देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ0– 347, राधाकृष्ण प्रकाशन 2, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–6
15. भाषा विज्ञान के सिद्धान्त और हिन्दी भाषा, डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ0– 309

****

^^gkbMªkfyd VsDuksykWth bu ,fU'k,UV bf.M;k bu n dkUVsDLV vkQ fjtokW;j**

MkW0 ih;w"k dkUr 'kekZ*

जल जीवन की मूलभूत आवश्यकता है इसलिए मानव प्रारम्भिक काल से ही उसके संरक्षण के लिए प्रयत्नशील रहा है। उसने अपनी सुविधानुसार विविध प्रयोजनों हेतु जल संचय के लिए जलाशयों का निर्माण किया। प्रारम्भ के पेय, स्नानादि आवश्यकता के लिये बने ये जलाशय कालान्तर में सिंचन और धार्मिक सरोकारों से भी जुड़े। मानव जीवन के लिये अत्यधिक उपयोगी होने के कारण धर्मग्रन्थों में जलाशय के निर्माता को स्वर्ग प्राप्ति, अश्वमेध यज्ञ के संपादन की फल प्राप्ति, बंधन–मुक्त होने, शिवलोक का भोग करने जैसे फल प्राप्ति की बात कही गयी है।[1]

जलाशय निर्माण हेतु उसकी स्थिति या स्थान का चयन सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। कौटिल्य ने तड़ाग एवं बन्ध प्रान्त या गांव के मध्य में बनाने पर जोर दिया है।[2] बृहस्पति के अनुसार सीमा निर्धारण एवं निकटवर्ती क्षेत्रों की सिंचाई को दृष्टिगत रखते हुए तालाब का निर्माण खेतों एवं ग्रामों की सीमा पर किया जाना चाहिये।[3] गुप्त एवं गुप्तोत्तरकालीन अभिलेखों[4] में दानकृत भूमि की सीमाओं के संदर्भ में अनेक पुष्करिणियों, तड़ागों एवं जलाशयों के उल्लेख मिलते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि खेतों के निकट स्थित इन जलाशयों का उपयोग निश्चित ही इन खेतों के सिंचनार्थ रहा होगा। शिल्प ग्रन्थ मयमत[5] में कहा गया है कि धर्म चर्चा हेतु बने स्थान के उत्तर–पूर्व में जलाशय को स्थापित करना चाहिये, भले ही ये गाय के खुर के बराबर क्यों न हों। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[6] में जलाशय देवालय के मंदिर के पूर्व जबकि मत्स्यपुराण[7] में मंदिर के पश्चिमी भाग में बताया गया है। राजमहल के निकट अवस्थिति हेतु मानसार[8] में जलाशय को इसके उत्तर–पश्चिम या दक्षिण–पश्चिम में बताया गया है।

वराहमिहिर ने जलाशय का निर्माण कार्य किसी शुभ दिन प्रारम्भ करने की सलाह दी है जिससे जल पर्याप्त मात्रा में और आसानी से उपलब्ध हो सके।[9] अग्निपुराण में निर्माण कार्य हेतु रविवार तथा मंगलवार का वर्जन कर अन्य दिन के चयन के लिये कहा गया है।[10] अग्निपुराण में ही इस कार्य हेतु शुभ नक्षत्रों की पूरी तालिका दी गयी है।[11] जलाशय की निर्माण योजना के अन्तर्गत उसके मानचित्र बनाने का उल्लेख मिलता है। पालशासक धर्मपाल के शासनकाल में केशव नामक वास्तुकार का उल्लेख मिलता है जिसने तड़ाग का मानचित्र बनाया था।[12] चाहमान विग्रहराज के हर्ष अभिलेख में भी चंदशिव नामक जलाशय के वास्तुकार का उल्लेख है।[13] नासिक बौद्ध गुहा लेख[14] में औद्यान्त्रिकों का उल्लेख है जिनकी पहचान सेनार्ट ने जल अभियन्ताओं के रूप में की है। अमरावती बौद्ध प्रतिमा लेख[15] में जल आपान अधीक्षक का उल्लेख है। जलाशयों एवं बन्धों के निर्माण में कुशल अभियन्ताओं को जल सूत्रदा के नाम से जाना जाता था।[16]

जलाशय की निर्माण प्रविधि वहाँ की भौगोलिक स्थिति, जलापूर्ति, निर्माण सामग्री की उपलब्धता आदि के आधार पर तय की जाती थी। जैसे–पहाड़ी इलाकों में नदियाँ पहाड़ियों के मध्य से होकर गुजरती थी। जलाशय के निर्माण के लिये दो पहाड़ियों के बीच के उसी स्थल का चयन किया गया क्योंकि दूसरी

*एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़ (उ०प्र०)।

तरफ पहाड़ियों के ढलान प्राकृतिक बन्धों का कार्य करते थे। इस तरह की व्यवस्था से निश्चित रूप से जलाशय की संग्रह क्षमता को बढ़ाया जा सकता था। किन्तु यह तकनीक केवल उन स्थानों पर संभव थी जहां इस प्रकार के साधन प्राकृतिक रूप से उपलब्ध थे। दसवीं शती के ग्रन्थ काश्यप सूत्र के रचनाकार काश्यप[17] लिखते हैं कि एक बड़े जलाशय में हमेशा अच्छी मात्रा में जल उपलब्ध रहना चाहिये। यह दो पहाड़ियों के मध्य बन्ध बनाकर घाटी में या पहाड़ी पर खुले स्थान में अल्प धन व्यय करके निर्मित किया जा सकता है। इस निर्माण प्रविधि का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम् अभिलेख जूनागढ़ से प्राप्त होता है। रूद्रदामन के इस शिलालेख[18] में सुदर्शन झील का वर्णन है। यह झील उर्जयत पर्वत की तलहटी में स्थित थी। जहाँ पहाड़ियों के मध्य से सुवर्णसिक्ता तथा पलाशिनी नदियाँ गुजरती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रीय पुष्यगुप्त ने पहाड़ियों के मध्य के स्थान को मिट्टी द्वारा पाषाण की छिद्ररहित चिनाई करवाकर शैलबाहु से प्रतिस्पर्द्धा करने वाला मजबूत विशाल बन्ध निर्मित करवा दिया। यह जलाशय मीढ़ विधान (गन्दगी से बचने के उपायों से युक्त) तीन भागों में विभक्त समुचित रूप से अतिरिक्त जल निकालने वाले मार्गों की व्यवस्थ से युक्त थी। इस तरह की तकनीकी व्यवस्था के साक्ष्य श्रृंगवेरपुर[19] से उत्खनन में मिले विशाल जलाशय से मिलते हैं। जहां जल को साफ करने के लिये सिल्ट कक्ष, जल प्रविष्टि मार्ग, उदकबन्ध, जल निकास मार्ग, एक दूसरे से क्रमशः जुड़े तीन जलाशय आदि व्यवस्थायें प्राप्त हुई हैं। सुदर्शन झील विशाल आकार की तथा अत्यधिक जल धारण क्षमता वाली रही होगी क्योंकि सम्राट अशोक के सुराष्ट्र प्रान्त के प्रान्तपति यवनराज तुषास्प ने अनेक नहरों को इससे निकलवाया था। महाराष्ट्र के हिस्सेबोराला से प्राप्त वाकाटक देवसेन के लेख[20] में भी एक सुदर्शन झील का उल्लेख मिलता है जो कि पूर्वोक्त सुदर्शन झील की तरह नदी की धारा के ऊपर बन्ध बनाकर निर्मित करवायी गयी थी। पल्लव महेन्द्रवर्मन के शासनकाल में भी एक चित्रमेघ जलाशय इस प्रविधि द्वारा निर्मित करवाया गया था। यह आस–पास के क्षेत्र में सबसे बड़ा तड़ाग था। यह जलाषय दो पहाड़ियों के मध्य स्थित था जो इसके लिये प्राकृतिक बन्ध का कार्य करती थी।[21] गणपति देव के शासनकाल में स्थापित रामप्पा जलाशय वारंगल से 44 मील उत्तर–पूर्व काकतीयों के उच्चकोटि के सिंचाई साधनों में प्रयुक्त उत्कृष्ट कार्य कुशलता का जीवन्त प्रतीक है। यह अद्भुत झील तीन तरफ से पहाड़ियों के एक घेरे में उत्तरी ओर विशाल बन्ध बनाकर बनायी गयी है।[22]

द्वितीय प्रविधि में मृदा को उत्खनित कर या समतल धरातल पर चारों ओर से तटबन्ध बनाकर जलाशय का निर्माण किया जाता था। यह विधि विशेषकर मैदानी भागों में प्रयुक्त की जाती थी, जहां पर पाषाण की उपलब्धता न्यून थी। इस प्रविधि के विषय में काश्यप लिखते हैं कि मैदानी भाग में जलाशय जल की विशाल मात्रा को धारित करने में सक्षम होते हैं। इसलिये इसे रेत एवं पत्थर से मुक्त ठोस भूमि पर सदावाही धारा के समीप निर्मित किया जाना चाहिये। यह भूमि सभी तरफ से विस्तृत सतह वाली हो और बड़ी मात्रा में बहकर आने वाले जल को धारित करती हो। यह ऊंचे तटबन्ध वाला होना चाहिये जिसे मजबूत सहतीरों के सहारे से तथा ईंट–पत्थर का पथ बनाकर और मजबूत किया जाना चाहिये। इसमें जल की प्रविष्टि एवं निकास के जलमार्ग तथा उदक बन्ध की व्यवस्था होनी चाहिये।[23] वराहमिहिर इस प्रविधि की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि जिस जलाशय के तटबन्ध पूर्व से पश्चिम फैले हुए हैं, लम्बे समय तक जल एकत्र कर रोक सकते हैं। किन्तु उत्तर से दक्षिण का तटबन्ध हवा से उठाये गये विशाल लहरों द्वारा अक्सर टूट जाया करता है।[24] वराहमिहिर सलाह देते हैं कि ऐसे जलाशयों के जल के बहाव को रोकने के लिये मजबूत लकड़ियों या पत्थर को हाथी या घोड़ों द्वारा चलकर सख्त की गयी मिट्टी के बन्ध में लगाना चाहिये। उत्पल इसमें पक्की ईंट और पत्थर के टुकड़ों को भी लगाने की सलाह देते हैं। वराहमिहिर पुनः कहते हैं कि एक जल का निकास मार्ग भी पत्थरों द्वारा बनाया जाना चाहिये तथा इसे बाहर से रेत के ढेर द्वारा ढंक देना चाहिये। जलाशय के किनारों पर वृक्षों द्वारा छाया भी की जानी चाहिये।

जलाशय के तटबन्धों के ऊपर वृक्षारोपण उसकी मजबूती को बढ़ाने के लिये आवश्यक था। इनकी जड़ें मिट्टी को बांधे रखती थी जिससे ये बन्धों के मृदाक्षरण को रोकते थे। विद्वानों के अनुसार

ये वृक्ष फल तो देते ही थे। ये टैनिन नामक पदार्थ भी रखते थे जिससे जल का स्वाद थोड़ा मधुर हो जाता था। ये जल को साफ रखने एवं सतह की अशुद्धियों को नीचे तल में ले जाने में उपयोगी थे।[25]

मंदिर या देवालय के निकट भक्तजनों के पवित्र स्नान एवं मंदिर के विविध कृत्यों के सम्पादन के लिये जलाशय का निर्माण पारम्परिक कृत्य था। धार्मिक संरचना के निकट इन विशाल जलाशयों का निर्माण संभवतः इनके निर्माण के समय अत्यधिक मिट्टी की आवश्यकता भी रही होगी। इन दीर्घ देवालयों का निर्माण विशाल शिलाखण्डों से होता था जिसको ऊपरी भाग तक ले जाने के लिये मंदिर की ऊंचाई बढ़ने के साथ–साथ उसके बराबर एक तरफ मिट्टी के टीले का निर्माण किया जाता था, जिससे सरकाकर शिलायें शिखर भाग तक पहुंचाई जाती थी। इससे पूरा मंदिर एक तरफ मिट्टी से ढंक जाता था। मंदिर पूर्ण होने के बाद मिट्टी को हटा दिया जाता था।

पठारी भाग में मंदिर आदि संरचनाओं के सन्निकट जलाशय निर्माण के पीछे भी इसी से मिलता–जुलता कारण है। मंदिर निर्माण के लिये शिलाखण्डों की आवश्यकता होती थी जिसके लिये निकट की भूमि से ही शिला उत्खनन कर पत्थर निकाले गये। इससे जलाशय के लिये उपयुक्त गर्त्त निर्मित हो जाता था। हड़प्पीय नगर धौलावीरा में नगर के चतुर्दिक विशाल जलाशयों की एक श्रृंखला पायी गयी है।[26] अनुमान है कि यहां की नगरीय संरचनाओं के निर्माण में प्रयुक्त शिलाओं हेतु उत्खनन किये जाने के कारण जलाशयों का निर्माण संभव हुआ।

विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र[27] में जलाशय निर्माण प्रविधि के विषय में उल्लिखित है कि एक विशाल जलाशय वहीं बनाया जा सकता है जहां जल अत्यधिक मात्रा में कीचड़ एवं मिट्टी रहित, प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हो। प्रविष्टि एवं निकास मार्ग की व्यवस्था उनकी ऊंचाई की सतह को मापकर की जानी चाहिये। जलाशय के मध्य में एक गहरा कुँआ भी उत्खनित किया जाना चाहिये। श्रृँगवेरपुर से प्राप्त जलाशय के तल भाग में कई कुएं बनाये गये थे।

जलाशय को जलापूर्ति विविध माध्यमों से होती थी। अग्निपुराण[28] में उल्लेख है कि नदियों के सिरे को जलाशय की ओर मोड़ा जाता था। लीलावती[29] में जलकुण्डों को भरने के लिये झरनों को नियंत्रित करने का उल्लेख किया गया है। गणित सारसंग्रह[30] में कुण्डों को भरने में लगने वाले समय को निश्चित किये जाने के नियमों का उल्लेख मिलता है क्योंकि जलकुण्ड को विभिन्न धाराओं, प्रणालियों से एक साथ भरा जाता था। कावेरीपट्टनम[31] तथा रोपड़[32] के उत्खनन से जल प्रविष्टि मार्ग प्रकाश में आये हैं जिनकी सहायता से जल, जलाशय में भरा जाता था।

जलाशय के निर्माण के उपरान्त इसके स्थायी जल के स्रोत होने की कामना से विविध अनुष्ठानों का आयोजन कर जल देवों को बलि अर्पित की जाती थी। गृह्यसूत्रों[33] तथा पुराणों[34] में इस अनुष्ठान का उल्लेख मिलता है जिसकी पुष्टि अभिलेखों से भी होती है।

पुरातात्विक उत्खननों में मोहनजोदड़ों, धौलावीरा, श्रृंगवेरपुर, श्रावस्ती, मथुरा, वैशाली आदि स्थानों से जलाशयों के साक्ष्य मिले हैं। इनके निर्माण में प्रयुक्त चिनाई, सिल्टकक्ष, आधार दीवारें, ढलुआ मार्ग, उदकबंध, अतिरिक्त जल निकास मार्ग आदि विशेषताएँ दर्शनीय हैं इससे तत्कालीन प्राविधिक कुशलता की पुष्टि होती है।

इस तरह पुरातनकाल में जलाशयों के निर्माण में प्रयुक्त कार्यकुशलता प्रशंसनीय है। इनकी निर्माण प्रविधि न केवल पुरातन जल अभियान्त्रिकी के सर्वोत्तम स्वरूप को प्रदर्शित करती है अपितु अनेक रूपों में आधुनिक जल अभियान्त्रिकी के मानदण्डों पर भी खरी उतरती है।

संदर्भ :

1. महाभारत–13.99; विष्णु धर्मसूत्र–91.1–2; बृहस्पति स्मृति–1.64–65
2. अर्थशास्त्र–2.3.51
3. बृहस्पति स्मृति–19.8.9
4. सरकार, डी०सी०, 1983, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, भाग–1, दिल्ली, पृ0–340

इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, भाग—23, पृ0—221
एपिग्राफिया इण्डिका, भाग—15, पृ0—306; एपिग्राफिया इण्डिका, भाग—2, पृ0—65

5. मयमत—23.184
6. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, भाग—3, 43.25—31
7. मत्स्य पुराण—270, 28—29
8. मानसार—40.100
9. वृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय—76, पृ0—315
10. अग्निपुराण—121.39
11. अग्निपुराण—282.5—6
12. शिवराम मूर्ति, सी0, एन एलबम ऑफ इण्डियन स्कल्प्चर, दिल्ली, पृ0—5—6
13. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग—2, पृ0—116—130
14. ल्यूर्डस, एच, 1912, ए लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता, ले0नं0—1137
15. वही, ले0नं0—1279
16. एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग—10, नं0—6, पृ0—212
17. राय चौधरी, एस0पी0, 1964, एग्रीकल्चर इन एन्शिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, पृ0—31
18. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग—3, पृ0—20
19. लाल, बी0बी0, 1993, एक्सकेवेशन्स एट श्रृंगवेरपुर, भाग—1, दिल्ली, पृ0—20
20. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग—37, पृ0—1—2
21. मैनुवल ऑफ नार्थ अर्काट डिस्ट्रिक्ट, पृ0—305
22. इतिहास, जर्नल ऑफ द आन्ध्र प्रदेश आर्काइव्स, भाग—1, नं0—1, पृ0—62
23. राय चौधरी, एस0पी0—वही, पृ0—20
24. वृहत्संहिता, 53.118—120
25. वेंकटरामा अय्यर, सी0पी0, 1916, टाउन प्लानिंग इन एन्शिएन्ट डेकन, मद्रास, पृ0—84
26. बिष्ट, आर0एस0, 1994 मई 15, सीक्रेट्स ऑफ वाटर फोर्ट, डाउन टू अर्थ, दिल्ली, पृ0—28
27. मैती, एम0एस0 1998, वाटर मैनेजमेंट एण्ड हाइड्रॉलिक टेक्नोलॉजी इन इंडिया, दिल्ली, पृ0—20
28. अग्निपुराण, 272.4
29. लीलावती, पृ0—39, नं0—95
30. गणित सारसंग्रह—7.32—33
31. इण्डियन आर्कियोलॉजी, 1963—64 ए रिव्यू, पृ0—20
32. घोष ए, 1989, एन एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन आर्कियोलॉजी, भाग—2, दिल्ली, पृ0—380
33. काणे, पी0वी0, 1975, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—1, लखनऊ, पृ0—473
34. अग्निपुराण—64.6—16

****

MkW0 Hkhejko vEcsMdj ,oa mudk jktuhfrd fopkj

MkW0 n;kjke ekS;Z ^jRu^*

बहुमुखी मेधा के धनी डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने भारत की राजनीतिक पद्धति लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा भारत की विशेष परिस्थितियों में संविधान के प्रारूप पर व्यापक ढंग से चिन्तन किया था। उनके राजनीतिक विचारों का सारांश जानना देश के प्रत्येक नागरिक के लिए बौद्धिक और व्यावहरिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होगा।

डॉ0अम्बेडकर का विचार था कि–

(1). संसदीय लोकतंत्र एक सर्वोत्तम राजनीतिक पद्धति है।

(2). संविधान में ही देश की अर्थिक व्यवस्था भी निर्धारित की जानी चाहिए।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था–

''संविधान तैयार करने में हमारा दोहरा उद्देश्य रहा है , एक तो राजनीतिक लोकतंत्र की रूपरेखा को स्थापित करना और दूसरे यह स्थापित करना कि हमारा आदर्श आर्थिक लोकतंत्र हो और यह व्यवस्था कराना की जो भी सरकार सत्ता की बागडोर संभाले एसे आर्थिक लोकतंत्र लाने का प्रयत्न करना होगा।''[1]

निर्देशक सिद्धान्त वाकई बहुमूल्य हैं कि वे व्यवस्था करते हैं कि हमारा आदर्श आर्थिक

(3) राजनीतिक क्षेत्र में 'एक व्यक्ति एक वोट' के अधिकार का परिवर्तन 'एक मनुष्य एक मूल्य' के सिद्धान्त में होना आवश्यक है,दूसरे शब्दों में राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र बनाना अनिवार्य है।

(4) लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब मजबूत विपक्ष हो, चुनाव स्वतंत्र व निष्पक्ष हों, जनता जागरूक हो और संविधान के प्रति व्यावहारिक रूप में पूरा ईमानदारी से नैतिकता दिखाई जाए। और

(5) राजनीतिक यदि यथार्थ नहीं तो यह कुछ भी नहीं है। इसमें शास्त्र विषयक वस्तु नाम मात्र है।[2] '' एक विधान परिषद किसी संग्रहालय से कुछ अधिक है। यह उदाहरणतः एक ऐसा स्थान है जहॉ सामाजिक संघर्ष करने पड़ते है , विशेष अधिकारों को जीतना पड़ता है।''[3]

डॉ0 अम्बेडकर के सिद्धान्तों की व्याख्या –इस प्रकार की जाती हैः

वाल्टर बेजहाट के अनुसार लोकतंत्र की परिभाषा –

'' विचार विमर्श द्वारा चलने वाली सरकार'' लोकतात्रिक सरकार है''

अब्राहम लिंकन के अनुसार लोकतंत्र ऐसी सरकार है–''जनता की हो, जनता द्वारा और जनता के लिए हो '' व्यक्तिगत रूप में मैं लोकतंत्र की व्याख्या अलग ढंग से करता हूँ। जो मेरी राय में कही अधिक ठोस है। यह इस प्रकार है–

'' सरकार का ऐसा स्वरूप और ऐसा तरीका हो जिसके माध्यम से लोगों के आर्थिक व सामाजिक जीवन में बिना किसी खून खराबे के क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सके ।''

फिर मैं कहूँगा कि लोकतंत्र की यही वास्तविक परख है। यह शायद सबसे कठोर परख है। जब तुम

*पूर्व सहजिला विद्यालय निरीक्षक, प्रतापगढ़ (उ0प्र0)।

किसी चीज की गुणवत्ता की परख करने चले हो तो इसकी परख कठोरतम होना जरूरी है। लोकतंत्र सरकार का एक रूप नहीं , यह आदि रूप में आपस में मिल–जुल कर रहने का एक ढंग है। यह अनिवार्य रूप से अपने सहवासी लोगों के प्रति आदर और सम्मान की रूचि है लोकतांत्रिक सरकार के लिये पहली शर्त समाज का लोकतात्रिंक होना है। यदि समाज लोकतंत्र नहीं तो लोकतंत्र के औपचारिक ढांचे की कीमत नहीं है बल्कि परिस्थितियों पर ठीक न बैठने वाली वस्तु होगी। राजनीतिज्ञों ने तो इस तथ्य को जाना ही नहीं कि लोकतंत्र सरकार का स्वरूप नहीं बल्कि निश्चित रूप से समाज का स्वरूप है। लोकतांत्रिक समाज के लिए यह जरूरी नहीं कि इसमें एकता हो, उद्देश्यों की समानता, सार्वजनिक हितों के प्रति निष्ण और परस्पर सहानुभूति प्रमुख हों।

इसमें दो बातों का होना प्रमुख है– एक है मनोवृत्ति –अपने सहवासी लोगों के प्रति आदर और समानता का व्यवहार , दूसरे ऐसी सामाजिक संस्था जिसमें कठोर सामाजिक सीमाएं न हो। लोकतंत्र का निषेधता तथा अलगाववाद से कोई मेल नहीं बल्कि यह परस्पर विरोधी हैं जिसके परिणाम अधिकार युक्त और अधिकार रहित लोगों के मध्य भेद पैदा करना है।

ykdr= dk mn~ns';

'' आधुनिक लोकतंत्र का उद्देश्य किसी निरंकुश राजा पर इतना अंकुश लगाना नहीं अपितु इसका उद्देश्य लोक कल्याण लाना है।''[4]

lQyrk grq n'kk,

डॉ0 अम्बेडकर ने कहा था, ''लोकतंत्र को सफलतापूर्वक चलाने के लिए मेरे विचार में, जो सबसे पहली शर्त है वह यह कि समाज में चौंका देने वाली विषमताएं न हों, कोई पददलित और सताया गया वर्ग न हो, ऐसा भी कोई वर्ग न हो जिसके पास सब अधिकार हों और एक ऐसा वर्ग जिसके उठाने के लिए सब तरह का बोझ हों, ऐसी व्यवस्था, ऐसा विभाजन और समाज की ऐसी ही बनावट में खूनी इन्कलाब के कीटाणु होतें है और शायद लोकतंत्र के लिए इसका उपाय करना असम्भव हो।''

लोकतंत्र के लिए द्वितीय आवश्यक शर्त है– शासन करने का किसी के पास सतत अधिकार न हों, किन्तु यह जनता के अनुमोदन के अधीन हो और उसे सदन में चुनौती दी जा सकती है।

तृतीय बात लोकतंत्र की सफलता की शर्त कही जा सकती है वह है कानून और प्रशासन के समक्ष बराबरी।

चतुर्थशर्त– लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि संवैधानिक नैतिकता के अधीन समाज की स्थिति में सद्व्यवहार हो।

पाँचवी शर्त बताती है कि लोकतंत्र में सार्वजानिक अन्तःकरण हो, अर्थात ऐसा अन्तःकरण जो अन्याय से उत्तेजित हो जाए जो अन्याय का शिकार है उसे मुक्ति दिलाने के लिए सहायता हेतु तैयार हो जाये।[5]

lalnh; ykdr=

संसदीय सरकार पुश्तैनी शासन का प्रतिवाद है। कोई भी व्यक्ति पुश्तैनी शासक होने का दावा नहीं कर सकता। जो कोई भी शासन करना चाहता है उसका समय–समय पर जनता द्वारा चुना जाना आवश्यक है। पुश्तैनी शासन के लिए संसदीय शासन प्रणाली में कोई मान्यता नहीं।

lanHkZ %

1. संविधान सभा में नवम्बर 19, 1949 को भाषण।
2. डॉ0 बाबा साहब अम्बेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज, 1979 खण्ड–1, पृष्ठ 167
3. वहीं, खण्ड –2 पृष्ठ 471
4. Thus Spoke Ambedkar , 1977 vol. I, P.60
5. Thus Spoke Ambedkar , 1977 vol. I, P.48

****

Ckny rs uomnkjoknh ifjis{; esa f'k{kk

Lkanhi*

राजनीतिक विचारधारा की तुलना में उदारवाद का इतिहास ज्यादा लंबा है। प्राथमिक रूप से इसका उभार पदसोपनीय रूप से संगठित सामाजिक और राजनीतिक संबंधों के खिलाफ निरंतर संघर्ष की पृष्ठभूमि में हुआ। मोटे तौर पर उदारवाद तकरीबन पिछले पाँच सौ से चार सौ सालों में मनुष्यों द्वारा किए गए विविध राजनीतिक संघर्षों की विचारधारात्मक रूपरेखा को समेटता है। हालाँकि, कुछ लोग यह दावा करते हैं कि इसकी बुनियाद इतिहास में काफी दूर तक पाई जा सकती है।

सोलहवीं शताब्दी में सामन्तशाही, राजशाही और पोपशाही जैसी मध्ययुगीन व्यवस्था के खिलाफ एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया स्वरूप क्रांतिकारी दर्शन तथा विचारधारा के रूप में उदारवाद का आगमन हुआ, लेकिन बाद के दिनों में यही क्रांतिकारी कहे जाने वाले विचारधारा का स्वरूप समय और परिस्थिति के मुताबिक बदलता गया और अन्ततः यह मुट्ठी भर लोगों के विचारधारा के रूप में स्थापित हो गया है। दूसरे शब्दों में उदारवाद एक ऐसे अस्पष्ट, बौद्धिक, गतिशील, यथास्थिति बुर्जुआई व्यवस्था के समर्थक, गरीब विरोधी, अस्थायी, अनैतिक, अमानवीय धारणा या विचारधारा का नाम है, जिसका स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र विकास के प्रथम चरण से लेकर वर्तमान तक बदलता रहा है। कभी यह पूँजीपतियों के पक्ष में प्रत्यक्ष रूप से सामने आता था तो बाद में सकारात्मक चरणद्ध यह दबी जुबान में पूँजीपतियों के हित की बात की। आगे चलकर मार्क्सवादी तलवार की डर से पूँजीपतियों को बचाने के लिए यह गरीबों के बीच में गरीबों की बोली बोलते देखा गया और लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा का प्रबल समर्थक बन गया है। नब्बे के दशक में सोवियत संघ की साम्यवादी व्यवस्था के ध्वस्त होने और पूँजीवादी देश अमरीका का एक ध्रुवीय शक्ति के रूप में स्थापित होने के बाद यह फिर अपने वास्तविक परम्परागत स्वरूप की ओर बढ़ चला है। जिसे नवउदारवाद का नाम दिया गया है।

इसी आलोक में देश में वर्तमान आर्थिक 'सुधार' और उदारीकरण की लहर से शिक्षा का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा है। पिछले 50 वर्षों में देश में विकसित हुआ। शिक्षा का ढाँचा काफी असंतोषजनक रहा है और इस पर ध्यान आकर्षित करने की कई कोशिशें की गई है। किन्तु सरकार ने नई आर्थिक नीतियों के तहत उसमें सुधार की जरूरत नहीं समझी, बल्कि उसी पुराने ढाँचे पर नई उदारीकरण नीतियाँ एक ऐसा माहौल तैयार कर रहा है जो स्वाभाविक आत्मसातीकरण की ओर उसे ले जा रहा है। सन् 1995–96 में कुछ ही महीनों के दौरान दो बार सरकार बदल जाने के बावजूद, जहाँ एक ओर नवउदारीकरण की नीतियों को लागू करने के प्रयत्न तीव्र एवं धनीभूत हुए हैं, वहीं दूसरी ओर पूराने ढाँचे की अक्षमताएँ अपनी जगह बदस्तूर है। अतः इसी नवउदारवादी परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की वास्तविक अवस्था का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

नवउदारवाद की मूलभूत मान्यताएँ और सम्बन्धित मुद्दे

0;fDrokn %& व्यक्तिवाद, नकारात्मक उदारवाद में कुछ अंशों तक दिखाता हैं जिसमें व्यक्ति की भूमिका केन्द्र में है। अब अगर हम इस परिप्रेक्ष्य में राज्य की भूमिका का मूल्यांकन करें तो यह सीमित अर्थों में व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करता है और यह सीमितता का अन्त आगे जाकर

*शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय ।

नव–उदारवाद में पूरी तरह से स्पष्ट तौर से दिखता है। हालांकि नव उदारवाद के पूर्व सकारात्मक उदारवाद में व्यक्तिवाद ज्यादा मात्रा में सीमित होता है। ऐसे में अगर शिक्षा के स्वरूप के धरातल में देखा जाये तो तीनो स्तरों पर शिक्षा का स्वरूप बदला है, जहाँ नकारात्मक उदारवाद में शिक्षा का स्वरूप राज्य से स्वतंत्र रूप से विकसित होगा वही सकारात्मक उदारवाद में शिक्षा का स्वरूप और क्रियात्मक विधि में राज्य की भूमिका काफी प्रभावित होगी। नव–उदारवाद की बात करें तो शिक्षा व्यक्तिवाद के चरम विकास के आलोक में अपना स्वरूप गढ़ती है।

Lora=rk %& अब यदि स्वतंत्रता के संदर्भ में तीनों चरणों की बात करें तो नकारात्मक उदारवाद के चरण में स्वतंत्रता के आयाम ज्यादा खुले हुए हैं, जिसमें राज्य की भूमिका नगण्य है, पर जैसे हम सकारात्मक उदारवाद में स्वतंत्रता के स्वरूप को तलाशें तो वहाँ राज्य की भूमिका पूर्व के विपरीत अंकुशवादी प्रवृत्ति की दिखती है। वह व्यक्ति की असीमित स्वतंत्रता को सीमित करती है। नव–उदारवाद में राज्य कल्याणकारी दर्शन के वे तत्व जो राज्य सकारात्मक उदारवाद में अंकुशवादी प्रविति के रूप में थे, उसमें वह इस चरण में थोड़ी ढील बरतती है जिससे स्वतंत्रता थोड़ी ज्यादा विस्तृत होती है।

jkT; dh Hkwfedk%&नकारात्मक उदारवाद में राज्य की भूमिका काफी घट जाती है, क्योंकि यह व्यक्तिवाद को ज्यादा तवज्जो दी जाती है। वही सकारात्मक उदारवाद में राज्य की भूमिका तुलनात्मक रूप से काफी बढ़ जाती हैं। ऐसे में शिक्षा की स्वायत्ता और दर्शन दोनों का निर्धारण राज्य अपने अस्तित्व को बनाये रखने के संदर्भ में व्याख्यायित करता है। नव उदारवाद में शिक्षा पूँजीवादी स्वरूप में व्याख्यायित हुई जो पूँजीवादी संस्कृति के विकास के साथ–साथ बाजार के विस्तृत निर्माण में शिक्षा को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया जो आज भी जारी है।

e¶r 0;kikj vkj i¡thoknh vFk0;oLFkk %& नकारात्मक उदारवाद के चरण में यदि अर्थव्यवस्था को देखते हैं तो यह चरण साम्राज्यवादी अवस्था का चरण है, जिसमें मुफ्त व्यापार को बढ़ावा दिया जा रहा है, ताकि व्यापारियों के हित साधित हो और राजनैतिक व्यवस्था के विकास में इनका सहयोग लिया जा सके। अगले चरण में अर्थव्यवस्था व्यापारियों के लाभ के अंश में अपने अंश के इजाफे के लिये राज्य अनेक कार्य करता हुआ दिखता है। वह नवउदारवाद में व्यापारी पुनः अपने व्यापार के विकास के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं और अपने हितों के अनुकूल संस्कृति के विकास में अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के तहत उदारवाद, निजीकरण और भूमंडलीकरण के मॉडल का विकास करते हैं। यहाँ पर उनके लिये सबसे बड़ा सहायक शिक्षा हो सकती है और इस पर निवेश कर वह यह उद्देश्य प्राप्त करने में इसका भरपूर लाभ भी उठाया और लगातार उठाया जा रहा है।

ykdra= %&तीनों चरणों में लोकतंत्र के दर्शन को ढूंढे तो पहले चरण में यानि नकारात्मक उदारवाद में लोकतंत्र की अवस्था यूरोप व भारत में भिन्न–भिन्न देखी जा सकती है। उस समय यूरोप में लोकतंत्र दिखता है, पर भारत में उपनिवेशिक सत्ता रूपी शासन व्यवस्था चलाये मान थी, जिसमें लोकतंत्र की आत्मा आ नहीं सकती थी, क्योंकि शिक्षा का स्वरूप का निर्धारण उपनिवेशिक सत्ता के हाथों में था और वह अपने राज्य को मजबूत करने वाले अधिकारी वर्ग के निर्माण में लगा हुआ था। सकारात्मक उदारवाद के चरण में यूरोप में जहाँ लोकतंत्र मजबूत हुआ है वही भारत में यूरोपीय शिक्षा व्यवस्था से उत्पन्न ज्ञान से अवगत होने के पश्चात् भारत के भी सीमित वर्गों में लोकतंत्र के दर्शन का विकास हुआ जो उनके क्रमगत राजनीतिक मांग से स्पष्ट होती है। कालांतर में देश आजाद होता है, देश में लोकतंत्र की व्यवस्था आती है और यहाँ नवउदारवाद अपने आर्थिक हितों को बनाये और बढ़ाने दोनों के उद्देश्यों में शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन लाकर लोकतंत्र के विकास के साथ अपने हितों को साधता है और वर्तमान में यह प्रक्रिया जारी है।

lerk vkj ekfyd vf/kdkj %& नकारात्मक उदारवाद के चरण में लॉक के प्रकृतिक अधिकारों की महत्ता दिखती है जिसमें अधिकारों की असीमितता भी है, क्योंकि वह लिखित रूप में नहीं थी, पर जैसे ही हम सकारात्मक उदारवाद में प्रवेश करते हैं उस समय स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व दर्शन का प्रवेश राजनीतिक व सामाजिक खेमे में प्रवेश करती है जो राजनैतिक स्तर में व्यक्ति को मौलिक अधिकार

प्रदान करता है, पर जैसे ही हम नवउदारवादी चरण में प्रवेश करते हैं तो यहाँ पर मौलिक अधिकार के नाम पर यह अधिकार प्रदान किये गये हैं जो समता लाने पर आधरित है पर समता लाने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिय असमानता रूपी व्यवहार (Affirmative Action) तार्किक रूप से किये जाने का प्रयास करता है। गहराई से देखा जाये तो इसकी आड़ में वह अधिकतम लाभ कुछ वर्ग तक ही सीमित बना रहे और उसमें बढ़ोतरी होती रहे। इसी आधार पर समता और मौलिक अधिकार जैसे दर्शन को शिक्षा के माध्यम से आम जनों तक सीमित कर पहुंचाया जाता है।

jktuhfrd lgHkkfxrk %&नकारात्मक उदारवाद में राजनीतिक सहभागिता बहुत ही सीमित वर्गों तक थी यथा शिक्षित वर्ग। वही सकारात्मक उदारवाद में राजनीतिक सहभागिता के बिन्दु पर यदि विचार किया जाये तो वहाँ राजनीतिक सहभागिता के स्तर पर विस्तार को देखा जा सकता है। पर यदि विस्तृत सहभागिता की बात करें तो यह नव उदारवाद में सबसे ज्यादा देखी जा सकती है। यहाँ राजनीतिक सहभागिता शिक्षित वर्ग के साथ–साथ महिला, विक्लांग, वृद्ध इत्यादि को विस्तृत स्तर पर प्राप्त होती है। यहाँ पर शिक्षा की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि यही वह हथियार/साधन है जिसके माध्यम से मानसिकता का निर्माण किया जाता है, जिसके धरातल पर ही अधिकार राजनीतिक सहभागिता, कर्तव्य, उत्तरदायित्व जैसे पौधे पनपते हैं।

dY;k.kdkjh jkT; %&नकारात्मक उदारवाद में कल्याणकारी राज्य की संकल्पना घोषित रूप में नहीं दिखती है, पर इसके तत्व गैर भाषित रूप में समाज में दिखते हैं। पर जैसे ही सकारात्मक उदारवाद में प्रवेश करते हैं, तो कल्याणकारी राज्य के दर्शन घोषित रूप में भी और भाषित रूप में भी व्याख्यायित होते हैं। जिसमें राज्य अनेक कल्याणकारी कार्य करते हुए दिखता है। जिसमें समाज बहुत बड़े वर्ग के आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करता है और एक कल्याणकारी राज्य के रूप में राज्य को देखा जा सकता है। पर वही नवउदारवादी परिप्रेक्ष्य में यह कल्याणकारी कार्य तो दिखता है पर यहाँ बहुसंख्यकों के हित के बजाये पूँजीवादी दर्शन के विकास और विस्तार के लिये कल्याणकारी राज्य के कार्य को कवच के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इसमें शिक्षा की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है, जिसमें राज्य की भूमिका और पूंजीपतियों के बीच गठजोड़ और इनके हितों के रूप में देखा जा सकता है।

uomnkjoknh f'k{kk dh /kj.kk fo'o d: lnHk: e:

शिक्षा के क्षेत्र में जिस तरह के बदलाव लाए जा रहे है, ये सब पिछले 20–30 साल लगभग से नीति के साथ चली आ रही नवउदारवादी रूपी पॉलिसी इंजीनियरिंग का परिणाम है। उदाहरण के लिए 1970 के दशक के आरम्भ में दुनिया के कुछ सबसे बड़े कॉपोरेशनों के मुख्य प्रभारी अधिकारियों सीईओ ने बड़े औद्योगिक देशों के राजनेताओं से चुपचाप बैठकों का सिलसिला शुरू किया, जिससे आगे चलकर 'ट्राइलेटरल कमीशन' त्रिपक्षीय आयोग बना। इसका लक्ष्य सरकारों की भूमिका को नई विश्व अर्थव्यवस्था के युग में नव–उदारवादी विचारधरा के अनुरूप पुनर्भाषित करना था।

इस 'त्रिपक्षीय आयोग'का मुख्य परिणाम रहा है कि नई वैश्विक व्यवस्था के लिए सामाजिक और राजनीतिक एजेंडे रचने के उद्देश्य से विभिन्न आर्थिक अंचलों में इकॉनॉमिक जोन में विशाल व्यापारिक गठबंधन स्थापित हुए।

पूर्वी और मध्य यूरोप के कई उदीयमान राष्ट्र आज अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के इसी तरह के मार्गदर्शन में काम कर रहे हैं। जैसे, 20 खरब डालर के विदेशी कर्ज में डूबे हंगरी को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने सार्वजनिक सेवाओं और विशेषकर शिक्षा के खर्च में कटौती करने का निर्देश दिया। वर्ष 1991 में उनकी शिक्षा मंत्री ने हंगरी शिक्षक संघ को लिखकर सूचित किया कि विश्व बैंक उनके देश की सार्वजनिक शिक्षा को 'पुनः संरचित' करने के लिए सलाहकारों का एक दल भेज रहा है। फिर विश्व बैंक ने हंगरी सार्वजनिक शिक्षा की यह कहते हुए आलोचना की है कि उसमें 'आवश्यकता से अधिक स्टॉफ'भरा है।

वहीं पर मैक्सिको में कभी ऐसी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली लागू थी जिसमें सभी छात्रों को शिक्षा समान रूप से सुलभ थी और उसमें ऐसे शिक्षक नियुक्त थे, जिनकी इस भूमंडल पर सबसे शक्तिशाली यूनियन थी। ज्यादातर शिक्षक खेतिहर मूल के थे और भूमि सुधार और मैक्सिकी जीवन के लोकतंत्रीकरण के अन्य प्रयासों के प्रति बहुत कटिबद्ध थे। मगर इसी मैक्सिको ने कर्ज के बदले विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के आदेश से और उनकी निगरानी में सबसे पहले सामाजिक क्षेत्र में सुधारों की शुरूआत की। शिक्षकों के वेतन पहले से ही कम थे, फिर भी आधी कटौती और कर दी गई। उद्योग जगत की जरूरतों को पूरा करने के लिए शिक्षा का कायाकल्प करने के उद्देश्य से उद्योग स्कूल साझेदारी ;सार्वजनिक–निजी साझेदारीद्ध स्थापित हो गई और इसके बाद सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली छिन्न भिन्न होनी शुरू हो गई।

हाल के बरसों में कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका और मैक्सिकों के बीच जोमुपत व्यापार समझौते हुए हैं उन्होंने इन देशों की शिक्षा नीति के विकास और उनकी राष्ट्रीय पहचान पर भारी प्रभाव डाला है। इस सिलसिले में उत्तरी अमरीका मुपतव्यापार समझौते रूपी नवउदारवादी नीति के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। इसका एक पहलू 'राष्ट्रीय ब' वाला भाग है, जो कहता है कि एक दूसरे के देशों में कार्य करने वाली कंपनियों को भी वही अधिकार और विशेषाधिकार मिलने चाहिए जो राष्ट्रीय नागरिकों और व्यापारियों को मिलते हैं।

उदाहरण के लिए जब अमरीका की पूंजीवादी नीति के तहत भारी वित्तपोषित कंपनियाँ आई तो कनाडाई शिक्षा के पहलुओं का अधिग्रहण करने के लिए स्पर्धा बढ़ी तो इसमें कनाडाइयों के साथ किसी तरह का विशेष बर्ताव न हो या उन्हें किसी प्रकार की सुरक्षा न मिले। जैसा कि कैलिवर्त और कुरान, 1993 में बताते हैं कि, इसके फलस्वरूप कनाडाई शिक्षा का अपरिहार्य रूप से 'अमरीकीकरण' होगा। यह बात 'नाफ्रटा' के एक अन्य प्रमुख प्रावधान को देखते हुए सच लगती है, जिसके तहत यह सुनिश्चित किया गया है कि अगर किसी सार्वजनिक संस्थान का निजीकरण कर दिया गया है तो उसे तब तक सरकारी नियंत्रण में नहीं लौटाया जा सकताए जब तक जिस निजी हित से नियंत्रण वापस लिया जा रहा है उसे कानून के तहत 'जायज मुआवजा' न दिया गया हो। इस तरह हम सिर्फ वित्तीय कारणों से ही देखें तो इस तरह की संभावना की कल्पना करना भी कठिन लगता है। कनाडा के ब्रिटिश कोलंबिया प्रांत का निम्न उदाहरण ज्ञानवर्धक हो सकता है।

प्रांतीय सरकार ने 1990 के दशक के आरंभ में कनाडा की एक स्थानीय निजी फर्म को हाईस्कूल परीक्षाओं के संचालन का ठेका दे दिया। लेकिन इस स्थानीय फर्म का ठेका समाप्त होने पर नाफ्रटा के अन्तर्गत ठेके के लिए खुले बाजार से निविदाएं आमंत्रित की जायेंगी। इसका सीधा सा मतलब यह है कि कोई भी अमरीकी कंपनी कनाडा के छात्रों की कनाडा के इतिहास और उसकी संस्कृति में परीक्षा लेने की स्थिति में होगी। बार्ले और रॉबर्टसन, 1994, पृ. 101

प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा कॉरपोरेट शक्ति और मुफ्त बाजार दर्शन के निशाने पर है, तो तृतीय; माध्यमिकोत्तरद्ध शिक्षा में बदलाव लाने के जो प्रयास किए जा रहे है वो कम क्रांतिकारी नहीं। उत्तरी अमरीका में 'सेफ' यानी 'यूनाइटेड्स स्टेटस बिजनेस हायर एजुकेशन फोरम' ;संयुक्त राज्य अमरीकी व्यापार का उच्च शिक्षा मंचद्ध और 'केनेडियन हायर एजुकेशन फोरम' शेफ अमरीका और कनाडा के व्यापार गठबंधन की उपज है। ये दोनों मंच दो मुख्य कॉरपोरेट लॉबी समूह है, जो नव उदारवादी आर्थिक भूमण्डलीकरण के स्वप्न को साकार करने की दिशा में विश्वविद्यालयी शिक्षा की दिशा बदलने के लिए प्रयासरत हैं।

'येफ' और 'शेफ' दोनों ने कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका और मैक्सिको के बीच त्रिराष्ट्रीय सम्मेलनों की श्रृंखला स्थापित कर उत्तरी अमरीका में एक तरह का साझा शैक्षिक बाजार खड़ा करने का काम किया है। अमरीका की सूचना एजेंसी के अनुसार इन सम्मेलनों का प्रयोजन उच्च शिक्षा कार्यक्रमों और परियोजनाओं के लिए यह कांसोर्शियम – स्थापित करने का आह्वान करता है ताकि तीनो देशों के अलग–अलग कॉरपोरेट नागरिकों की सदस्यता के माध्यम से निजी क्षेत्र से धन की व्यवस्था सुनिश्चित

हो, जिसे शोध और प्रशिक्षण संबंधी ऐसी पहलों के कार्यान्वयन पर खर्च किया जाए तो कॉरपोरेट और उच्च शिक्षा जगत दोनों के लिए मूल्यवान हो। बार्लो और रॉर्बट्सन, 1994, पृ. 108

इस पहल में नवउदारवादी नीतियों के तहत कनाडा में भागीदारी उसके विदेशी मंत्रालय की देख.रेख में हो रही है जो सरकारी सहयोग का स्पष्ट संकेत है। 'नाफ्रटा' के तहत समझौते किए जा चुके हैं, जिनमें पाठ्यक्रम में साझे सुधार, शिक्षकों के आदान–प्रदान और तकनीकी प्रेरित मुफ्त बाजार मॉडलों के अनुरूप शिक्षकों के विकास के लिए शिक्षा कार्यक्रमों में पुनर्निर्माण के लिए उदारवादी नीतियों के अनुरूप रजामंदी का रास्ता खुल गया है।

Hkkjrh; lanHkZ esa

आधुनिक भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उदारवादी धारा मुख्यतः ब्रिटिश उदारवाद की मान्यताओं से प्रेरित है। इसके अन्तर्गत ऐसी समाज व्यवस्था की मांग की जाती है जिसमें व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास का अधिक से अधिक अवसर मिल सके। इसमें यह विश्वास किया जाता है कि किसी समाज में व्यक्ति को आत्मनिर्णय के लिए जितनी स्वतंत्रता प्राप्त होगी, वह समाज उतनी ही प्रगति कर पाएगा।

आधुनिक भारत के उदारवादी विचारकों ने इस मान्यता को अपनाकर भारतीय परंपरा एवं समाज व्यवस्था की आलोचना शुरू की। उनका विचार था कि भारतीय परंपरा के अंतर्गत व्यक्ति और समाज का परस्पर संबंध तर्कसंगत आधार पर स्थापित नहीं किया गया था। इसमें समाज को प्रधान मानते हुए व्यक्ति की स्थिति गौण हो गई थी। यही भारत की अधोगति का मूल कारण था। समाज में व्यक्ति की स्थिति के प्रति इस उदासीनता ने ही प्राचीन भारत की महान सभ्यता को पतन के गर्त में धकेल दिया था। उदारवादियों का विश्वास था कि जब तक पश्चिमी शिक्षा आधारित तर्क बुद्धि के आधार पर भारत के सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण नहीं किया जाता, तब तक भारत न तो स्वतंत्र अनुभव कर सकता है न महान ही बन सकता है। इन विचारकों के दृष्टिकोण के अनुसार भारत की सदियों पुरानी गुलामी के बीज उनकी समाज व्यवस्था में निहित थे। उसे अपनी इस स्वाभाविक दासता से मुक्त कराने के लिए यूरोप के धर्म सुधार जैसे महान् परिवर्तन की जरूरत थी।

अतः इन उदारवादियों ने संपूर्ण सामाजिक संगठन को ऐसे नए रूप में ढालने की वकालत की जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय की ज्यादा से ज्यादा गुंजाइश हो जिसका विकास पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था द्वारा सम्भव था।

अधिकांश उदारवादियों ने भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन को सामाजिक पुनर्निर्माण के एक अवसर के रूप में देखा। उन्होंने अंग्रेजों की आधुनिकता को प्रतीक मानते हुए भारत में अंग्रेजी राज को अंधविश्वास, कुरीतियों, निर्धनता और अज्ञानता से मुक्त कराने के ध्येय से ब्रिटिश शासन की शिक्षा व्यवस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्हें आशा थी कि वे अंग्रेजों के मन में न्याय भावना को जगाकर भारत के सामाजिक पुनर्निर्माण का लक्ष्य पूरा कर लेंगे। भारतीय उदारवादियों का सबसे बड़ा सपना यह था कि वे विदेशी शासन रूपी शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को अनोखा रूप देकर पूर्ण स्वतंत्रता रूपी स्वप्न की प्राप्ति कर पाये।

^^vktknh@Lora=rk i'pkr~ Hkkjr esa f'k{kk uhfr ij uo mnkjokn dk izHkko**

1. पहला काल 1947–1968:– राज्य–समर्थित पूँजीवाद का निश्चित चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्रए निजीक्षेत्र पर हावी था।
2. दूसरा काल 1968–1991:–राज्य समर्थित पूँजीवाद का संकटकालीन चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र का संतुलन बदल रहा था।
3. तीसरा काल 1991–आज तक के वर्तमान समय तक:– राज्य समर्थित पूँजीवाद का नवउदारवादी चरण जिसमें निजी क्षेत्र वैश्विक बाजार के जरिए सार्वजनिक क्षेत्र पर हावी है।

पहले काल के दौरान बुर्जुआ शासक वर्ग अर्थव्यवस्था पर अपने नियंत्रिण को लेकर पूरी तरह निश्चित था और इसलिए आम जनता की आकांक्षाओं को अनदेखा करते हुए सारा फोकस उच्च शिक्षा पर रहा, थोड़ बहुत माध्यमिक शिक्षा पर भी। लेकिन पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर आठवीं कक्षा तक की

प्रारंभिक शिक्षा को पूर्ण रूप से नजर अंदाज किया गया। उच्च शिक्षा में भी मैकाले के सिद्धांत के अनुसार ऐसी शिक्षा ही दी गई जो उस दौर के सरकारी पूँजीवाद के तहत हो रहे सीमित औद्योगीकरण और नौकरशाही के लिए उपयोगी लोग तैयार करें, न कि गरीबी, गैर–बराबरी और पिछड़ेपन जैसी समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए या एक सच्चा लोकतंत्र खड़ा करने के लिए। इसके चलते संविधान में सन् 1960 तक 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को मुफ्त शिक्षा देने का निर्देशित लक्ष्य हाशिए पर चला गया। जब बुनियाद इतनी कमजोर होगी तो क्या इमारत हवा में लटकेगी? शासक वर्ग की नींद तब टूटी जब साठ के दशक की शुरूआत से ही अनाज का भारी संकट पड़ा और बड़ी तादाद में इसका आयात करना पड़ा। विदेशी मुद्रा के लाले पड़ गए साथ ही चीन का भारत पर आक्रमण तब 1964 में कोठारी शिक्षा आयोग का गठन हुआ और उसको इस संकट से जूझने के लिए कैसी शिक्षा व्यवस्था हो, इस प्रश्न पर विचार करने को कहा गया।

कोठारी आयोग की रपट सन् 1966 में आई और इसके नाम पर सन् 1968 की पहली शिक्षा नीति बनी। मुख्यतः आयोग ने तीन प्रकार की संस्तुति की थी। पहली, सभी बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने के लिए सार्वजनिक धन पर चलने वाली पड़ोसी स्कूल की कल्पना पर आध ारित समान स्कूल प्रणाली का निर्माण। दूसरी, स्कूली और उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या में एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समतामूलक एवं प्रबुद्ध समाज के निर्माण हेतु नागरिक तैयार करने पर जोर। आयोग के विचार में इसके लिए पाठ्यचर्या का रिश्ता वैज्ञानिक सोच, उत्पादक काम, शोध और ज्ञान सृजन से जोड़ना जरूरी होगा। तीसरी, शिक्षा पर किए जाने वाले खर्च को इस प्रकार बढ़ाया जाए कि वह सन् 1986 तक सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 फीसदी हो जाए और फिर इसे इस स्तर पर बरकरार रखा जाए।

यहाँ से शुरू होता है दूसरा काल। अगले बीस वर्षों में आयोग की सिफारिशों के अनुसार कुछ प्रयास जरूर हुए, खासकर 10+2+3 का ढाँचा खड़ा करने का लेकिन समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल के प्रस्ताव को पूरी तरह खारिज कर दिया गया। इसी प्रकार शिक्षा पर खर्च बहुत धीमी गति से बढ़ा और सन् 1986 में यह सकल राष्ट्रीय उत्पाद के महज 3.5 फीसदी तक ही पहुँच पाया था। शोध और ज्ञान सृजन के नाम पर उच्च शिक्षा के केवल कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों में सुविधाओं को केंद्रित किया गया जबकि अधिकांश की उपेक्षा हुई। पाठ्यचर्या में वैज्ञानिक सोच और उत्पादक काम को जोड़ने की बात तो मखौल बन गई।

अस्सी के दशक की शुरूआत में देश की शिक्षा एक बार फिर संकट से घिर गई चूंकि भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने दुनिया की दो नई चुनौतियाँ थी। एक चुनौती थी विश्व स्तर पर पूँजीवाद के नए संकट की यह संकट बढ़ते क्रम में सिकुड़ते बाजार और सीमित होते प्राकृतिक संसाधनों का था। इसके कारण दुनिया की बड़ी पूँजीवादी ताकतें अन्य देशों के बाजार व संसाधनों पर नियंत्रण करने की रणनीति अपना रही थी जिसका असर लातीनी अमरीका और अफ्रीकी मुल्कों पर दिख रहा था।
दूसरी चुनौतियों ने भारत सरकार को नई शिक्षा नीति बनाने के लिए मजबूर किया। यह आसान काम नहीं था। एक ओर तब तक हावी सरकार द्वारा समर्थित पूँजीवाद की जरूरतों का दबाव था और दूसरी ओर दुनिया के स्तर पर पूँजीवाद पर वित्तीय पूँजी वित्तीय पूँजी वह पूँजी है जिसका निर्माण औद्योगिक पूँजी और से बैंकिग पूँजी के एक दूसरे के साथ विलय से होता है। की बढ़ती हुई पकड़ का। इन विरोधाभासी दबावों का सामना करने के लिए सन् 1986 की शिक्षा नीति बनी जो न तो इस चुनौती पर खरी उतरी और न ही देश की जरूरतों की कसौटी पर। इसके चलते शिक्षा में विषमताएं बढ़ी। पहली बार स्कूल शिक्षा की जगह गरीब बच्चों कुल बच्चो के दो–तिहाई के लिए घटिया औपचारिकेत्तर शिक्षा एन एफ ई और मुठ्ठीभर बच्चों के लिए अभिजात नवोदय विद्यालय की समानांतर परतें बिछाने की नीति का जन्म इसी दौर में हुआ।

अभिजात तबके को संतुष्ट करने के लिए कुछ कदम जरूर उठाए गए लेकिन कुल मिलाकर नीति दिशाहीनता से ग्रस्त रही। आने वाले नवउदारवादी दौर के पूर्वाभास के चलते साक्षरता मिशन,

स्वायत कॉलेज, स्कूली शिक्षा में विदेशी घुसपैठ और विश्व बैंक के साथ वार्ता जैसे कदम उठाए गए। संविधान और संसद की नीति निर्माण में भूमिका बनी रही।

तीसरे काल की शुरूआत सन् 1991 से होती है जब भारत सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्विक पूँजी और मुफ्रत बाजार के लिए बेरोकटोक खोल दिए। यह भारत को दुनिया की वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था से जोड़ने वाले वैश्वीकरण की नीति थी। शिक्षा समेत विकास के हर पहलू पर अंतर्राष्ट्रीय पहलू है। एक को हम संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के नाम से जानते है जिसके तहत भारत सरकार को शिक्षा स्वास्थ और जन–कल्याण के तमाम क्षेत्रों में खर्च कम करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

दूसरा पहलू है ज्ञान के चरित्र से जुड़ा हुआ। शिक्षा जिस ज्ञान को बढ़ाएगी वह ज्ञान आम जनता की जरूरतों के लिए होगा या वैश्विक पूँजी और मुक्त बाजार की जरूरतों के लिए? इन दोनों जरूरतों में बुनियादी टकराव है, खासकर इसलिए चूंकि वैश्विक पूँजी को उसके संकट से उबारने के लिए जिस मुक्त बाजारवाद के सिद्धांत को लागू किया गया वह ज्ञान पर पूरा नियंत्रण किए बगैर आगे बढ़ ही नहीं सकता था। उसके लिए यह भी जरूरी था कि नर्सरी से लेकर इंजीनियरिंग–मेडिकल शिक्षा तक जो कुछ पढ़ाया जाए वह उपभोक्तावादी मुक्त बाजार की गुलामी करने वाला जनमानस तैयार करे। इसके अलावा केवल उतने ही लोगो को ऊँची गुणवत्ता की शिक्षा मिले जितनों की जरूरत वैश्विक पूँजी को अपने कारोबार के लिए है। शेष लोगों को या तो महज साक्षरता तक ही निर्मित कर दिया जाएगा या फिर उन्हें ऐसे कौशल दिए जाएँगे जिनसे वे नए बाजार के लिए आवश्यक निम्न–स्तरीय काम कर सकें। सदगोपालए अनिल

एक और मंहगी फीस वाले अभिजात संस्कृति के स्कूल खुलने की रफ्रतार तेज हुई तो दूसरी और स्कूली शिक्षा से सरकार द्वारा अपना पल्ला झाड़ने की नीति के चलते बहु–परती शिक्षा व्यवस्था उभरकर आई यानि हर तबके को उसके सामाजिक दर्जे और आर्थिक हैसियत के अनुसार शिक्षा मिलेगी। इस दौर में पाठ्यचर्या में धर्मिक कट्टरवाद और साम्प्रदायिकता को भी बढ़ावा मिला। ऐसा क्यों हुआ, यह समझना जरूरी है।

नवउदारवादी नीतियों ने शिक्षा के निजीकरण का अपना मकसद पूरा करने के लिए डी.पी.ई.पी. और सर्व शिक्षा अभियान जैसे काम किए जिनसे सरकारी स्कूल की विश्वसनीयता में तेजी से गिरावट आई। पिछले बीस वर्षो में समाज को इस विषमतामूलक शिक्षा के द्वारा विभाजित करने का एजेंडा भारत पर निर्दयतापूर्वक थोपा गया है। इसकी निर्णय प्रक्रिया में संसद हाशिए पर चली गई है। संविधान को ताक पर रख दिया गया है। अब भारत की शिक्षा नीति आई.एम.एफ, विश्व बैंक के मुख्यालयों में गढ़ी जा रही है, न कि हमारे संसद भवन में। इस इतिहास के मद्देनज़र हम कैसे अपेक्षा करे कि देश की शिक्षा आम जनता की आकांक्षाओं को पूरा करेगी? उपयुक्त नवउदारवादी समझ, इसकी विशेषताएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय एवम् भारतीय शिक्षा पर इसके पड़ने वाले प्रभाव अनेकों प्रश्न को जन्म देते हैं जिनकी पड़ताल करना आवश्यक है।

l:nHk: %

अंग्रेजी वर्णमाला के उच्चारण स्वर के अनुसार प्रबंधिता

1. Alkin, Marvin C. (1992). Encyclopedia of educational research (Vol.2). New York : Macmillan Publishing.
2. Anand Alkshmy, S. (1998). Forward, Public Report on Basic Education in India.Delhi : Oxford University Press.
3. Desai, Dinker D. (1938). Primary Education in India, Servant of India? Society, Giragaum, Bombay Forward.
4. Govt. of India (1960).Annual Report 1959-1960? Ministry of Education.Retrieved September 13, 2013, fromhttp://www.education.nic.in/cd50year/12/8i/6q/toc.htm

****

0;X; d i[kj i.krk Jhyky 'kDy
¼;gk l ogk] tgkyr d ipkl lky½

vuhrk noh*

व्यंग्य के प्रखर प्रणेता श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित 'यहां से वहां' नामक व्यंग्य संग्रह के प्रथम संस्करण का प्रकाशन 1969 ई0 में तथा दूसरी आवृत्ति का प्रकाशन राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से 2012 ई0 में हुआ है। इसमें कुल 19 व्यंग्य अलग–अलग शीषर्कों के माध्यम से 140 पृष्ठों में संकलित है। शुक्ल जी के व्यंग्य लेखन के संबंध में रघुवीर सहाय जी का मानना है कि "व्यंग्य के मारे बेचारे हिन्दी में गद्य लिखते हैं जिसने पिछले पचास वर्षों के साहित्य को कुछ ऐसा सवर्ण बनाकर छोड़ दिया है कि कुछ भी करो व्यंग्य को वहां अनुसूचित जाति का ही दर्जा मिलता है।"

'लखनऊ' नामक व्यंग्य में कुछ मित्रों के बातचीत के माध्यम से लखनऊ शहर के हो रहे आधुनिकीकरण, साधुओं और बाबाओं के बढ़ते आतंक, लेखक का इन सबके बीच अपना अनुभव, अश्लील विज्ञापनों की चमक–दमक और वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देती व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

'एक हारे हुए नेता का इंटरव्यू' यह व्यंग्य पत्रकार को आधार बनाकर मैं शैली में लिखा गया है। इसमें एक नेता को राजनीति में हारे जाने के बाद नेपोलियन के प्रतीक के रूप में रखा गया है। जिसमें ग्रहों–नक्षत्रों के चक्कर में पड़ने वाले नेताओं की व्याकुलता पर व्यंग्य किया गया है।

'जीवन का एक सुखी दिन' में एक शिक्षक के माध्यम से कार्यमुक्त दिन को सबसे सुखी दिन मानकर अनावश्यक कार्य एवं एकांकी जीवनयापन पर व्यंग्य किया गया है।

'एक खानदानी नौजवान' में नये–नये हुए एक डाक्टर के ऐयासी के माध्यम से इस घटना पर व्यंग्य किया गया है कि एक खानदानी नौजवान चाहे जो कुछ भी करे लेकिन शादी वह अपने मां–बाप की मर्जी से ही करता है।

'भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ' में बौद्ध कालीन संस्कृति और सम्राट अशोक के समय के इतिहास के उदाहरण के माध्यम से मुगलकाल में स्थापित स्थापत्य कला और वास्तुकला, को केन्द्र में रखकर सम–सामयिक साहित्य और राजाओं के विलासितापूर्ण जीवन पर व्यंग्य किया गया है।

'एक पद्मभूषण का अभिनन्दन' में साहित्य के क्षेत्र में चल रहे दिखावे और घोटाले पर व्यंग्य किया गया है।

'खलनायक की कहानी' में पति और प्रेमी पर व्यंग्य किया गया है।

'हम वहशी नहीं हैं : एक परिसंवाद' में जस्टिस कार्नेलियस के न्याय पद्धति को केन्द्र में रखकर भारतीय दण्ड संहिता पर व्यंग्य किया गया है।

'यहां से वहां' में नगरीय विकास और उन्नति पर व्यंग्य किया गया है।

'नसीहतें' मैं शैली के माध्यम से बातूनी मियां के माध्यम से दूसरों को नसीहत देने वाले व्यक्तियों पर व्यंग्य किया गया है।

'हमारे विचित्र पशु–पक्षी' में चिड़ियां घर और संग्रहालय में सफाई कर्मी पद पर कार्यरत दलित महिला के माध्यम से, जातिवाद के कारण मानव का मानव के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहारों पर व्यंग्य किया गया है।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

'बेचारे डाकू' में शुक्ल जी ने 'साकेत' के नवम् सर्ग में वर्णित मैथिलीशरण गुप्त की कविता के माध्यम से गांवों में आये डाकूओं व पुलिस के अनसुलझे खेल पर व्यंग्य किया गया है।

'जैसी करनी वैसी भरनी : एक बोध कथा' में रेलवे से अवकाश प्राप्त माल–बाबू के उपदेश परख कहानी के माध्यम जैसी करनी वैसी भरनी तथा इसके समानार्थी कहावतों पर व्यंग्य किया गया है।

'मृत्यु एक दिग्दार्शनिक निबंध' में मृत्यु पद्धति में ह्रदय आघात और मस्तिष्क आघात को केन्द्र में रखकर हवाई दुर्घटना के साथ–साथ महापुरूषों के द्वारा योग पद्धति से शरीर त्यागने पर व्यक्ति कैसे इस लोक से उस लोक में गया है लोगों के इन्हीं विचारों पर व्यंग्य किया गया है।

'देवता–पुराने और नये' में धार्मिक स्थलों पर आये विदेशी पर्यटकों के आकर्षण के कारण जनता का ध्यान देवताओं की ओर से विमुख होकर पर्यटकों पर टिक जाता है। जिसके कारण देवताएं कुछ समय के लिए पुराने से प्रतीत होने लगते हैं पर व्यंग्य किया गया है।

'एक मुकदमा' में अदालत में चल रहे जिरह के माध्यम से तथ्य और परिस्थितियों पर व्यंग्य किया गया है।

'कुत्ते और कुत्ते' में बड़े अफसरों और लोगों के अंदर बढ़ते कुत्तों के प्रति आकर्षण पर व्यंग्य किया गया है।

'भविष्य निर्माण का कारखाना' में एकांकी के माध्यम से, रेस्टोरेंट को केन्द्र में रखकर युवावर्ग द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में स्वभविष्य निर्माण करने की व्यवस्था पर प्रहार किया गया है।

'विदेशी–भ्रमण पर' यह निबंध शुक्ल जी विदेश यात्रा पर गये अपने मित्र के पत्र के जवाब के रूप में लिखते हैं। जिसमें मित्र के मूल निवास स्थान से लेकर विदेश यात्रा वृत्तांत पर व्यंग्य किया गया है।

'राजनीति और रेलगाड़ी पर' में राजनीति और रेलगाड़ी के पूरक अव्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

'अपने आदमियों पर' में विभिन्न क्षेत्रों में आदमीवाद पर शुक्लजी ने पत्र के माध्यम से व्यंग्य किया है।

'एक शोक–प्रस्ताव पर' में मासिक पत्रिका में छपे शोक सभा को पढ़कर, पत्र के माध्यम से शोक सभाओं पर होने वाले राजनीति पर व्यंग्य किया गया है।

उपर्युक्त व्यंग्य निबंधों में टूटे मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहे विचारों को चित्रित किया गया है।

श्रीलाल शुक्ल द्वारा रचित 'जहालत के पचास साल' नामक व्यंग्य संग्रह का प्रथम संस्करण–2004 में तथा इसकी पांचवी आवृत्ति जून 2014 में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। जिसमें कुल 100 व्यंग्य निबंध अलग–अलग शीर्षकों से कुल 428 पृष्ठों में संकलित है। जो स्वतंत्र भारत के महान से महान व्यक्तियों, संस्थाओं, अवधारणाओं, घोषणाओं और नारों की गलतियों को भेंदती है, जिसके कारण लोकतंत्रिय भारतीय समाज, सभ्यता और संस्कृति भेदी हुई हैं। जो निम्नलिखित शीर्षकों में दिखाई देता है।

'अगली शताब्दी का शहर' में द्वारिकापुरी निर्माण को प्रतीक के रूप में रखकर मंत्रियों और नेताओं के द्वारा अपने–अपने लोगों के नाम पर निर्माण कराये जाने वाले परियोजनाओं, सरकारी आवासीय निर्माण योजना के तहत् घट रहे पेड़ों की संख्याा के कारण हो रहे पर्यावरण विघटन, सरकारी आवासीय क्षेत्रों के सड़कों पर घूम रहें आवारा पशुओं के कारण हो रहे दुर्घटनाओं और सरकारी परियोजनाओं का नामकरण के प्रश्नों पर व्यंग्य किया गया है।

'कुन्ती देवी का झोला' में बसन्त माह के सुहावने प्रभात का वर्णन है जिसका प्रारंभ हिम्मतपुरा गांव से होता है। जिसके केन्द्र में कुन्ती देवी और पांच डाकू थें। गांव वालों की संख्सा अज्ञात है। प्रतीक के रूप में नादिरशाह के द्वारा शहंशाह मुहम्मद शाह से कोहेनूर हीरा हासिल करने की घटना

को केन्द्र में रखकर, कुन्ती देवी के खोये हुये झोले का पता लगाना है। जिसमें पांच लाख रूपया भी है। जिसके लिए गांव के डाकूओं और पुलिस के प्रयास संवाद डंडे के माध्यम से फिल्मी अंदाज में प्रस्तुत किया जाता है। गांववालों का जीवन अधिक से अधिक महुए पर निर्भर है। कुन्ती देवी का झोला दोनों लड़कों को मिलने के बाद ही पता चलता है कि उसमें नमक रोटी के साथ एक रिवॉल्वर है। इसमें बीहड़ क्षेत्रों में चल रहे डाकुओं और पुलिस के खेलों के दिखावे भरे धौंस पर व्यंग्य किया गया है।

'गांव गया था, गांव से भागा' में अंधाधुंध हो रहे वन के लकड़ी की कटाई और पुलिस प्रशासन की भ्रष्टतायी पर व्यंग्य किया गया है।

'नेता ऐसा चाहिए' में लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था की तुलना भक्तिकाल के सामंती परंपरा से करते हुए शुक्ल जी ने राजनीति में बढ़ रहे धार्मिक उन्माद, माफिया सरदारों की अधिकता, असलहधारियों का आतंक, पुश्तैनी दौलत, काइयांपन, खुशामद, घूसखोरी और शराबखोरी आदि गुणों से पूर्ण मंत्रीपद के दावेदारों पर व्यंग्य किया है।

'चन्द खतूत– जो हसीनों के नहीं हैं' में अज्ञानतावस, साहित्य लेखन को आधार बनाकर ध ार्मिक उन्माद उत्पन्न करने वाले विभिन्न साम्प्रदायिक गुरूओं पर व्यंग्य किया गया है।

'घुड़सरी का कवि–सम्मेलन' में कवि सम्मेलन में फैले अव्यवस्था के माध्यम से, गांवों में चल रहे धार्मिक कार्यक्रमों और नौंटकियों में व्याप्त अश्लीलता पर व्यंग्य किया गया है।

'झोला छाप' देश भर में चल रहे झोला छाप डाक्टरों के करतूतों के माध्यम से, मिलावट करने वाले व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

'एन.टी. आर की वकालत' में हिन्दू पुराणों में वर्णित बेमेल विवाह को प्रतीक के रूप में रखकर, मनुस्मृति का उदाहरण देते हुए अनुलोम और प्रतिलोम विवाह को अनुचित मानने वाले राजनेताओं और व्यवस्थाओं पर व्यंग्य किया गया है।

'लकीर का सांप' में विभिन्न भाषाओं में प्रचलित रामकथा के अलग–अलग घटनाओं पर व्यंग्य किया गया है।

'शलवार के बहाने एक सांस्कृतिक चिंतन' में बंगालियों में प्रचलित साड़ी पहनने की सांस्कृतिक महत्ता के कारण सिले हुए वस्त्रो को इस्लाम की संस्कृति मानने वाले मानसिकता पर व्यंग्य किया गया है।

'वह संसद में जाना चाहता है' में भारत की स्थिति का आंकलन हाइपोग्लाइसीमिया नामक रोग से करते हुए, संसद में चल रहे निरर्थक बहसों पर व्यंग्य किया गया है।

'एक जीते हुए नेता से मुलाकात' में चुनाव में जीते हुए युवा नेता पर व्यंग्य किया गया है।

'दीवाली, जुआ और कविगण' में विभिन्न कवियों के कविताओं के माध्यम से दिवाली के अवसर पर जुआ खेलने के महत्व पर व्यंग्य किया गया है।

'छात्रों में अनुशासनहीनता कैसे रोकी जाए?' में छात्रों द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप पर व्यंग्य किया गया है।

'एक छोटा सा कानूनी सवाल' में भारतीय संविधान में समानता के अधिकारों और स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकारों का उपयोग करते हुए, कानून का उलंघन करने वाले अधिवक्ता संघ पर व्यंग्य किया गया है।

'एक बहुत सीधा आदमी' में लोगों के सीधेपन और बेवकूफी पर व्यंग्य किया गया है।

'एक निर्लिप्त भावुक की कथा' में ईमानदार समाज सेवक के विकास का रास्ता बेईमानी से होने पर व्यंग्य किया गया है।

'सर्म्पकजी का सम्पर्क' में लम्पट अधिवक्ताओं पर व्यंग्य किया गया है।

'सफेद कालर का विद्रोह' में उच्च वित्तीय उपभोक्ता वर्ग पर व्यंग्य किया गया है।

'नाकाम क्यों हुआ नियोजन' में स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा आयोजित जनसंख्या नियंत्रण के लिए परिवार नियोजन की असफलताओं पर व्यंग्य किया गया है।

'1992 का साहित्य : कुछ आसूं, कुछ हिचकियां' में समय–समय पर हो रहे उपन्यास लेखन में परिवर्तन पर व्यंग्य किया गया है।

'शहर में कर्यू' में पुलिस के बहशीपन पर व्यंग्य किया गया है।

'ऐसा होता तो कैसा होता?' में अदालत की लेटलतीफी पर व्यंग्य किया गया है।

'औरत बनाम नारी' में औरत के रमण रतिसूचक शब्द के साथ लाला भगवानदी द्वारा वीर शब्द जोड़कर वीर रमणी कर दिये जाने पर व्यंग्य किया गया है।

'महिला बनाम स्त्री' में महिला और स्त्री शब्दों को छोड़कर नारी शब्द को स्वीकार करने की वकातल किया गया हैं तथा महिला थाना शब्द पर व्यंग्य किया गया है।

'फिल्मी हिंसा में भारतीय संस्कृति' में हिन्दी फिल्मों पर भारतीय पुराणों में प्रचलित दैव–दानव युद्ध के प्रभाव पर व्यंग्य किया गया है।

'लड़खड़ाने की कला' में हुमायूं और शेरखां के बीच हुए युद्ध में हुमायूं के हार को उदाहरण के रूप में रखते हुए भारतीय सीमा सुरक्षा बल और पुलिस वालों के शारीरिक रूप से अयोग्यता पर व्यंग्य किया गया है।

'बयासी करोड़ सभ्यताओं का देश' में एकता में अनेकता और अनेकता में एकता वाले नारे पर व्यंग्य किया गया है।

'राजकीय सेवकों द्वारा काव्य पाठ' में सरकारी कर्मचारियों एवं अधिकारियों द्वारा आयोजित काव्य पाठ समारोह में पक्षपातपूर्ण रवैये पर व्यंग्य किया गया है।

'शिक्षक दिवस' में शिक्षकों की बदहाली करने वाले व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

'पान बनाम न्यायालय' में मजिस्ट्रेट द्वारा पान खाने वाले पर पूरा गुस्सा उतारे जाने पर प्रहार किया गया है।

'हाथी की याददाश्त' में सिंचाई विभाग में चल रहे भ्रष्टाचार पर व्यंग्य किया गया है।

'टी.एम. सिंह की कथा' में सफेद पोश दहेज दानवों पर व्यंग्य किया गया है।

'निर्धन पड़ोसी की कथा' में घूसखोर व घोटालेबाज अफसर के बगुला भगतपन पर व्यंग्य किया गया है।

'महाजनी सभ्यता और दाढ़ी–मूंछ की कथा' में महाजनी प्रथा की तरह रूपिया वसूलने वालों पर व्यंग्य किया गया है।

उपर्युक्त व्यंग्यों में उन्हीं व्यंग्य शीर्षकों को रखा गया है जिनका जिक्र कहीं और न होकर यहीं पर समय की सच्ची समझ और मनुष्यता के प्रति गहरे सरोकार को समेटती हुई भारतीय सत्ता और समाज को चुनौती देती है।

lnHk %

1. श्रीलाल शुक्ल, यहां से वहां, दूसरी आवृत्ति, 2012, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. श्रीलाल शुक्ल, जहालत के पचास साल, पांचवी आवृत्ति, जून, 2014, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

****

ckck lkgc vEcsMdj vkSj tSu /keZ% ,d lkekftd ,oa /kkfeZd v/;;u

Mk- 'kkjnk iz lkn*

डॉ. अम्बेडकर आधुनिक भारत के कर्ण थे। कर्ण का जन्म उनके वश में नहीं था। उन्होंने कहा भी था –

}Sok;ra dqys tUe
enk;Üka rq ik:"kr~

अम्बेडकर का जन्म उनके वश में नहीं था, किन्तु उन्होंने अपने पुरूषार्थ से अपना नाम रोशन किया और आधुनिक भारत के इतिहास पर अमिट छाप छोड़ी है।[1]

डॉ. अम्बेडकर का जन्म हिन्दू समाज में हुआ था। अतः भली भाँति जानते थे कि समाज में क्या–क्या बुराईयां हैं। उन्होंने अपना जीवन एक क्रांतिकारक सुधारक के रूप में प्रारम्भ किया। उन्होंने स्वयं को एक विरोधी हिन्दू (Hindu prostestant) घोषित किया। उन्होंने हिन्दू धार्मिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया, परन्तु हिन्दू समाज में व्याप्त जातिवाद एवं छुआछूत उनके मन और बुद्धि को बिलकुल रूचिकर न लगे। इन अमानुषिक बुराईयों ने डॉ. अम्बेडकर को एक कट्टर विरोधी हिन्दू बना दिया, हालांकि उनके ह्रदय में घृणा नहीं थी। वह हिन्दू समाज का मौलिक सुधार चाहते थे। उन्होंने अछूतोद्धार के लिए एक क्रांतिकारी आन्दोलन छेड़ दिया। डॉ. अम्बेडकर अपने प्रारम्भिक जीवन में हिन्दू धर्म त्यागने के पक्ष में नहीं थे। इसलिए उन्होंने उन मूक पशुओं से भी हीन जीवन बिताने वाले दरिद्र एवं असहाय अछूतों और शूद्रों की अवस्था हिन्दू समाज में रहकर ही सुधारने का बीड़ा उठाया। वे चाहते थे कि समस्त उपेक्षित जातियों को समता का स्थान प्राप्त हो।[2] डॉ. अम्बेडकर ने एक मौलिक सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि अब समय आ गया है कि हिन्दू भाइयों को अपने परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन लाना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि इस संसार में कोई भी वस्तु सनातन नहीं है। कोई भी विचार निरपेक्ष सत्य नहीं है। परिवर्तन जीवन का एक प्राकृतिक नियम है। परिवर्तन ही विकास का आधार है। व्यक्ति एक सामाजिक जीवन बिना परिवर्तन के प्रगतिशील नहीं बन सकता। मानव–समाज भी परिवर्तनशील है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, समाज में निरन्तर रूप से परिवर्तन होते रहना चाहिए। ''हिन्दुओं को भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार मानव जीवन को चलाने के लिए नियमों की आवश्यकता है। उसी प्रकार उन्हें समय–समय पर परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित करने की आवश्यकता है।'' अन्यथा मनुष्य का सामाजिक जीवन गतिहीन बनकर अनेक रोगों से ग्रस्त हो सकता है। वास्तव में हिन्दू समाज की गतिहीनता समस्त प्रगतिशील विचारों में बाधक है।[3]

बाबा साहब का विचार है कि ऊँच–नीच, अमीर, गरीब और छुआछूत का जो कोढ़ है वह पूरे भारत में फैला हुआ था। उसे खत्म करने और दबे–कुचले लोगों का तकदीर और तस्वीर दोनों बदलने

*पूर्व शोध–छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

के लिए जीवन भर संघर्ष किया और एक नयी ज्योति जगा दी। इन लोगों को मानवीय अधिकार दिलाने का दरख्वाश सवर्ण हिन्दुओं से किया।

महाड़ की घटना ने सारे भारत वर्ष में वाद–विवाद पैदा कर दिया। वीर सावरकर बाबा साहब के विचारों का समर्थन किया और उन्होंने कहा कि छुआ–छूत की जितनी निन्दा की जाय वह कम है। जितनी जल्दी हो सके उसको खत्म किया जाय। उतना वह देश के हित में होगा।[4] हिन्दू धर्म की ब्राह्मण परम्परा में नीच जाति के व्यक्ति को धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती थी और उसके परछाई मात्र से सारे धर्म की क्रिया कलाप को भंग हो जाना ऐसा माना जाता था। और यदि किसी कारण या अचानक धर्म की मंत्रों का उच्चारण सुनने या पढ़ने पर उसके कान में शीशा गलाकर डाल दिया जाता था और जीभ काट दिया जाता था।[5] कितना बड़ा पाप धर्म के नाम से किया जाता था। एक मानव के हृदय में मानवीय हृदय न होकर एक पशु से भी बद्दतर और क्रुद्ध हृदय विराजमान था तो यहाँ पर धर्म वही हो सकता है जो एक मानव को दूसरे मानव से जोड़ता हो, वह धर्म है जैन धर्म। धर्म का जीवन के तथ्यों से सम्बन्ध होना चाहिए। सिद्धान्तों मात्र से नहीं। ईश्वर, आत्मा, प्रकृति, स्वर्ग, नर्क जैसे विषयों के बारे में कल्पनाए करना वास्तविक धर्म नहीं है।[6] अपने मन को निर्मल बनाए रखना ही धर्म है।[7]

बाबा साहब का धार्मिक विचार भी यही है कि धर्म एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जोड़े, जो मानवता, आजादी और बराबरी का एक सुंदर समाज बनकर राष्ट्र और देश का सुंदर निर्माण करे।

जैन धर्म का भी यह अमिट सिद्धान्त है कि अपने समान सभी को समझो। और गुणों के आधार पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा होती है न कि कुल, जाति, ऐश्वर्य से।

जैन दर्शन व्यक्ति–व्यक्ति में भेद नहीं करता है, सबको प्रगति करने का अवसर प्रदान करता है। इससे बढ़कर क्या होगा जो प्रत्येक जीव को मोक्ष का अधिकारी मानता है।

''परमात्मा प्रकाश' की भूमिका में प्रसिद्ध विद्वान एम.एन. उपाध्ये लिखते हैं –

"Souls should not be differenciated from each other, all of them are embodiments of knowledge all of them really free from birth and death so for as their spatial extension concerned, all of them are characterised by Darshan and jnana"

अर्थात आत्माएं एक दूसरे से भिन्न नहीं मानी जानी चाहिए। वे सब प्रत्येक ज्ञान के मूर्त रूप है। उनके आकाशीय प्रदेशों के विस्तार के मान से वे जन्म और मृत्यु से परे है और दर्शन ज्ञान उन सभी की विषेशता है। इस प्रकार जैन दर्शन मे प्राणी मात्र को समान अवसर प्राप्त है। वह चाहे तो अपने आचरण और भावों के शुद्धि के बल पर परम पद प्राप्त कर सकता है।[8]

प्रतिष्ठा की समानता की पुष्टि करते हुए स्वामी समंत भद्र लिखते हैं –

^^lE;Xn'kulEiUuefi ekrixnsgteA
nsok nsoa fonqHkZLexw<kxkjkUrjkSt lelAA[9]

अर्थात चाण्डाल कुल में भी पैदा होने पर भी यदि कोई पुरूष सम्यग्दर्शन से उत्पन्न है तो उसे गणधरादिक देव आदर योग कहते हैं, क्योंकि जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं। ऐसे पुरूष का तेज भस्म से आच्छादित आड़्गार के भीतरी तेज के समान होता है।

यहाँ पर कुल, जाति, ऐश्वर्य आदि की सम्पन्नता से व्यक्ति की प्रतिष्ठा नहीं अपितु गुणों से होता है।

श्री रविशेणाचार्य भी पद्म पुराण में कहते हैं कि –

^^pkrqo.;Za ;FkkU;Pp pk.Mkykfn fo'ks"k.keA
loZekpjHksnsu izfl)a Hkqous xreAA[10]

अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल आदि का तमाम विभाग आचरण के भेद से ही लोक में प्रसिद्ध हुआ है।

संत तारण स्वामी ने भी अपने ''खातिका विशेष ग्रंथ में ऊँच–नीच के भेद–भाव का खण्डन कर समानता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

''ऊँच–नीच दृश्यते तद् निगोद खांडे दृश्यते।''[11]

अर्थात जो मनुष्य अभिमान से वशीभूत होकर दूसरे को नीचा और अपने को ऊँचा समझता है। वह निगोढ़ में जन्म लेता है।

जैन धर्म का मानना है कि छोटे या बड़े जीव में अनन्त शक्तियों का वास है। सभी में भगवान बनने की शक्ति है तो ऊँच–नीच पदों की क्या बिसात है।

श्री जुगल किशोर जी ने राष्ट्रीय एकता और उसकी उन्नति का आह्वान करते हुए इस पद से किया है –

''फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर ही रहा करें।
अप्रिय–कुटुक, कठोर शब्द नहीं, कोई मुख से कहा करें।
बनकर सब युगवीर ह्रदय से देशोन्नति रत रहा करें।
वस्तु स्वरूप विचार स्वरूप से सब दुःख संकट सहा करें।[12]

तीर्थंकर महावीर की धर्म देशना में जो समाज व्यवस्था बताई गई थी उसकी उपयोगिता एकता एवं अखण्डता के लिए आज भी उपयोगी है –

उसकी समाज व्यवस्था, कर्मकाण्ड लिंग, जाति वर्ग आदि भेदों से मुक्त थी। इनकी आधार आध्यात्म, अहिंसा, नैतिक–नियम और ऐसे धार्मिक नियम थे जिनका संबंध किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदाय से नहीं था। महावीर का सिद्धान्त है कि विष्व के समस्त प्राणियों के साथ आत्मीयता, बंधुता, और एकता का अनुभव किया जाय। अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। एकता की भावना अहिंसा का ही रूप है। कलह, फूट, द्वंद्व और संघर्ष हिंसा है। ये हिंसक भावनाएं सामाजिक जीवन में एकता और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकती है। .... समस्त सामाजिक सदस्यों को एकता के सूत्र में अहिंसा के रूप में प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, सत्यता आदि आबद्ध करते हैं।[13]

प्राचीन काल में जब वर्ण व्यवस्था बहुत अवनति की ओर चली गई तब विभिन्न प्रकार की बुराईयों ने मनुष्य के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और जब वैदिक समाज व्यवस्था नष्ट–भ्रष्ट हो गई तब कुछ महान पुरूषों ने सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के लिए बहुत ही प्रभावशाली आन्दोलन किया। महावीर और बुद्ध जैसे महर्षियों ने परम्परावादी सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठाई। उन्होंने ''मानव की एकता एवं भातृत्व पर बल दिया। सम्पूर्ण हिन्दू धर्म के प्रति उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया। ब्राह्मणवाद के विरूद्ध आन्दोलन किया और ब्राह्मणों की अनुचित प्रभुसत्ता का महल इन महा मानव प्रेमियों ने हिला दिया। अन्य शब्दों में इनके इन कुशल कार्यों से उन सभी दीन व असहाय वर्गों को सांत्वना एवं बल मिला, जो हिन्दू समाज व्यवस्था से दुखी थे।''[14]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि बाबा साहब और जैन धर्म का जो विचार है मानव कल्याण, राष्ट्र हित, धर्म सुधार, परम्परावादी सिद्धान्त में परिवर्तन देश की विघटनकारी समस्या से सुरक्षित रखने में बहुत ही कारगर सिद्ध है।

I inHki %

1. बी. आर. अम्बेडकर व्यक्ति और विचार, पृ.सं. 36
2. बी. आर. अम्बेडकर व्यक्ति और विचार, पृ.सं. 36
3. अम्बेडकर का समाज दर्शन, पृ.सं. 12
4. बी. आर. अम्बेडकर व्यक्ति और विचार, पृ.सं. 46
5. सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, पृ.सृ. 88
6. बी. आर. अम्बेडकर व्यक्ति और विचार, पृ.सं. 84
7. भगवान बुद्ध और उनका धम्म, पृ.सं. 85

8. श्रुत संवर्धिनी पत्रिका, पृ.सं. 15
9. स्वामी समंतभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक – 28, उद्धृत श्रुत संवर्धिनी, पृ.सं. 14
10. जैन धर्म की उदारता नामक पुस्तक से उद्धृत, पृ.सं. 12
11. परमेष्ठी दास द्वारा जैन धर्म की उदारता, पृ. सं. 75, उद्धृत श्रुत संवर्धिनी, पृ.सं. 16
12. जुगल किशोर, मुख्तार मेरी भावना, श्रुत संवर्धिनी, पृ.सं. 16
13. श्रुत संवर्धिनी, पृ.सं. 16
14. बी. आर. अम्बेडकर का समाज दर्शन, पृ.सं. 7

****

i;kZoj.k vkSj ge

MkW0 izdk'k pUnz frokjh*

पर्यावरण, यह एक बहुत ही संजीदा शब्द और ज्वलंत मुद्दा है। हम इसको परिभाषित करें तो इसका मतलब है ''प्रकृति के कार्य करने की कृपा प्रणाली'' और यह प्रणाली बहुत ही नाजुक और अत्यन्त संवेदनशील सन्तुलन पर कार्य करती है।

अगर हम अपनी धरती को एक अंतरिक्षयान मान लें तो हमारा पर्यावरण उसका जीवन स्रोत अर्थात् ईंधन है। हम पृथ्वीवासी निरंतर इसी पर्यावरण की कीमत पर विकास की अंधी प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं, जिससे अब यह संवेदनशील संतुलन बिगड़ने लगा है। कल को चाहे हम कुछ भी बन जायें एक टेक्नोलाजी प्रधान देश, एक अर्थ सम्पन्न राष्ट्र या यूँ कह लें विकासशील से विकसित राष्ट्र, जो भी हम कर रहे थे, कर रहे हैं और करेंगे, इसका प्रभाव हमारे पर्यावरण पर ही पड़ेगा। कारण यह नहीं कि हम नासमझ हैं, कारण यह है कि हम समझना ही नहीं चाहते।

उदाहरण के तौर पर पर्यावरण कि इस संजीदगी को मैं इसके एक छोटे से इकाई से यहाँ जोड़ता हूँ जिससे हम सभी भलीभाँति परिचित हैं ''ऋतु''।

पिछले कुछ दशक से हमारी ऋतुओं में असम्भावित परिवर्तन होते रहे हैं जिससे हमारे ऋतुओं के क्रमानुसार आने और जाने के क्रम में गंभीर बदलाव आया है, इस प्रक्रिया में निर्धारित समय से पूर्व वर्षा ऋतु का आगमन, इस वर्ष पड़ी अभूतपूर्व शीतलहरी और लगातार बढ़ रहे पश्चिमी विक्षोभों का प्रभाव शामिल है। इन अप्रत्याशित घटना चक्रो ने दुनिया भर के पर्यावरण वैज्ञानिकों, भूगोलविदों और मौसम वैज्ञानिकों को अल्पविराम कि स्थिति में ला खड़ा किया है और इस बात कि पुष्टि नासा तक ने की है।

हमारा देश कृषि प्रधान है और सबसे गंभीर बात यह है कि हमारी 70% कृषि वर्षा जल पर पूर्णतः निर्भर है। हमारे आंकड़े कहते है सन् 2100 तक हमारी फसलों की उत्पादकता में 10–40ः की गंभीर कमी दर्ज होगी। प्रत्येक 10^0C तापमान बढ़ने पर हमारी रवी की फसलों में 4.5 करोड़ टन अनाज उत्पादन की कमी होने कि पूर्ण सम्भावना है। विगत कुछ वर्षों में हमारे पर्यावरण में हुए बदलाव का प्रकोप उत्तर भारत में गेंहूँ के उत्पादन में आई 1–2 टन/हेक्टेयर और दक्षिण भारत में चावल के उत्पादन में आई 0.75 टन/हेक्टेयर के दर कि रिकार्ड गिरावट से देखा जा सकता है, और यह गिरावट क्रमशः जारी है।

हम बहुत सोच लिए ढेरों नीतियाँ बना लिए, अनगिनत सम्मेलन हर स्तर पर कर लिए, आंकड़ो का अम्बार लगा है टेक्नोलाजी हमारे साथ है वैज्ञानिक प्रमाण हमारे पास है बस वर्षा ऋतु के क्रम में बदलाव होने से हमारी नदियाँ और हमारे भू–गर्भ जल के भण्डारण पे भी प्रभाव पड़ा है। जिसका ज्वलंत उदाहरण एक दशक से सूखा झेल रहे बुन्देलखण्ड और पानी की समस्या से जूझ रहे देश कि राजधानी के लोग है। हलाकि पीने के पानी कि समस्या अब अपना पैर पसार रही है और इसका प्रभाव कश्मीर से कन्याकुमारी तक देखा जा रहा है। इस समस्या कि विभीषिका यही है कि जल के लिए ही होगा तृतीय विश्वयुद्ध और हम उसकी कगार पे खडे हैं, इस सम्भावना का एक और भी मजबूत कारण

* विभागाध्यक्ष, पर्यावरण विज्ञान विभाग, के0एन0आई0पी0एस0एस0 सुल्तानपुर (उ0प्र0) ।

है आज 20% विकसित देश 80% प्राकृतिक संसाधनो का तेजी से दोहन कर रहे है, और शेष 80% अल्प और विकासशील देश बचे हुए 20% पर निर्भर है।

वन्य जीवों के उजड़ते ठौर–ठिकानों का दर्द भी शमिल है, घटते जंगलों के कारण ही मानव और जानवरों के बीच टकराव और संघर्ष बढ़ा है। वस्तुतः यह क्षेत्र के विस्तार का संघर्ष है, जिसमें मानव जीत तो रहा है, मगर शिकस्त खाए हिंसक वन्य जीव भी पटलवार करने से बाज नही आते। आए भी कैसे यह उनके अस्तित्व से जुड़ा मामला जो है। वे अपने घर पर मानव का अधिपत्य कैसे स्वीकार करें। मनुष्य को जंगलों की ओर पलायन रोकना होगा क्योंकि पर्यावरण संतलन के लिए जैव विविधता जरूरी है, प्रकृति में जीव–जन्तुओं का विशेष महत्व होता है ये प्रकृति के सन्तुलन को बनाते है।

पर्यावरण संरक्षण के साथ–साथ हमारे देश में जैव विधिता को संरक्षित रखने और उसे समृद्ध बनाने पर भी पूरा ध्यान देना चाहिए। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में जीव–जंतुओं को हानि पहुंचाने तथा उनका भक्षण करने की अनुमति नहीं है। जीवों की उपयोगिता के अनुरूप हमने उन्हें धार्मिक और सामाजिक मान्यता प्रदान की और उनके पूजने की परंपरा शुरू कर उनके संरक्षण का संदेश दिया। गाय भारतीय समाज में आज भी पूज्य हैं राजस्थान का विश्नोई समुदाय आज भी काले हिरनों को शुभ मानकर उनकी पूजा करता है तथा उनकी रक्षा के प्रति कृतसंकल्प रहता है। भारत के अनेक आदिवासी क्षेत्रों में पशुओं, वृक्षों व वनस्पतियों आदि को पूजने की प्राचीन परंपरा है। इतना ही नहीं, आदिवासियों के वस्त्र तक प्रकृति के अनुरूप रंग–बिरंगे होते हैं। इनकी जीवन–शैली में प्रकृति का पूरा प्रभाव दिखता है। हम नाग को नाग देवता कहकर 'नागपंचमी' जैसा त्योहार अकारण नहीं मनाते। पर्यावरण की दृष्टि से इसका अपना अलग महत्व है। सर्प वायुमंडल में विद्यमान जहरीली गैसों को आत्मसात कर वातावरण को प्रदूषित होने से बचाते हैं। हमारे भारतीय दर्शन में पर्यावरण को ईश्वर के प्रतिरूप के रूप में सम्मानित व संरक्षणीय माना गया है।

समूचा विश्व पर्यावरण असंतुलन से उपजी अनेकानेक समस्याओं से जूझ रहा है। भारत भी इन समस्याओं से दो–चार हो रहा है। स्वार्थी मनुष्य निरंतर प्रकृति का दोहन कर रहा है और ऐसा करते हुए उसका आचरण प्रकृति विरोधी हो चुका है। जिस धरा को हम धरती माता कह कर संबोधित करते हैं, उसी धरा की छाती को स्वार्थ में अंधे होकर छलनी कर डाला। यहाँ कितनी सार्थक है कवयित्री महादेवी वर्मा की ये पंक्तियां–

कर दिया मधु और सौरभ दान सारा एक दिन
किन्तु रोता कौन है तेरे लिए दानी सुमन
मत व्यथित हो फूल, किसको सुख दिया संसार ने
स्वार्थमय सबको बनाया है यहां करतार ने।

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रकृति तो हमें सर्वस्व प्रदान करती हैं, किन्तु हम स्वार्थमय होकर प्रकृति का तनिक भी ख्याल नहीं रखते हैं। हमारे स्वार्थमय आचरण ने ही पर्यावरण असंतुलन जैसी वैश्विक समस्या को जन्म दिया है। पर्यावरण को क्षति पहुंचाने वाले अधिकांश कारण मानवजनित ही हैं और इनमें विकसित देशों का विशेष योगदान है। जहां तक भारत का प्रश्न है, तो आज के संदर्भों में यह अत्यंत आवश्यक है कि हम पर्यावरण संरक्षण के अपने प्राचीन दर्शन में प्राण फूंकें और उससे विमुख न हों। हमें यह नही भूलना चाहिए कि हमारा देश कृषि प्रधान है। देश के किसानों का भाग्य मौसम तय करता है। मौसम ने साथ दिया तो किसानों के चेहरे खिल जाते हैं और यदि साथ न दिया मुरझा जाते हैं। हमारी खाद्यान्न सुरक्षा और सुख–समृद्धि के लिए मौसम की अनुकूलता नितांत आवश्यक है और इस अनुकूलता को बनाए रखने के लिए प्रकृति और पर्यावरण को संरक्षित रखना अपरिहार्य व आवश्यक है।

यह एक भयावह उदाहरण है, जो हमारे द्वारा विकास कि आड़ में किये जा रहे इस नाजुक संतुलन से खिलवाड़ को बताता है, जिसको हमे बेहद संजीदगी से लेना होगा और यह समझना ही होगा ''हम पर्यावरण से हैं।'' मैंने खुद बहुत प्राकृतिक सोच विचार के बाद पर्यावरण के लिए बनाये गये

कानूनों का अध्ययन करके एक छोटा सा मुहावरा बनाया है ''हर ताले में सुराख होता है'' और अब यह निर्भर करता है कि हम कौन हैं? क्या हम अपनी इस बहुमूल्य धरोहर के संरक्षक हैं? अब कहने का नही अमल करने का समय है नहीं तो आने वाली हमारी पीढ़ी हमको अभिशाप समझेगी।

हम आप से और पर्यावरण कि ओर से विनय निवेदन करते हैं, कि इस लेख को पढ़ने के बाद अपने घर के हर सदस्यों के जन्मदिन पर एक पौधा अवश्य लगायें और वसुन्धरा को बचायें।

''पर्यावरण बचायें पृथ्वी बचायें''

lUnHk %

1. परीक्षा मंथन : पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी 2015 मंथन प्रकाशन इलाहाबाद।
2. पर्यावरण रहस्य, प्रकाशन 2011 सर्वेश प्रकाशन इलाहबाद।
3. Down to earth April 30,2005, Vol 13, no-23
4. Yojna January 2000
5. Agrobios newsletter vol IX no 6, november 2010
6. Environment People vol 7 no 12, may 2001
7. Every man's science volume XL 11 no 3, aug 2007
8. The green trend Environment and health investigation vol 1 no 3, November 2000
9. WWF newletter vol 9, no 4 Janvary 1999.

****

dk'kkEch dh e`.efrZdyk dk fofo/k vk;ke % ,d iqujkoyksdu

MkO tehy vgen*

fp= l[;k 1

fp= l[;k 2

fp= l[;k 3

fp= l[;k 4

fp= l[;k 5

मृत्तिका (मिट्टी) के विविध उपयोग मानव ने अपने विकास की शैशवावस्था से ही प्रारम्भ कर दिया था। कला की प्रस्तुति के विभिन्न प्रकार के साधनों में मृत्तिका कला सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह एक ऐसा सर्वसुलभ माध्यम है जिसकी प्राप्ति में धन का व्यय लगभग नगण्य होता है। मृत्तिका से निर्मित मृण्मूर्तियों का प्रचलन प्रागैतिहासिक काल से ही था। मृण्मूर्तियों का प्रयोग खिलौने, सजावट की वस्तु एवं पूजा सामग्री आदि के रूप में किया जाता रहा होगा। मृत्तिका कला वस्तुतः बहुउद्देशीय प्रतीत होती है।[1]

भारत की प्राचीनतम मृण्मूर्तियाँ (Terracotta) प्राक्हड़प्पा संस्कृति के कोटदीजी, कालीबंगा, क्वेटा, मेही, कुल्ली आदि स्थलों से प्राप्त हुई है। हड़प्पा संस्कृति के मोहन जोदड़ो, लोथल, चन्हूदड़ों, बाणावली, कालीबंगा आदि स्थलों से भी बड़ी संख्या में विविध प्रकार की मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। ताम्रपाषणिक अहाड़ एवं जोर्वे संस्कृति के विभिन्न उत्खनित पुरास्थलों से मानव एवं पशु मृण्मूर्तियाँ तथा उत्तर हड़प्पा ताम्र संचय संस्कृति के आँबखेड़ी, बड़ागाँव, लालकिला आदि पुरास्थलों से कतिपय मृण्मूर्तियाँ एवं मृत्पिण्ड प्राप्त हुये हैं। इसी प्रकार गैरिक तथा चित्रित धूसर मृदभांड संस्कृति के कतिपय उत्खनित पुरास्थलों से भी मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। प्राचीन साहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि समाज में मृण्मूर्तियों का प्रचलन प्रारम्भिक काल से ही था। आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट, महाभारत, भद्दसाल जातक, काश्यप संहिता, भागवतपुराण, मार्कन्डेय पुराण, सौन्दरनन्द, शुकनीति, कथासरित्सागर, शिल्परत्न आदि ग्रन्थों से न केवल मृण्मूर्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है अपितु उनके निर्माण करने की विधियों का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है।

*प्राचीन इतिहास, संस्कृति व पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

छठीं शताब्दी ई0पू0 से मृण्मूर्तिकला के इतिहास में एक क्रमबद्धता दिखायी पड़ती है। गंगाघाटी के स्तरित जमावों में मृण्मूर्तियाँ प्राक्मौर्य काल से ही मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। हड़प्पा के स्थलों के बाद मृत्तिका कला में विकास की दृष्टि से गांगेय क्षेत्र के कतिपय पुरास्थलों जैसे कुम्रहार, बुलन्दीबॉग, कौशाम्बी इत्यादि महत्वपूर्ण है। कौशाम्बी में प्राक्मौर्य से गुप्तकाल तक निरन्तरता के साथ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त होती है।

कौशाम्बी के उत्खनन व सर्वेक्षण से अबतक विभिन्न आकार–प्रकार की 2500 से अधिक मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिससे स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि कौशाम्बी प्राचीन काल में मृण्मूर्तियों के निर्माण का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था।[2] यहाँ से प्राप्त मृण्मूर्तियों का विशद् संग्रह इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में स्थित जी0 आर0 शर्मा मेमोरियल म्यूजियम में मौजूद है।[3] इसके अतिरिक्त इलाहाबाद संग्रहालय, भारत कला भवन वाराणसी, राज्य संग्रहालय लखनऊ, राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली, पुरातत्व संग्रहालय मथुरा, आशुतोष संग्रहालय कोलकाता, पटना संग्रहालय, अमेरिकन इंस्ट्टीट्यूट रामनगर, प्रिंस ऑफ वेल्स मुम्बई आदि संग्रहालयों में भी कौशाम्बी से प्राप्त विविध प्रकार की मृण्मूर्तियों का उत्कृष्ट संकलन देखने को मिलता है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के जी0 आर0 शर्मा के निर्देशन में 1949 से 1966 ई0 तक विशाल रक्षा प्राचीरों से घिरे कौशाम्बी पुरास्थल के निम्नलिखित क्षेत्रों का कई सत्रों में उत्खनन कार्य किया गया।[4] फलतः भूगर्भ में दबी वत्स महाजनपद की राजधानी कौशाम्बी का 2000 वर्षो का गरिमामयी इतिहास प्रस्फुटित हुआ :

(अ) अशोक स्तम्भ क्षेत्र (KSB I-III)
(ब) घोषिताराम विहार क्षेत्र (KSB IV-X)
(स) पूर्वी प्रवेश द्वार के समीप रक्षा प्राचीर क्षेत्र (KSB XI-XIV)
(द) राजप्रासाद क्षेत्र (KSB XV)

कौशाम्बी पुरास्थल के उपरोक्त क्षेत्रों के उत्खनन के फलस्वरूप विभिन्न स्तरों से प्राप्त असंख्य मृण्मूर्तियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कौशाम्बी में मृण्मूर्तियों के निर्माण की परम्परा का प्रारम्भ प्राक्मौर्य काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। प्राक्मौर्य स्तर प्राप्त से मृण्मूर्तियों को निर्माण विधि के आधार पर दो वर्गों में रखा जाता है – (क) हस्त निर्मित तथा (ख) सांचे से निर्मित। हस्त निर्मित मृण्मूर्तियों को पूर्णरूपेण हाथ से डौलियाकर (Hand Mould) बनाई गई है। इस विधि से निर्मित मृण्मूर्तियाँ प्रायः सभी कालों एवं स्तरों से प्राप्त हुई हैं। इसलिए इनको एजलेस। हमसमेद्ध कहा जाता है।[5] प्राक्मौर्य काल में केवल मृण्मूर्तियों के मुँह का निर्माण ही सांचे में किया जाता था। शेष भाग का निर्माण हस्त निर्मित व चिपका कर किया जाता था। वर्ण्य विषय के के आधार पर इस काल की मृण्मूर्तियों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है– लौकिक तथा धार्मिक। इस काल की स्त्री मृण्मूर्तियाँ कर्णयुक्त तथा कर्ण रहित दोनों प्रकार की प्राप्त होती हैं।[6] यहाँ से प्राप्त प्रायः समस्त मृण्मूर्तियाँ आभूषणों से अलंकृत दिखाई पड़ती हैं।[7] हाथ से डौलियां कर निर्मित स्त्री मृण्मूर्तियों के सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रकार अंकधात्री एवं क्षीरधात्री माता का है। जिसमें वह शिशु को अंक से लिये[8] अथवा स्तनपान कराते हुए[9] प्रदर्शित है। इस काल में प्रायः पुरूष मृण्मूर्तियों के सिर ही प्राप्त हुए है। हस्त निर्मित लौकिक मृण्मूर्तियों में पशु मूर्तियों का स्थान उल्लेखनीय है। हाथी व अन्य पशुओं की मृण्मूर्तियॉ भी अत्यल्प मात्रा में प्राप्त हुई है। कौशाम्बी के प्राक्मौर्य स्तर से प्राप्त पक्षी मुख वाली स्त्री मृण्मूर्तियाँ[10] तथा मानवाकृति (Anthropomorphic) मृण्मूर्तियाँ इस संदर्भ में विचारणीय है। प्राक्मौर्य काल के मूर्तिकारों ने अत्यन्त प्राचीन काल से समाज में प्रचलित लौकिक व धार्मिक विषयों का अंकन कर मृतिका कला के रूप में किया।

कौशाम्बी के मौर्यकालीन मृण्मूर्तिकारों ने परम्परागत विधियों के साथ–साथ नवीन विधियों का सृजन किया जो कालांतर में पुष्पित व पल्लवित हुई। इस काल की स्त्रियों का नाना प्रकार के आभूषणों के प्रति रूचि का सुन्दरतम अंकन मौर्य कालीन मृण्मूर्तियों में विशेष रूप से दृष्टव्य है। मौर्य काल में

कौशाम्बी के अतिरिक्त मथुरा, बुलंदीबॉग, पटना तथा बक्सर मृत्तिका कला के प्रमुख केन्द्र थे। कौशाम्बी से पाटलिपुत्र तथा बक्सर प्रकार की असंख्य मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। जो सम्भवतः व्यापारिक गतिविधियों के परिणामस्वरूप यहाँ लायी गयी होंगी। कौशाम्बी के उत्खनन व सर्वेक्षण से प्राप्त इस काल की मृण्मूर्तियों को तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है11 – (क) हस्तनिर्मित, (ख) हस्त तथा इकहरे सांचे के सम्मिलित प्रयोग से निर्मित तथा (ग) मात्र इकहरे सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियाँ। प्रथम प्रकार की मृण्मूर्तियाँ हाथ से डौलियाकर बनायी गयी हैं। ये मौर्य काल के निम्नतर स्तर से प्राप्त हुई हैं। इसमें स्त्रियों तथा पशु–पक्षियों की मृण्मूर्तियों को विशेष रूप से अंकन किया गया है। इन मृण्मूर्तियों का प्रयोग सम्भवतः बच्चों के खिलौने के रूप में किया जाता रहा होगा। द्वितीय प्रकार के मृण्मूर्तियों का निर्माण हस्त व सांचे के सम्मिलित प्रयोग से किया गया है। मुँह को सांचे से तथा शरीर के शेष भाग को हाथ से निर्मित किया गया है। वस्त्र तथा शिरोभूषा आदि को अलग से चिपकाया जाता था। मुँह तथा शरीर को पकाने के पूर्व विधिवत जोड़ा जाता था। प्राक्मौर्य काल की भांति इस काल में भी इस तकनीक का प्रचुर प्रयोग किया जाता था। इस विधि से निर्मित स्त्री, पुरूष एवं बालक की मृण्मूर्तियाँ काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। तृतीय प्रकार की मृण्मूर्तियों का निर्माण इकहरे सांचे में ढाल करके किया गया है। इस विधि का प्रयोग कालांतर में शुंगकाल में भी बहुतायत से किया गया। इस वर्ग के मृण्मूर्तियों में स्त्री एवं मिथुन फलक प्राप्त हुए हैं। इकहरे सांचे से निर्मित अधिकांश मृण्मूर्तियों का किनारा खण्डित है। कुछ मृत्फलकों के बाहरी परिधि भाग पुष्प एवं बिन्दुओं से अलंकृत हैं।[12]

धरातलीय अन्वेषण व उत्खनन के फलस्वरूप कौशाम्बी से शुंगकालीन मृण्मूर्तियाँ भी बहुतायत से प्राप्त हुई हैं। इन मृण्मूर्तियों की प्रमुख विशेषता यह है कि यह भारतीयता से ओत–प्रोत है तथा भारतीय जन जीवन का सुन्दरतम अंकन सँजोये हुए हैं। इस काल के मृण्मूर्तियों में वर्ण्य विषय एवं निर्माण शैली आमूल परिवर्तन के साथ दिखाई पड़ते हैं। इस काल की मृण्मूर्तियों का निर्माण मुख्यतः सांचे में किया गया है। सांचे के प्रयोग ने मृत्तिका कला के क्षेत्र में क्रांति ला दी। और यह मूर्तिकारों के धनार्जन का मुख्य साधन बन गयी। यहाँ से सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त हस्त निर्मित मृण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। हस्त निर्मित विधि का प्रयोग केवल पशु,[13] चक्र[14] एवं झामे[15] (tirubbers) के निर्माण में किया गया। सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियों को वर्ण्य विषय के आधार पर (i) लौकिक अथवा लोकजीवन तथा ;पपद्ध धार्मिक अथवा अध्यात्मिक जीवन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। लोक जीवन से सम्बद्ध असंख्य मृण्मूर्तियाँ कौशाम्बी से प्राप्त हुई है। लोक जीवन का प्रतिबिम्ब स्त्री पुरुष के विविध मुद्राओं, अनेक प्रकार के दृश्य फलकों तथा खिलौना गाड़ियों[16] में दर्शनीय है। यहाँ के मूर्तिकारों में धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन का प्रस्तुतीकरण कौशाम्बी की शुंग कालीन कला में दृष्टव्य है। ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध देवी मूर्तियों में लक्ष्मी,[17] गजलक्ष्मी,[18] लज्जागौरी,[19] सिनीवाली,[20] प्रभा मण्डल से युक्त अंलकृत देवी[21] आदि प्रमुख है। देवी प्रतिमाओं के तुलना में इस काल में देव प्रतिमाओं की संख्या कम है। इनमें शिव,[22] कार्तिकेय, सूर्य[23] तथा कुबेर प्रतिमाओं को प्रमुखता मिली है।

कुषाण काल में ग्रीकोरोमन तथा पर्सोसीथियन प्रभाव से भारतीय संस्कृति का चतुर्दिक विकास सम्भव हो सका। इस काल में प्रस्तर कला के साथ मृण्मूर्ति कला का भी विकास हुआ है। परिणामस्वरूप मथुरा व तक्षशिला बड़े केंन्द्र के रूप में तथा तामलुक, पटना, राजघाट, अहिच्छत्रा और कौशाम्बी छोटे केन्द्र के रूप में दिखाई देते हैं। शुंग काल में मृत्तिका कला ने जो उत्कर्ष प्राप्त किया उसके बाद कुषाण काल में स्तरीय मूर्तियों का न बनाया जाना अवश्य ही आश्चर्य का विषय है। वासुदेव शरण अग्रवाल[24] ने इस विषय पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

''कुषाण काल में पाषाण शिल्प का गौरव बहुत बढ़ गया जैसा मथुरा के वेदिका स्तम्भों से ज्ञात होता है पर उसके साथ मृण्मयमूर्तियाँ अपना गौरवशाली पद नहीं रख सकीं। कुषाण युग के पार्थिव खिलौने प्रायः घटिया किस्म के हैं और उनकी बनावट भोंडी है। मथुरा तथा अहिच्छत्रा दोनों स्थानों से कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों की संख्या बहुत कम है और ज्ञात होता है कि कौशाम्बी में तो यह कला प्रायः मूर्छित हो गई थी।''

इस काल की कौशाम्बी से प्राप्त मृण्मूर्तियों का निर्माण मुख्यतः तीन प्रकार से किया गया है– (क) हाथ से डौलिया कर बनाई गई, जिनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। (ख) सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियां– जिनमें एकहरे सांचे की अपेक्षा दोहरे सांचे से निर्मित मूर्तियों की संख्या अधिक है तथा (ग) मिश्रित विधि जिसमें मुख सांचे से निर्मित और गर्दन के स्थान पर खूँटी बना दी जाती है तथा शरीर का शेष भाग हस्तनिर्मित होता है। हाथ से डौलिया कर बनाई गई पुरूष मृण्मूर्तियों में पुरूषों के सिर, आवक्षमूर्ति, खड़ी मूर्तियों के अतिरिक्त स्त्री मृण्मूर्तियों में स्त्री सिर, आवक्ष मूर्ति तथा पशु मृण्मूर्तियों में घोड़ा, सुअर, कुत्ता एवं भालू मुख्य हैं। स्त्री, पुरूष तथा पशुओं की विभिन्न मुद्राओं में निर्मित मृण्मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मृर्तिका कला के क्षेत्र में गुप्त काल में विशेष प्रगति हुई। इस काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। शुंग काल में मूर्ति ढालने की जो विधि अपनाई गई थी, किन्तु कुषाण काल में नितान्त उपेक्षित हो चुकी थी, वह इस काल में पुर्नर्जीवित हो सकी। धवलिकर[25] ने इस काल की मृण्मूर्तियों की चार विभिन्न निर्माण विधियों का उल्लेख किया है– (क) इकहरे सांचे (Single Mould) से निर्मित, (ख) अंशतः सांचे से और अंशतः हाथ से निर्मित, (ग) दोहरे सांचे (Double Mould) से निर्मित तथा (घ) पूर्णतया हाथ से निर्मित। इस काल में पूर्ववर्ती कालों में प्रचलित विधियों के अतिरिक्त दोहरे सांचे से मृण्मूर्तियाँ निर्मित की गयीं। इस प्रकार से निर्मित मृण्मूर्तियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – एक तो अन्दर से खोखली और दूसरी ठोस। खोखली मृण्मूर्तियों के अग्र तथा पार्श्व भाग अलग–अलग सांचे से ढाल कर बाद में जोड़ दिये जाते थे। कुषाण काल में भी ऐसा ही किया जाता था। गुप्तकाल में बनी इकहरे सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियों की यह विशेषता थी कि शुंग काल में मूर्तियों का पृष्ठ भाग ऊबड़–खाबड़ बनता था वह अब वह किसी औजार से समतल किया जाने लगा।[26] हस्तनिर्मित व सांचे के मिश्रित प्रयोग से निर्मित मृण्मूर्तियॉ अधिक परिष्कृत नहीं थीं। गुप्तकाल में कौशाम्बी का भारत के प्रमुख मृण्मूर्तियों केन्द्रों में एक विषिश्ट स्थान था। गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ भी पूर्ववर्ती कालों की भांति लौकिक तथा धार्मिक विषयों को लेकर बनाई गई थी।[27]

उपरोक्त संश्लेषणों से स्पष्ट है कि कौशाम्बी की मृण्मूर्तियाँ प्राक्मौर्य, मौर्य, शुंग, कुषाण तथा गुप्तकालीन स्तरों से प्राप्त हुई है। इनके निर्माण विधि तथा तकनीक में क्रमशः विकास परिलक्षित होता है। हाथ से डौलिया कर निर्मित मृण्मूर्तियाँ प्रायः सभी कालों एवं स्तरों से मिलती है। किन्तु इकहरे सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियाँ मौर्य तथा शुंग काल में तथा दोहरे सांचे से निर्मित मृण्मूर्तियाँ कुषाण तथा गुप्तकाल से सर्वाधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं। हाथ तथा सांचे के सम्मिलित प्रयोग से निर्मित मृण्मूर्तियाँ प्राक्मौर्य, मौर्य, शुंग, कुषाण तथा गुप्तकाल से सम्बन्धित है। गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों में बाह्य भाग को सुगढ़ बनाया गया जबकि पूर्ववर्ती कालों में इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। कौशाम्बी से प्राप्त मृण्मूर्तियों को दो वर्गो में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में विभिन्न धार्मिक देवी–देवताओं की मृण्मूर्तियाँ हैं इनमें लक्ष्मी, गजलक्ष्मी, महिसासुरमर्दिनी, चामुण्डा, पार्वती, लज्जागौरी, वसुधारा, शाकम्भरी, सिनीवाली, हारीति आदि प्रमुख है। देवी प्रतिमाओं की तुलना में देव प्रतिमाओं की संख्या अत्यल्प हैं इनमें शिव, कार्तिकेय, सूर्य एवं कुबेर के मृण्मूर्तियाँ प्रमुख हैं। इन देवी–देवताओं का अंकन प्रतिमा शास्त्र के लक्षणों के अनुरूप हुआ है। द्वितीय वर्ग की मृण्मूर्तियाँ लौकिक है। इन मृण्मूर्तियों के माध्यम से लोक जीवन का अतीव सुन्दर अंकन किया गया है। इन लौकिक मृण्मूर्तियों से समाज में प्रचलित वेश–भूषा, खान–पान, केश सज्जा आदि के सम्बंध में नवीन जानकारी उपलब्ध होती है। बच्चों के खेलने के लिए विभिन्न प्रकार की खिलौना गाड़ियों तथा पशु–पक्षियों की मृण्मूर्तियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त हुई है। गजलक्ष्मी, हारीति, कुबेर आदि की आदमकद मिट्टी की बनी मूर्तियाँ गंगा घाटी के मृण्मूर्तिकला के इतिहास महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इन बड़ी मृण्मूर्तियों का निर्माण कुषाण कालीन प्रस्तर निर्मित विशाल प्रतिमाओं से प्रभावित प्रतीत होता है। यहाँ की मृर्तिका कला के चर्तुदिक विकास में कौशाम्बी से गुजरने वाले प्रमुख व्यापारिक मार्गो का भी विशेष योगदान था।[28]

प्राचीन भारत में कौशाम्बी मृर्तिका कला का प्रधान केन्द्र था। मृण्मूर्तियों की संख्या एवं उनके वैविध्य कलाकारों की दक्षता इसके जीवन्त प्रमाण हैं।[29] यहाँ की कला जनजीवन के अधिक निकट थी। इसी कारण यह सदियों तक निरन्तर लोकप्रिय माध्यम बनी रही।[30] कलाविदों ने यहाँ की स्वतंत्र कला शैली को 'कौशाम्बी कला शैली' (Kaushambi School of Arts) की संज्ञा से अभिहित किया है। यहाँ से प्राप्त सामग्रियों से धार्मिक तथा लोकजीवन का बहुआयामी रूप उद्‌घाटित हुआ।

lUnHk %

1. मिश्रा, विभा (2005), कौशाम्बी की मृण्मूर्तियां, इलाहाबाद, पृष्ठ 29
2. शर्मा, जी0 आर0 (1960), एक्केवेशन ऐट कौशाम्बी 1957–59 ई0, इलाहाबाद
3. शर्मा, जी0 आर0 (1969), एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली
4. शर्मा, जी0 आर0 (1980), हिस्ट्री टू प्री हिस्ट्री, इलाहाबाद, पृष्ठ 7
5. क्रैमरिश, स्टेला (1939), इण्डियन टेरीकोटाज : जे.आई.एस.ओ.ए.–भाग दो, पृष्ठ 59
6. जी0 आर0 शर्मा मेमोरियल म्यूजियम, प्राचीन इतिहास विभाग, इ.वि.वि. : संख्या–ई / 64, डी–252, 255, 256, 257
7. काला, सतीश चन्द्र : टेराकोटा फिगुराइन्स फ्राम कौशाम्बी
8. इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–1034, 4532
9. इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–3684, 4529
10. इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–436, 5373, 436, 3402, 5373, 2939
11. शर्मा, जी0 आर0 (1969) : एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली
12. शर्मा, जी0 आर0 (1969) : एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली (डी / 144–58)
13. शर्मा, जी0 आर0 (1969) : एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली (IysV XLIV B1, XLIV B6, XLI B3)
14. शर्मा, जी0 आर0 (1969) : एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली (प्लेट XLVII-3,7,9)
15. शर्मा, जी0 आर0 (1969) : एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली (प्लेट XLIII-A2, A)
16. शर्मा, जी0 आर0 (1969) : एक्सकेवेशन ऐट कौशाम्बी 1949–50 मेमोयर्स ऑफ आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (नं0–74), मैनेजर पब्लिकेशन्स दिल्ली (प्लेट XLII-A1, D/585)
इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–3371, 629
17. इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–2521, 5158
जी0 आर0 शर्मा मेमोरियल म्यूजियम, प्राचीन इतिहास विभाग, इ.वि.वि. : संख्या–ई / 82
18. इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–5205
19. इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद : संख्या–3904
20. काला, सतीश चन्द्र : टेराकोटाज इन इलाहाबाद म्यूजियम, चित्र–51, 52
21. वही
22. भारत कला भवन, बीएचयू, वाराणसी : संख्या–22579
23. जी0 आर0 शर्मा मेमोरियल म्यूजियम, प्राचीन इतिहास विभाग, इ.वि.वि. : संख्या–जी / 2
24. अग्रवाल, वासुदेव शर्मा : भारतीय कला, पृष्ठ 329–30
25. धवलिकर : मास्टरपीसेज ऑफ इण्डियन टेरीकोटाज, पृष्ठ 39
26 मिश्रा, विभा (2005) : कौशाम्बी की मृण्मूर्तियां, इलाहाबाद, पृष्ठ 60
27 वहीं
28. अहमद, जमील : कौशाम्बी का घोषिताराम विहार : एक पुनरावलोकन (विद्यावार्ता जर्नल, Issue II, Vol 4, July to Sep 2015, पृष्ठ 151
29. पाण्डेय, एस0 के0 (2011) (सम्पादित) : कौशाम्बी का स्वर्णिम इतिहास एंव वर्तमान, इलाहाबाद (विभा मिश्रा– कौशाम्बी का कलात्मक वैभव, पृष्ठ 184)
30. काला, सतीश चन्द्र : भारतीय मृत्तिका कला, पृष्ठ 5

****

xkeh.k 'kfDr lajpuk % ,d lekt'kkL=h; v/;;u

MkW0 lhrkjke flag*

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में भारत एक अग्रणी देश माना जाता है। शक्ति का विकेन्द्रीकरण ही पंचायती राज व्यवस्था की शक्ति है। शक्ति संरचना एवं सामाजिक संरचना के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। भारतीय गांवों में शक्ति संरचना को समझने के लिए इसके अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक पक्षों को समझना आवश्यक है। शक्ति सामाजिक संरचना का प्रमुख आधार है तथा इसे सामाजिक परिवर्तन का वाहक कहा गया है। शक्ति के अभाव में न तो जीवन सम्भव है और न ही राजनीति। मैकाइबर ने लिखा है कि समस्त गति, समस्त सम्बन्ध, सभी प्रतिक्रियायें, समस्त व्यवस्था और प्रकृति में होने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है।[1] शक्ति को परिभाषित करते हुए हॉटर्न एवं हण्ट ने लिखा है– दूसरे की क्रियाओं को नियंत्रित करने की क्षमता को ही शक्ति कहते हैं।[2] मैकाइबर ने लिखा है– शक्ति होने से हमारा अर्थ व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करने, नियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता है।[3] इसी प्रकार पारसन्स शक्ति को समाज व्यवस्था की एक ऐसी सामान्यकृत क्षमता मानते हैं, जिसका उद्देश्य सामूहिक लक्ष्यों के हितों को पूर्ण करना होता है।[4] मैक्स वेबर ने भी शक्ति की व्याख्या इस प्रकार किया है– ''सामान्यतः हम शक्ति को एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा इच्छा को दूसरों पर क्रियान्वित करने अथवा दूसरे व्यक्तियों द्वारा विरोध करने पर भी उसे पूर्ण कर लेने की स्थिति को कहते हैं।[5] योगेन्द्र सिंह ने शक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि शक्ति की समाजशास्त्रीय व्याख्या में समाज के भीतर अन्तः क्रिया करने वाले, ऐसे सभी व्यक्तिगत, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक तत्व सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनके परिणामस्वरूप प्रभुत्व और अधीनता अथवा स्वार्थों का नियन्त्रण और नियन्त्रित व्यक्तियों की और नियन्त्रकों अर्थात् शक्तिधारी व्यक्तियों की संरचना के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों की एक विधि का विकास होता है।[6] वास्तव में 'शक्ति' वह केन्द्र बिन्दु है जो सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गत्यात्मकता को प्रभावित करती है।

परम्परागत भारतीय गांवों में शक्ति संरचना के प्रमुख तीन आधार थे– जमींदारी प्रथा, ग्राम पंचायत एवं जाति पंचायत। जहां एक तरफ जमींदारी प्रथा समुदाय के लोगों को भौतिक एवं आर्थिक हितों तथा आकांक्षाओं की प्रतिनिधि थी तो दूसरी ओर ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायतें ग्रामीण राजनीति की सामाजिक विशेषताओं की प्रतीक थी।

भारत एक कृषि प्रधान देश होने के कारण यहां भू–स्वामित्व के आधार पर शक्ति का निर्धारण होता रहा है। जमींदारी व्यवस्था गांव की शक्ति व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जमींदारी प्रथा के बाद ग्रामीणों के व्यवहार, संस्कार, परम्परागत अपेक्षाओं एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाला दूसरा प्रमुख संगठन जाति पंचायत था। जमींदारी प्रथा, जाति पंचायतों के अलावा ग्राम पंचायतें ग्रामीण समाज की शक्ति संरचना का महत्वपूर्ण आधार है। इन तीनों के अलावा गांव में शक्ति के अन्य स्रोत पुरोहित, प्रथायें, परम्परायें एवं जनरीतियां थी, जिन्हें ग्रामवासी अचेतन रूप से स्वीकार करते रहे हैं।

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, परास्नातक समाजशास्त्र विभाग, गनपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुलतानपुर (उ0प्र0)।

स्वतन्त्रता के पश्चात् पंचायती राज व्यवस्था के आंशिक रूप से सफल होने के पश्चात् भी शक्ति के परम्परागत स्रोतों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो सका है। योगेन्द्र सिंह[7] के अध्ययन भी इस बात की पुष्टि करते हैं–

1. अब भी अधिकांश गांवों में पंचों एवं सरपंचों के चयन में जाति एवं वर्ग का महत्व कम नहीं हुआ है।
2. निम्न जातियां एवं वर्ग संगठित होकर उच्च जातियों एवं वर्गो से शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा कर रहें हैं।
3. नवीन ग्रामीण शक्ति व्यवस्था में गांव की सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सहभागिता की इकाई व्यक्ति न होकर परिवार अथवा जाति के आधार पर बने समूह या गुट हैं।
4. ग्रामीण शक्ति संरचना आज भी विभिन्न जातियों एवं वर्गों की आर्थिक सम्पन्नता एवं वंचित रहने के प्रतिमान द्वारा प्रभावित हैं।

जबकि आन्द्रे बेंतेइ (1966:180) ने अपने अध्ययन में यह देखा कि शक्ति काफी हद तक वर्ग से अतीत की अपेक्षा मुक्त हो गयी है। शक्ति–अर्जन में भू–स्वामित्व अब निर्णायक कारक नहीं है। सिरसीकर (1970), कैरास (1972), इनामदार (1971), राम रेड्डी (1970), ईश्वरन (1972), योगेश अटल (1971) ने भी गांवों में राजनीतिक दलों द्वारा आधार बनाये जाने और पंचायत राज संस्थाओं के आरम्भ होने की गांवों में नेतृत्व परिवर्तन की व्यवस्था के स्वभावगत प्रभाव का अध्ययन किया।

इस प्रकार भारतीय परम्परागत ग्रामीण व्यवस्था में शक्ति संरचना प्रभुत्व एवं जमींदारी, ग्राम पंचायत और जाति पंचायत पर आधारित था, ये आर्थिक सम्बन्ध एवं शक्ति सम्बन्धों को भी तय करते थे। परम्परागत शक्ति संरचना को बदलने के लिए स्वतन्त्र भारत के अनेक कानूनी कारक उत्तरदायी रहे हैं। इसके अलावा संविधान द्वारा निम्न जातियों के लिए आरक्षण की सुविधा का लाभ भी अस्पृष्य जातियों ने उठाया है और शक्ति ग्रहण की है। इन सभी परिवर्तनों के बावजूद गांवों में राजनीतिक शक्ति अभी भी आर्थिक शक्ति पर निर्भर है।

उद्देश्य : प्रस्तुत शोध अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. गांवों में परम्परागत शक्तिशाली समूह के शक्ति संरचना का अस्तित्व किस प्रकार का है?
2. गांव में शक्ति संरचना के बदलाव के कारण कौन से हैं?
3. गांव में शक्ति संरचना के बदलाव का स्वरूप किस प्रकार का है?

midYiuk%& अध्ययन के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हमने अध्ययन–विषय से सम्बन्धित निम्नलिखित उपकल्पनाओं को निर्मित किया है–

1. परम्परागत ग्रामीण शक्ति संरचना में बदलाव हो रहे हैं।
2. ग्रामीण शक्ति संरचना में बदलाव का प्रमुख कारण पंचायत चुनाव में आरक्षण है।
3. परम्परागत ग्रामीण शक्ति संरचना के स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है।

v/;;u i}fr%& प्रस्तुत अध्ययन सुलतानपुर जिले के सुलतानपुर सदर तहसील के कुड़वार विकासखण्ड के 60 नौगवा रैतासी, मुड़ई नेवादा, कुड़वार, बहलोलपुर, अझुई, भड़रा पराशुरामपुर, रवनिया पश्चिम, मझना, धरावा, गजेहड़ी का अध्ययन किया गया। इन गांवों के चयन का आधार पंचायत चुनाव के पूर्व, समय एवं बाद में हिंसा एवं अशांतिग्रस्त गांव रहा है। इनमें से प्रत्येक गांव से 10–10 ग्रामीण नेताओं का चयन कर कुल 100 उत्तरदाताओं का अध्ययन किया गया। यह अध्ययन त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव वर्ष 2010 के बाद किया गया है। न्यायदर्शों का चयन सोद्देश्य निदर्शन प्रणाली के तहत स्ट्रेटिफाइड प्रपोर्सनेट रैण्डम सैम्पलिंग प्रणाली का अनुसरण किया गया है। साक्षात्कार–अनुसूची एवं सहभागी अवलोकन प्रविधियों का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 88.0 प्रतिशत उत्तरदाता पुरूष हैं, जबकि 12.0 प्रतिशत उत्तरदाता महिलायें हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय समाज के गांवों की राजनीति में अभी भी पुरूषों का वर्चस्व कायम है। इसी प्रकार अध्ययन में अधिकांश

72.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं की आयु 40 वर्ष या इससे कम आयु समूह के हैं, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अधिकांश ग्रामीण नेता युवा हैं। अध्ययन में सर्वाधिक 59.0 प्रतिशत उत्तरदाता उच्च जाति के हैं।

इसी प्रकार अधिकांश 80.0 प्रतिशत उत्तरदाता हिन्दू धर्म के हैं। अध्ययन किये गये अधिकांश 58.0 प्रतिशत उत्तरदाता हाईस्कूल या इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा प्राप्त किये हुये हैं। अधिकतर 60.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन कृषि पर आधारित व्यवसाय एवं पशुपालन ही है। सर्वाधिक 48.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार की मासिक आय रू0 5001/– से 7000/– तक है, जो मध्यम वर्ग के हैं। सर्वाधिक 40.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के पास 7 बीघे से कम जमीन है।

भारत के गांवों की परम्परागत सामाजिक संरचना सामन्तवादी मूल्यों एवं आदर्शो पर आधारित रही है। सामाजिक स्तरीकरण का आधार भी परम्परागत जातीय श्रेष्ठता या कर्मकाण्डीय पवित्रता रही है (ड्युमा : 1965)। उच्च जाति के हाथों में ग्रामीण नेतृत्व सामान्यतः केन्द्रित था, उनके सुझाव तथा निर्णय निम्न जाति एवं निर्धन गांवों के लिए मान्य थे। इसी परिप्रेक्ष्य में उत्तरदाताओं से यह जानने का प्रयास किया गया कि क्या उनके ग्रामसभा में परम्परागत शक्तिशाली समूह का अस्तित्व है। अध्ययन से प्राप्त आंकड़ों के विवेचन से स्पष्ट है कि 68.0 प्रतिशत ग्रामीण नेता यह मानते हैं कि निदर्श क्षेत्र के अधिकतर ग्रामसभाओं में परम्परागत शक्तिशाली समूह का अस्तित्व है। इसी क्रम में अध्ययन से सर्वाधिक 72.0 प्रतिशत उत्तरदाता परम्परागत ग्रामीण शक्तिशाली समूह के शक्ति संरचना में बदलाव को स्वीकार करते हैं।

इसी सन्दर्भ में उत्तरदाताओं से यह भी जानने का प्रयास किया गया है कि वह कौन से कारण हैं जो परम्परागत ग्रामीण शक्तिशाली समूह के शक्ति संरचना में बदलाव दिखलाते हैं। इस सम्बन्ध में उत्तरदाताओं के विचारों का विवरण निम्नलिखित है–

सारणी संख्या–1

गांव के भाक्ति संरचना में बदलाव के कारणों का विवरण

शक्ति संरचना में बदलाव का कारण	संख्या	प्रतिशत
पुराने शक्तिशाली समूह की पक्षपात पूर्ण नीति	23	23.0
आरक्षण की सुविधा से नये नेतृत्व का उदय	64	57.0
वर्तमान समस्या के प्रति उदासीनता	08	08.0
शक्तिशाली समूह का आपसी संघर्ष	12	12.0
योग	100	100.0

सारणी संख्या–1 के विवेचन से विदित होता है कि सर्वाधिक 57.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने गांव के शक्ति संरचना में बदलाव का कारण आरक्षण की सुविधा के कारण नये नेतृत्व के उदय की बात को स्वीकार किया है, 23.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने पुराने शक्तिशाली समूह की पक्षपात पूर्ण नीति को उत्तरदायी माना है, 12.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने शक्तिशाली समूह के आपसी संघर्ष को शक्ति संरचना में बदलाव का कारण माना है। जबकि 8.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने वर्तमान समस्या के प्रति उदासीनता को माना है।

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश उत्तरदाता परम्परागत शक्तिशाली समूह की शक्ति संरचना में बदलाव के कारण को पंचायत चुनाव में आरक्षण की सुविधा से नये नेतृत्व के उदय को बताया है। जिससे पिछड़ी जाति एवं निम्न जाति के लोग भी शक्तिशाली होने लगे हैं और वे शिक्षा और राजनीति के माध्यम से समाज में मान–प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे हैं। इससे उपकल्पना संख्या एक एवं दो प्रमाणित होती है।

लोकतंत्र के पश्चात् परम्परागत शक्ति संरचना में परिवर्तन के संकेत मिलने लगे हैं। इसी सन्दर्भ में गांव में शक्ति संरचना के बदलाव के प्रमुख स्वरूप का अध्ययन किया गया।

सारणी संख्या–2

गांव में 'kfDr संरचना के बदलाव के प्रमुख स्वरूप का विवरण

शक्ति संरचना में बदलाव का प्रमुख स्वरूप	संख्या	प्रतिशत
सवर्ण जाति के हाथों में	48	48.0
पिछडी जाति के हाथों में	27	27.0
अनुसूचित जाति के हाथों में	14	14.0
अन्य (गैर हिन्दू जाति के हाथों में)	11	11.0
योग	100	100.0

सारणी संख्या–2 से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 48.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार परम्परागत शक्तिशाली समूह की शक्ति संरचना में बदलाव होने के पश्चात् भी ग्राम सभा में शक्ति संरचना सवर्ण जाति के हाथों में हैं, 27.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने पिछड़ी जाति के हाथों में शक्ति संरचना की बात को स्वीकार किया है, 14.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अनुसूचित जाति के हाथों में शक्ति संरचना को स्वीकार किया है, जबकि 11.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अन्य (मुस्लिम) के हाथों में शक्ति–संरचना को स्वीकार किया है।

अतः इससे स्पष्ट है कि ग्रामीण शक्ति संरचना में बदलाव स्वीकार करने के पश्चात् अधिकांश उत्तरदाताओं ने इसके वर्तमान स्वरूप को सवर्ण जाति के हाथों में बताया है। इससे उपकल्पना संख्या तीन असत्य प्रमाणित होती है।

अध्ययन से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 82.0 प्रतिशत उत्तरदाता ग्रामीण नेतृत्व के लिए शक्ति को आवश्यक मानते हैं। इस शक्ति में धन, गुट, शारीरिक शक्ति, सरकारी कर्मचारी या पुलिस से मेल–जोल को आवश्यक माना है। इसके साथ ही ग्रामीण समुदाय में सामाजिक सम्मान एवं सुरक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता है। अन्तः ग्राम द्वन्द्व में ग्रामीण नेतृत्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहभागी हैं।

इस प्रकार समग्र विश्लेषण से निष्कर्षतः स्पष्ट है कि भारतीय गांवों में परम्परागत शक्तिशाली समूह का अस्तित्व है लेकिन इसके बावजूद ग्रामीण नेता परम्परागत ग्रामीण शक्ति संरचना में बदलाव को स्वीकार करते हैं। ग्रामीण शक्ति संरचना के बदलाव का प्रमुख कारण पंचायत में आरक्षण की सुविधा को बताया है। आरक्षण से महिलाओं, पिछड़ी जाति एवं अनुसूचित जाति के लोगों में जागरूकता आयी है तथा शिक्षा और राजनीति के माध्यम से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ी है। इसके साथ ही गांव में शक्ति संरचना का प्रमुख स्वरूप अभी भी सवर्ण जाति के हाथों में केन्द्रित है। इसका तात्पर्य यह है कि संविधान एवं कानूनी प्रावधानों के बावजूद भी ग्रामीण शक्ति संरचना मन्थर गति से परिवर्तित हो रही है, जो एक स्वस्थ लोकतंत्र का सूचक है।

lUnHkZ

1. बघेल, डी0एस0 एवं कर्चुली, टी0पी0एस0, राजनैतिक समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, 2010, पृ0 381।
2. हॉटर्न, पी0बी0 एवं हण्ट, सी0एल0, 'सोशियोलॉजी', 1954, पृ0 293।
3. मैकाइबर, आर0एम0, 'दि वेब ऑफ गवर्नमेन्ट',: दि मैक्मिलन कम्पनी, न्यूयार्क 1947, पृ0 458।
4. पारसन्स, टॉलकॉट, ''स्ट्रक्चर एण्ड प्रॉसेस इन मॉडर्न सोशॉयटीज'', 1960, पृ0 181।
5. वेबर, मैक्स, 'ऐसे इन सोशियोलॉजी', एच0एच0 गर्थ और सी0आर0 मिल्स द्वारा अनूदित, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1946, पृ0 180।
6. सिंह, योगेन्द्र, 'द चेन्जिग पॉवर स्ट्रक्चर ऑफ विलेज कम्यूनिटि – ए केस स्टडी ऑफ सिक्स विलेजेज इन ईस्टर्न यू0पी0, इन रूरल सोशियोलॉजी इन इण्डिया, एडिटेड बाई ए0आर0 देसाई, पृ0 709–723।
7. सिंह, योगेन्द्र, तदैव, पृ0 722।

****

vk"kk< dk ,d fnu % vk/kqfud lanHkZ

vkuUn dqekj xkSM*

नाट्यविधा अपने 'दृश्यत्व', प्रत्यक्ष अनुभूति और सीधे साक्षात्कार के अत्यन्त रोमांचक अनुभव एवं क्रिया–प्रतिक्रिया से युक्त होने के कारण साहित्य की सभी विधाओं से सर्वथा मौलिक, विशिष्ट और जटिल विधा रही है। आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में इसे पंचवेद की संज्ञा दी है और संस्कृत के आचार्यों ने 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर उसकी दृश्यानुभूति और सामाजिकता को उसकी व्यापकता और भाव–सघनता को रेखांकित किया।

हिन्दी साहित्य का गद्य इतिहास इस बात का गवाह रहा है, कि नाटक विधा अपने आप में एक महती उपलब्धि रही है। जैसा हम जानते हैं कि प्रख्यात नाटककार मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' स्वतंत्रता के बाद का लिखा हुआ है, जो अपनी समसामयिकता के चलते आज भी प्रासंगिक है। यह नाटक मोहन राकेश का पहला और सर्वोत्तम नाटक ही नहीं, आज के नाटक की पहली महत्वपूर्ण उपलब्धि है। रामचन्द्र तिवारी जी लिखते हैं कि 'आधुनिक हिन्दी नाटक के विकास में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी नाटक को रोमेंटिकता से मुक्त कर आधुनिक भावबोध से जोड़ा है।'[1]

प्रत्यक्ष रूप में यह नाटक ऐतिहासिक है, लेकिन यह ऐतिहासिकता कहने भर को है। असलियत में पूरा नाटक आधुनिक ही नहीं यथार्थवादी भी है। मोहन राकेश ने अतीत के इतिहास ज्यों का त्यों विवरण प्रस्तुत नहीं किया है, और न ही तत्कालीन घटनाएँ दोहराई हैं। इस नाटक में न तो ऐतिहासिक काल्पनिक पात्रों का जमघट है और न अतीत के गौरव का मान ही। मोहन राकेश ने तो आधुनिक मानव के द्वंद्व, जटिलता को ही पकड़ना चाहा है। आरम्भ से अन्त तक बहुत अधिक सूक्ष्म स्तर पर यह नाटक आज के यथार्थ के आधुनिकता को व्यक्त करता चलता है। यहीं मोहन राकेश मौलिक और ज्यादा आधुनिक हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास के जीवन से सम्बन्धित नाटक है, लेकिन यह नाटक ख्याति प्राप्त कवि कालिदास के बारे में उतना नहीं है, जितना कि एक बनते हुए कवि और प्रसिद्धि के चरम शिखर पर पहुँचने वाले कवि के बारे में है। वस्तुतः यह नाटक आधुनिक मानव की विवशता, उसके अंतर्द्वद्व का, उसकी जटिलता का नाटक है। कालिदास के माध्यम से वर्तमान स्थिति पर बल देते हुए मोहन राकेश ने दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचल दिया जाता है। आज के मूल्य बोध से युक्त असाधारण कवि या साहित्यकार न व्यवस्था को एकदम छोड़ पाता है और न उससे समझौता करके चल पाता है। कालिदास का अंतर्द्वद्व और टूटन आज के साहित्यकार का द्वंद्व और पीड़ा की अभिव्यक्ति है।

साहित्यकार को इतनी स्वतंत्रता तो मिलनी ही चाहिए कि वह राजनीति की गलत ट्रेजडी को गलत कह सके, उससे असहमत हो सके, क्योंकि स्वतंत्रता ही उसकी रचना को शक्ति देती है। कहना न होगा कि यह नाटक कालिदास के माध्यम से एक साहित्यकार के इस मानसिक द्वंद्व को व्यक्त करता है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

'आषाढ़ का एक दिन' का औचित्य इस बात से भी ठहरता है कि रंगिनी और संगिनी तथा अनुस्वार और अनुनासिक जैसे पात्रों की सम्भावना आज हमारे आधुनिक परिवेश में दिखती है। हमारी राज–व्यवस्था थोथी प्रतिक्रिया के माध्यम से नागरिकों के मौलिक हित की अनदेखी कर रहा है। मोहन राकेश जी के ये पात्र आज के आधुनिक सन्दर्भ में पूर्ण रूप से सार्थक हैं।

आज जब हम 21वीं शदी में विद्यमान हैं तो हमें अपनी आंतरिक परिस्थितियों– परिवार की टूटन, सामाजिक मान्यताएं, प्रेम की अभिव्यक्ति के साथ–साथ हमारे राजनीतिक वर्ग में व्याप्त भ्रष्टाचार, चापलूसी और कवि जैसे हृदय की अनदेखी जैसी तमाम समस्याओं की अभिव्यक्ति मोहन राकेश के इस नाटक मिलते हैं।

आज के पूंजीवादी दौर में जहाँ आर्थिक असमानता का विष पूरे समाज में व्याप्त है, उसे मोहन राकेश जी ने भी अपने नाटक में उठाया है– अम्बिका एक साधारण गाँव की स्त्री है, जो अभाव ग्रस्त है। अभाव ही उसके जीवन का कटु सत्य है आज के भूमंडलीकरण के दौर में भी इसी तरह के अभाव की जिन्दगी जीने को कुछ खास वर्ग अभिशप्त हैं और अपना भविष्य बनाने के बजाय अभाव को ही अपना वर्तमान, भूत और भविष्य मानने के लिए विवश हैं। मातुल, आज की अवसरवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है सत्ताधरियों और प्राप्त अवसर के अनुकूल अपने को बदल लेना उसकी प्रवृत्ति है। भौतिक लाभ ही उसका मुख्य लक्ष्य है, इसीलिए कालिदास द्वारा राजकीय सम्मान को स्वीकार न करने की बात सुनकर वह आगबबूला हो जाता है – ''मेरी समझ में नहीं आता की इसमें क्रय–विक्रय की क्या बात है ? सम्मान मिलता है ग्रहण करो। नहीं कविता का मूल्य ही क्या है ?''[2] उसकी भौतिकवादी दृष्टि कविता को, कवि को महत्व नहीं देती, महत्व देती है – सत्ता को, राज्य को, राजकीय सम्मान को, क्योंकि वह लोकनीति को समझता है।

मोहन राकेश इस भौतिकवादी दृष्टि के बहुत समर्थक नहीं हैं। अंतिम अंक में कृत्रिम जीवन से वितृष्णा और ऊपरी चमक से भरे खोखलेपन को ही दिखाया है। स्पष्ट मान्यता है कि भौतिकवादी और अवसरवादी दृष्टि जो कुछ समझ पाती है, वह सदा झूठ होता है। यानी सत्य सदा उसके विपरीत होता है। आज के मनुष्य में अवसरवादिता और वाह्य जीवन का आकर्षण उसकी मनोवृत्ति बन गयी है– जो मनुष्य को कुछ स्थायित्व नहीं देती– देती है केवल एक क्षणिक सुख।

हमारा समाज एक ओर तरक्की कर रहा है और दूसरी ओर इन महत्वपूर्ण पहलुओं और उसकी समसामयिकता से अनभिज्ञ बनता जा रहा है। मोहन राकेश जी का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' कई मायनों में इस पूंजीवादी और राजनीतिक सांठ–गांठ की परत को खोलने का काम करता है।

lanHk ¼

1. हिन्दी का गद्य साहित्य – प्रो0 रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण 2007, पृ0सं0 367
2. आषाढ़ का एक दिन – मोहन राकेश, राजपल एण्ड सन्स़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण 2009, पृ0सं0 28

****

dchjnkl dk lkekftd fpUru

vk'kh"k dqekj*

कबीरदास निर्गुण धारा के प्रवर्तक भक्त कवि के रूप में प्रतिष्ठापित हैं। मध्यकाल के समय में समाज विभिन्न कुरीतियों–छुआछूत, ऊँच–नीच, गरीब–अमीर, स्त्री–पुरूष के भेदभाव से जकड़ा था। ऐसे समय में भक्ति ही वह माध्यम था जो इस कुचक्र को तोड़ सकता था। दक्षिण भारत से जब भक्ति आन्दोलन ने अपनी गति पकड़ी तो उत्तर भारत की सामाजिक दशा इस आन्दोलन के लिए सबसे उपयुक्त थी, जहाँ पर भक्ति का विस्तार हुआ। दक्षिण भारत में आलवारों के माध्यम से भक्ति प्रसारित हुई। आलवारों की भक्ति परम्परा में कबीरदास जैसा सामाजिक भेदभाव पर तीव्र प्रतिक्रिया नहीं है; अपितु भक्ति को सरलतापूर्वक निम्न वर्ग से जोड़ने की चेष्टा की गयी। इसी तरह का प्रयास आलवारों से पूर्व बौद्ध धर्म में भी दिखायी पड़ता है। महात्मा बुद्ध के चिन्तन में निम्न वर्ग के प्रति कल्याण की भावना थी। इस धर्म में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। इनके प्रयत्नों के बावजूद भी कबीरदास के समय में समाज भेदभाव से ग्रसित रहा। कबीरदास ने स्वयं इस भेदभाव के दर्द को गहराई तक महसूस किया था। इसलिए उनके सामाजिक चिन्तन में तार्किकता तथा सच्चाई विद्यमान है। कबीर ने न केवल सामाजिक भेदभाव का विरोध अपितु समाज को प्रेम, अहिंसा का पाठ भी पढ़ाया। कबीरदास जी का अनुभव जगत अधिक व्यापक है उनकी बातों या विचारों को नकारना संभव नहीं है। क्योंकि सज्जनों की संगति तथा गुरु के आशीष से उनके पास व्यापक ज्ञान तथा शब्द भण्डार था जिसे उन्होंने प्रभावशाली माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

कबीरदास ने मध्यकालीन समाज के दुःख दर्द को प्रस्तुत किया। जहाँ समाज का अमीर वर्ग भोग–विलास में लिप्त था वहीं समाज का निम्न वर्ग अपनी दयनीय सामाजिक स्थिति के साथ भूखे रहने के लिए बेबस था। कबीरदास के चिन्तन में उनके प्रति गहरी सहानुभूति है, वे स्वयं उनकी पीड़ा को महसूस करते दिखलाई पड़ते हैं। उनका नाम उन सभी लोगों के साथ जुड़ता है। जो सामाजिक दुर्दशा से त्रस्त तथा दुःखी रहे। कबीरदास जी इसी बात को कहते हैं कि–

सुखिया सब संसार है खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवै।।[1]

निश्चित रूप से कबीर का दर्द समाज में जी रहे उन सम्पूर्ण लोगों का दर्द है, जो आर्थिक सामाजिक समस्या से घिरे रहे। कबीरदास एक ऐसे समाज को देखना चाहते थे जहाँ कोई दुःखी न हो, गरीबी से पीड़ित भूखा न रहे। सामान्य जन से जुड़ने तथा अपने देश के लोगों से आत्मीयता की प्रवृत्ति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य में भी दिखायी पड़ता है। 'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने देशवासियों के दुःख को महसूस करते हुए लिखते हैं कि–

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।[2]

कबीरदास के सामाजिक चिन्तन में धार्मिक कर्मकाण्डों पर प्रहार भी विद्यमान है। कबीरदास उस धार्मिक–सामाजिक विचारधारा के विरोधी हैं जिसके अनुसार भगवान केवल मन्दिर में और खुदा

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मस्जिद में रहता है। कबीरदास इससे असहमति जताते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व सर्वव्यापी है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि यदि भगवान मन्दिर में रहता है और खुदा मस्जिद में तो मन्दिर मस्जिद जहाँ नहीं है वहाँ का ठाकुर कौन होता होगा। वहाँ किसकी ठकुराई चलती होगी–

तुरक मसीद देहुरे, हिन्दू दुहुठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाही तहाँ काकी ठकुराई।।[3]

उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन समाज विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्डों में लिप्त था जिसमें समाज के निम्न वर्ग की उपेक्षा तथा अनादर का भी रहा। कबीरदास का मानना है कि ईश्वर सर्वव्यापी है किन्तु समाज के लोग उसे मन्दिर मस्जिद में ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। कबीरदास की यह विचारधारा इकबाल के मत से भी साम्य रखता है। इकबाल कहते हैं कि–

जिन्हें मैं ढूँढ़ता था आसमानों में जमीनों में।
वो निकले मेरे जुल्मतखानए–दिल के मकीनों में।

अर्थात् जिन्हें मैं आसमान और जमीन पर ढूँढ़ रहा था वो मेरे अन्दर ही है। इसलिए व्यक्ति को इधर–उधर भटकना नहीं चाहिए, अपितु अन्तर्मन से परमेश्वर का स्मरण करना चाहिए। तभी समाज सही दिशा में चल सकेगा। हिन्दू, मुसलमान प्रायः मन्दिर मस्जिद में ही ईश्वर की भक्ति करते हैं। लेकिन ईश्वर तो सर्वत्र विद्यमान है।

कबीरदास ने भारतीय सामाजिक परम्परा के अनुसार गुरु को आदर–भाव तथा ऊँचा दर्जा दिया। क्योंकि गुरु ही शिष्य को अच्छे, बुरे का बोध कराता है जिससे समाज का कल्याण होता है। भारत में प्राचीन समय से ही गुरु के प्रति आदर भाव का दृष्टिकोण रहा है कबीरदास इससे जुड़ते हुए कहते हैं कि अच्छा हुआ जो मुझे गुरु मिले नहीं तो बड़ी हानि होती जिस प्रकार पतिंगा अज्ञान के कारण दीपक में कूदकर अपनी जान दे देता है उसी प्रकार मेरी भी हानि होती–

भली भई जो गुरु मिले, नहिंतर होती हानि।
दीपक जोति पतंग ज्यों पड़ता पूरी जानि।।[4]

कबीरदास के विषय में यह स्पष्ट है कि उन्होंने जो भी ज्ञान सीखा अपने गुरु की कृपा तथा सत्संग के माध्यम से ही सीखा। इसलिए उन्होंने गुरु को महत्व दिया क्योंकि गुरु सत्संग की ओर प्रेरित करता है। सत्यंग से व्यक्ति को उचित ज्ञान प्राप्त होता है। रामचरितमानस में भी तुलसीदास कहते हैं कि– ''बिनु सत्संग विवेक न होई''[5] अर्थात् बिना सत्संग के विवेक की प्राप्ति संभव नहीं है। यह सत्संग गुरु तथा ईश्वर के आशीर्वाद से ही संभव हो पाता है। अतः सामाजिक सुधार की दिशा में कबीरदास का समाज के प्रति हितकर सन्देश रहा।

कबीरदास ने समाज को प्रेम का पाठ भी पढ़ाया। प्रायः कबीरदास को उग्र विचारधारा का माना जाता है जो सामाजिक भेदभाव से असंतुष्ट समाज में विद्यमान बुराइयों पर कठोर प्रहार करते हैं किन्तु इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि कबीर ने समाज को प्रेम की ओर प्रेरित किया जब व्यक्ति के हृदय में प्रेम होगा तो व्यक्ति अहिंसावादी तथा मानवीय होगा। उसके हृदय में ऊँच–नीच का भाव नहीं रहेगा तथा प्रेम की शक्ति द्वारा ही वह उस परमेश्वर की शरण में जा सकता है जिसने सृष्टि की रचना की है। कबीरदास ने समाज को यह उपदेश दिया कि ऐसा शास्त्र–ज्ञान निरर्थक है जिसमें प्रेम का अभाव है। जो व्यक्ति प्रेम का पाठ पढ़ लेता है वही पंडित है। प्रेम के अभाव में समाज का कल्याण संभव नहीं है। इसीलिए कबीरदास जी कहते हैं प्रेम को चखा नहीं उसको जाना नहीं, सूने घर में मेहमान की तरह जैसा आया वैसा चला गया तो समझो जन्म लेना ही व्यर्थ है–

कबीर प्रेम न चाखिया चाखि न लिया साव।
सूनै घर का पाहुनां, ज्यौं आवै त्यौं जाव।।[6]

कबीरदास समाज कल्याण हेतु अहिंसा पर भी जोर देते हैं। हिंसा से समाज में अव्यवस्था फैलती है, प्रेम का नाश तथा मानवता का हनन होता है। इसलिए कबीरदास ने सभी जीवों के प्रति

अहिंसा का दृष्टिकोण अपनाया। यह वही दृष्टिकोण है जिसे बौद्ध धर्म में महात्मा बुद्ध तथा जैन धर्म में महावीर स्वामी ने प्रमुखता से अपनाया था तथा यह उपदेश दिया कि जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिए, उनके प्रति स्नेह भाव रखना चाहिए। लेकिन जो लोग पशुओं की हत्या करते हैं कबीरदास उनको कहते हैं कि–

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल
जो नर बकरी खात है तिनको कौन हवाल?[7]

अतः यह कहा जा सकता है कि कबीरदास का सामाजिक चिंतन मानवीय कल्याणकारी भावना से परिपूर्ण है। जहाँ सामाजिक भेदभाव का विरोध है। उन्होंने न केवल मानव कल्याण के लिए चिन्तन किया अपितु अन्य जीवों के प्रति भी दया भाव का उपदेश दिया। उन्होंने समस्त मानव जाति के हित तथा ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रेममूलक भक्ति पर जोर दिया। कबीरदास एक ऐसे समाज का निर्माण चाहते थे जहाँ मानवीय अत्याचार न हो। मनुष्य मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेदभाव न रहे तथा लोग अंधविश्वास तथा कुरीतियों के जाल से मुक्त रहें। ईश्वर को केवल मन्दिर मस्जिद में न खोजे क्योंकि वह सर्वव्यापी है जो सृष्टि के कण कण में व्याप्त है वो आपके ह्रदय में भी रहता है। कबीरदास का सामाजिक चिन्तन सम्पूर्ण मानव जाति को यह सीख देता है कि मनुष्य को परस्पर जाति, धर्म के भेद में उलझना नहीं चाहिए। अपितु मानवीय हित के लिए कार्य करना चाहिए तथा अपने गुरु, ईश्वर को ऊँचा दर्जा देना चाहिए।

I UnÒ %

1. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य– शिवकुमार मिश्र, प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृ0सं0 82, 84
2. भारत दुर्दशा– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (संपादक गोपाल राय) प्रकाशक : प्रिया प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 2000, पृ0सं0 1
3. कबीर बानी– अली सरदार जाफ़री, प्रकाशक : हिन्दुस्तानी अकादमी बम्बई द्वारा 1965 में प्रकाशित, पृ0सं0 109, 190
4. कबीर–वाणी–सुधा– डॉ0 पारसनाथ तिवारी, प्रकाशक : राका प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण 2003, पृ0सं0 190
5. श्रीरामचरितमानस– गोस्वामी तुलसीदास, प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर–273005, एक सौ सातवां पुनर्मुद्रण, पृ0सं0 5
6. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास– विश्वनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक : ओरियंट लाग्मैन प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम प्रकाशित 2007, पृ0सं0 29

****

egxkbZ ij dkcw ik;s fcuk *lcdk lkFk&lcdk fodkl* ,d dkj dfYir igy

MkW0 Lokeh ukFk frokjh*

''बदले हुए विश्व परिवेश में, सत्ता राजनीति से नहीं, अपितु अर्थशास्त्र से जन्म लेती है। जरूरी यह है कि अपेक्षित आर्थिक नियति को केन्द्र बनाकर राष्ट्रीय पहचान गढ़ी जाए। हमें स्वतन्त्र भारत के इसी स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा में बढ़ना होगा।''

राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त मँहगाई की समस्या ने आम जनता से लेकर सरकार तक के बजट एवं योजनाओं को असन्तुलित एवं अव्यवस्थित कर दिया है। आज देश में मानव जीवनोपयोगी वस्तुओं की मँहगाई अर्थव्यवस्था को चुनौती देने वाली सबसे बड़ी खतरनाक समस्या बन गयी है। राष्ट्र के योजनाबद्ध सतत आर्थिक विकास एवं अनेक क्षेत्रों में प्रशंसनीय प्रगति के बावजूद जन सामान्य के दैनिक उपभोग की आवश्यक वस्तुओं की सुलभता में कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई है। उत्तरोत्तर वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से जीवन निर्वाह भी आज के मनुष्य के समक्ष समस्या बन गयी है। रूपये की कीमत इतनी कम हो गई है, कि गरीब तथा मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के लिए जीवन–यापन दूभर हो गया है। भौतिक वस्तुओं के मूल्य ह्रास के साथ–साथ नैतिक, चारित्रिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी मूल्यों पर सर्वव्यापी ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। फलस्वरूप अभाव और असन्तोषपूर्ण इस वातावरण में आम आदमी कुंठित जीवन व्यतीत कर रहा है फलस्वरूप मँहगाई की समस्या अपने आप में अनेक समस्याओं की जड़ है, और यह निरन्तर भयावह रूप लेती जा रही है। जिसके कारण सरकारी प्रयास निष्फल साबित हो रहे हैं।

'जब खेती फलती–फूलती है,तब सभी धंधे विकसित होते हैं। किन्तु जब भूमि को बंजर छोड़ दिया जाता है तब अन्य सभी धंधे नष्ट हो जाते हैं।' खेती का मँहगाई से गहरा सम्बन्ध सदियों से रहा है। अर्थशास्त्रियों के मतानुसार, उत्पादन वृद्धि के फलस्वरूप वस्तु का मूल्य कम हो जाता है। सरकार भी दावा करती आ रही है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अब तक विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा अनाज में रिकार्ड वृद्धि हुई है। जिस तरह देश की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है, किसानों द्वारा खेती का कार्य छोड़ना, आत्महत्या का बढ़ना तथा देश में भूख की समस्या से लड़ रहे लोगों की संख्या सरकारी आँकड़ों के मुताबिक लगभग 32.50 करोड़ है। देश में तीन साल से कम उम्र के 46 प्रतिशत बच्चे गम्भीर कुपोषण से प्रभावित हैं।

इस प्रकार देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उत्पादन की तथा खाद्यान्न की समस्या भविष्य में अति विकट होगी जिससे आसानी से निपटा नहीं जा सकेगा। देश में सत्तर–अस्सी के दशक में हरित क्रांति के जरिए हासिल की गयी खाद्यान्न आत्मनिर्भरता अब तेजी से अतीत की बात होती जा रही है। आश्चर्य की बात यह है कि वस्तुओं के मूल्य आसमान छू रहे हैं। देश में खाद्यान्न पदार्थों की कीमतों में दिन दूना–रात चौगुना की बढ़ोत्तरी हुई है। यद्यपि कि देश के कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है फिर भी यह उत्पादन एवं प्रगति देश की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए पर्याप्त नहीं है।

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़ (उ0प्र0)

अब प्रश्न यह उठता है कि मँहगाई की इस अराजक एवं अव्यस्थित समस्या का कारण क्या बना है? और क्या इस समस्या पर नियन्त्रण पाया जा सकता है? मँहगाई की व्यापकता को देखते हुए उसके कारणों की समीक्षा करना स्वाभाविक है। विचार करने पर अनेक कारण ज्ञात होते हैं। मँहगाई के तीन प्रमुख कारण अर्थशास्त्र के आर्थिक नियमों के अनुसार प्रतीत होते हैं।

1. बिकने के लिए चीजें कम हो और खपत ज्यादा हो, तो दाम बढ़ जाते हैं अर्थात् पूर्ति ↓माँग↑
2. चीजें पर्याप्त मात्रा में हो, लेकिन उन्हें कृत्रिम तरीकों से बाजार में आने से रोक दिया जाए।
3. बजट नीतियाँ कुछ इस तरह की हों कि उसमें अपूरित घाटा हो और उस घाटे से मुद्रा स्फीति बढ़ जाए।

इन कारणों के अतिरिक्त देश में मँहगाई बढ़नें के अन्य कई कारण और भी हैं जैसे देश की बढ़ती हुई आबादी, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी, जमाखोरी, प्राकृतिक प्रकोप, वितरण की समुचित एवं न्यायपूर्ण व्यवस्था का न होना, कृषि का पिछड़ापन, घाटे की अर्थव्यवस्था, मुद्रा–स्फीति, कर्तव्य एवं कर्म की भावना का अभाव, राजनीतिक स्वार्थी की पूर्ति, कालाधन आदि से मँहगाई को बल मिल रहा है।इन सब कारणों के अतिरिक्त वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो मँहगाई का सीधा रिश्ता कृषि उत्पादों की माँग और आपूर्ति के बीच की संतुलन से है। इस संतुलन में जब–जब गतिरोध आयेगा मँहगाई अवश्यम्भावी रूप से बढ़ेगी। भारतीय अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखें तो खेती की हालत काफी बुरी है विगत दस वर्षो में उत्पादन एवं उत्पादकता दोनों स्थिरता को प्राप्त हो गई है। 11वीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में तो साफ–साफ खेती के क्षेत्र में पांव पसारती मंदी का जिक्र है। हरित क्रांति की प्रक्रिया में गतिरोध आ गया है। मँहगाई की वर्तमान स्थिति के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार खेती की बुरी दशा–दिशा के कारण खाद्यान्नों की कमी है। वैश्विक स्तर पर देखें तो यह कमी कई यूरोपीय देशों, आस्ट्रेलिया ,चीन आदि में अनाजों से बायोफ्यूल बनाने और मौसम की प्रतिकूल स्थितियों के कारण है। मँहगाई का असर भारतीयों पर इसलिए अधिक पड़ता है कि यहाँ प्रति व्यक्ति कुल आय का 40 प्रतिशत हिस्सा खाद्य पदार्थों की खरीददारी पर जाता है। चीन में यह आँकड़ा 30 प्रतिशत जबकि अमेरिका में केवल 10 प्रतिशत है। यहाँ पर इसका भार सर्वाधिक पड़ता है।

egxkbZ fu;U=.k ij dsUnz ljdkj ds vlQy iz;kl %&

अब तक सरकार ने जो भी नीतियाँ, मँहगाई पर नियन्त्रण के लिए अपनायी, वह असफल रही है:–

1. सरकार ने राज्यों की सटोरीबाजी और जमाखोरी पर नियन्त्रण लगाने को कहा है, जबकि आज के सबसे बड़े जमाखोरों आस्ट्रेलियन गेहूँ बोर्ड आई0टी0सी0, कारगिल, अड़ानी इंटरनेशनल हिन्दुस्तान लीवर जैसी कम्पनियाँ हैं जिनका सरकार खुद पोषण कर रही हैं।
2. मँहगाई रोकने के लिए सरकार इस्पात, रसायन, सीमेन्ट आदि के आयात–निर्यात पर सख्ती के मूड़ में है जिसका आम उपभोक्ता से कुछ लेना देना नहीं है।
3. गेहूँ के निर्यात पर पाबन्दी भी फिजूल है, सभी जानते हैं कि मँहगाई की असली वजह जमाखोरी है न कि इसका देश के बाहर जाना।
4. औद्योगिक घरानों व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाव में कोई सही कदम उठाने में असफल रही है।
5. सिर्फ कस्टम और एक्साइज ड्यूटी घटाने जैसे दो–चार कदम उठाने से मँहगाई के दानव से छुटकारा नामुमकिन है।
6. मँहगाई पर काबू पाना राज्यों का मामला है, यह दलील केन्द्र सरकार की बेमानी सी लगती है।

fu"d"kZRed lq>ko%& देश में मँहगाई की मार से आम आदमी की आत्मा तड़प रही है, मँहगाई कुलाचें भर रही है। मँहगाई रोकने के लिए सर्वप्रथम अपरिहार्य आवश्यकता यह है कि किसानों की

बदहाली में व्यापकता के साथ सुधार एवम् इन्हें सम्मान की भावना से देखा जाना चाहिए। महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारन्टी योजना (नरेगा) जिसे पिछली यू0पी0ए0 सरकार ने बड़े उत्साह से संचालित कर रही थी, जिसमें आज भी कुछ राज्यों में ग्रामीणों को 100 दिन का रोजगार मुहैया कराया जाता है, जिसमें वे प्रमुख रूप से तालाब की खुदाई में काम करते हैं, जिनका आज के वर्तमान परिवेश में उत्पादकता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, वातावरण में इतना बदलाव आ गया है कि मानसून समय से आने वाला नहीं है, वारिश होने वाली नहीं है। तालाबों में आज के सावन–भादों के महीने में भी पानी देखने को नहीं मिल रहा है। जबकि तालाबों के निर्माण में पैसा पानी की तरह बहाया गया एवम् अभी भी बहाया जा रहा है यदि यही पैसा गरीब, असहाय,भोले–भाले किसानों को सीधे उपलब्ध करा दिया जाये तो वे मेहनत से अपने खेत में जी–जान से काम करेंगें। और मनरेगा में मिलने वाली 120 रू0 की दिहाड़ी सरकार से ले लें तो शायद इससे उनकी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति भी हो जायेगी और काफी हद तक उत्पादन और उत्पादकता दोनों बढ़ जायेगी और मँहगाई से निजात पाना थोड़ा सा सरल सहज हो जायेगा। 'नरेगा' और 'मनरेगा' के तहत् सरकार ने जो मजदूरी बढ़ायी उसकी तुलना में कीमतें इतनी तेजी से बढ़ी कि आवश्यक वस्तुओं को खरीदना धीरे–धीरे दुर्लभ हो गया। रोज–मर्रा की भी वस्तुएँ जुटा पाना आम आदमी के लिए एक चुनौती बन गयी है। उत्पादन–उत्पादकता निरन्तर गिरती जा रही है, तो भला ऐसे में मँहगाई बढ़ने से कौन रोक सकता है। सरकार, इस योजना के तहत् काम भी दे रही है तो सिर्फ 100 दिन या तीन माह, शेष 265 दिन मजदूर क्या करें ? किसानी में तो हर समय काम ही काम है, जरूरत है बस सरकार को सजग प्रहरी की भाँति ध्यान देने की। यदि खेती के माध्यम से किसान एवं सरकार दोनों को सीधा जोड़ा जाए एवं कृषि को एक उद्योग के रूप में देखा जाए तो पूरे वर्ष भर न केवल रोजगार उपलब्ध रहेगा अपितु साथ ही रोज–मर्रा की जरूरतें भी पूरी होंगी, साथ ही 'सबका साथ–सबका विकास' भी सार्थक प्रतीत होगा। गोस्वामी तुलसी दास जी ने कलयुग में 'मँहगाई डाइन' के डर से ही माताओं एवं पिताओं को सचेत करते हुए ठीक ही कहा है– मातु–पिताहिं बालकहिं बोलावहिं। उदर भरन को सीख सिखावहिं।। सुविख्यात अर्थशास्त्री 'प्रो0 जमशेद कई खुशरो मेहता' ने अर्थशास्त्र को आवश्यकता विहीनता की परिधि में बांधा निःसंदेह वे भारतीय दर्शन के सच्चे पुजारी थे। अपितु हमें भारतीय कृषि के विकास का मूलमंत्र भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के झरोखे में बैठकर ढूंढ़ना होगा, जो मँहगाई नियन्त्रण के लिए मील का पत्थर साबित होगा। हमें थकहार कर बैठना नहीं है क्योंकि जैविक गति ही विकास का मूलमंत्र है। साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'भारत जब तक अपनी तासीर से चलता रहा तब तक दुनिया का सिरमौर बना रहा।'

lUnHkZ %

1. गोविल,. ऋषि कुमार(1983) : कृषि अर्थशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
2. त्रिपाठी, डॉ बद्री बिशाल (2010) : भारतीय कृषि (समस्याएँ, विकास एवं सम्भावनाएँ), किताब महल एजेन्सीज, इलाहाबाद।
3. वार्षिक रिपोर्ट, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार – नई दिल्ली।
4. सेन, अमर्त्य(1997) : इण्डियन डेवलपमेन्ट, रीजनल पर्सपेक्टिव, ऑक्सफोर्ड प्रेस,दिल्ली।
5. कुरूक्षेत्र, मासिक पत्रिका, नई दिल्ली।
6. योजना, मासिक पत्रिका, योजना भवन,संसद मार्ग, नई दिल्ली।
7. UPUEA ECONOMIC JOURNAL(2008) : Volume 4 , Conference. 4.

****

^^jk"Vªh; tkxj.k dh vfÒO;fä vkSj Nk;kokn**

f'ko dqekj ;kno*

राष्ट्रीयता उन्नीसवीं सदी से आरम्भ होने वाले सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आंदोलनों की केन्द्रीय प्रवृत्ति है। सांस्कृतिक आंदोलनों ने वेद और उपनिषद् की नवीन व्याख्या की तथा संस्कृति के प्रति रागात्मक मोह जगाया। जहाँ भारतवासी मध्यकालीन जड़ परंपराओं एवं रूढ़ियों से चिपके हुए थे, अब वे वेदकालीन संस्कृति तथा राष्ट्रीय चेतना की ओर उन्मुख है। हिन्दी के प्रखर मार्क्सवादी आलोचक डॉ0 रामविलास शर्मा छायावाद को परिभाषित करते हुए कहते हैं– 'छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा है, वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।' छायावादी कवियों की गहरी सांस्कृतिक चेतना ने भारत की राष्ट्रीय चेतना को पूरा बल दिया। अपनी संस्कृति के प्रति प्रबल मोह के साथ ही यहाँ की धरती, मानव–जाति सबके प्रति मोह जगा। ऐतिहासिक आख्यानों द्वारा छायावादी कवियों ने राष्ट्रीयता की चेतना को व्यंजित किया। डॉ0 नामवर सिंह छायावाद को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं– ''छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।''[1] पुनरुत्थानवादी भारतीय–साहित्य भी अंतर्राष्ट्रीयता विश्व–बन्धुत्व एवं विश्व–मानवता के कल्याण–कामना में निमग्न था। रवीन्द्र, इकबाल और अन्य भारतीय राष्ट्रीय कवियों ने स्वदेश अनुराग में राष्ट्रीय चेतना से ओत–प्रोत गीत लिखे। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने छायावाद को 'शक्ति काव्य' के रूप में व्याख्यायित करते हुए लिखा है– ''छायावाद महज संध्या–सुंदरी, चाँदनी रात या नौका–विहार का चित्र नहीं है। वह मूलतः 'शक्ति काव्य' है, पुनर्जागरण चेतना का व्यापक और सूक्ष्म रूप है और अपनी अर्थ प्रक्रिया में मानव व्यक्तित्व को गहरे स्तरों पर समृद्ध करता है। इस युग की प्रतिनिधि रचना जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में देव और असुर संस्कृतियों से भिन्न और उनकी तुलना में अधिक सर्जनात्मक मानवीय संस्कृति के विकास का अख्यान है, उसके वर्तमान संकट की समझ है और इस संकट के बचाव की संभाव्य दिशा संकेतित है। थके और पराजित मनु के प्रति अपने उद्बोधन का समापन श्रद्धा इन शब्दों में करती हैं–

> शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
> विकल बिखरे हैं निरुपाय;
> समन्वय उसका करे समस्त
> विजयनी मानवता हो जाय।

यहाँ मूल संदेश शक्ति के नियोजन का है और सन्दर्भ राष्ट्रीय होते हुए भी चिंता समस्त मानवता की है।''[2]

आत्ममुक्ति के साथ ही राष्ट्र–मुक्ति की तीव्र लालसा छायावादी कवियों में थी। प्रसाद जी ने अपने नाटकों, कविताओं एवं कहानियों द्वारा राष्ट्रीयता की भावप्रवण अभिव्यक्ति की। उनमें भारतीय संस्कृति एवं गुप्तकालीन इतिहास के प्रति अत्यन्त मोह था। देश की पुरातन संस्कृति, भौगोलिक संपन्नता और ऐश्वर्य के प्रति सांस्कृतिक उन्नायकों की ही भाँति उन्होंने अपने अनुराग को व्यंजित किया।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

उनके चन्द्रगुप्त की अलका राष्ट्र को उद्बोधित करते हुए अपने राष्ट्र–प्रेम की अभिव्यक्ति इस रूप में करती है–

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से/प्रबुद्ध शुद्ध भारती/स्वयं प्रभा समुज्ज्वला/स्वतंत्रता पुकारती/अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो/प्रशस्त–पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।''[3]

भारत आरंभ से ही विश्व के लिए जगतगुरु रहा है। भारत की समन्वयवादी मानवीय संस्कृति विश्व मानवता के लिए अनुकरणीय रही है। 'स्कन्दगुप्त' में इसी भाव को एक गीत द्वारा व्यंजित किया गया है–

'हिमालय के आँगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार उषा ने हँस अभिनंदन किया, और पहनाया हीरक हार जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक। व्योत तम पुंज हुआ तब नष्ट, आयील संसृति हो उठी अशोक।''[4]

'कामायनी' में देव सभ्यता के नष्ट हो जाने पर जो मनु को व्यथा होती है, वह व्यथा स्वयं प्रसाद जी की है। 'लहर' की 'अरी! करुणा की शांत कछार' शीर्षक कविता में कवि का स्वदेश–प्रेम घनीभूत हो उठा है। 'आशा' सर्ग में हिमालय को 'विश्व–कल्पना' सा ऊँचा और 'सुख शीतल संतोष निदान' कहकर प्रसाद अपने राष्ट्र–प्रेम को व्यंजित करते हैं। 'शेरसिंह का शस्त्र–समर्पण' प्रगीत में शेरसिंह के मुख से प्रसाद जी ने राष्ट्रीयता की भावना को ही व्यक्त किया है। धर्मनिरपेक्ष भावना से शेरसिंह ओत–प्रोत है। उसकी हार राष्ट्र को हार बन गयी है, इसीलिए वह भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

डॉ0 नामवर सिंह के अनुसार– ''छायावाद तक आते–आते द्विवेदी युग की देश–प्रेम की स्थूल मूर्तिपूजा का और भी विकास हुआ है। ......स्थूल मूर्ति का स्थान सूक्ष्म भावनात्मक संज्ञान ने ले लिया। पहले जहाँ प्रकृति के नाम पर चौहद्दी बयान की जाती थी, वहाँ अब प्रकृति का जीवंत और भव्य चित्रण किया गया।''[5]

छायावादी कवियों में प्रसाद के बाद जिनमें अपनी परंपरा के गौरव का बोध सबसे अधिक था वे हैं निराला। सामद इसीलिए रामविलास शर्मा ने छायावाद और विशेष रूप से निराला के साहित्य को हिन्दी नवजागरण के चौथे चरण के रूप में स्वीकार करते हैं। 'छषपति शिवाजी का पष' (1922) औरंगजेब के समर्थक जयसिंह के लिए नहीं, बल्कि अंग्रेज–बहादुर के समर्थक आधुनिक जयसिंहो के लिए है। उनके उद्बोधन गीत 'जागो फिर एक बार' में उनकी विराट राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है जिसमें कवि राष्ट्रवासियों को मुक्त होने का संदेश देता है तथा शेरों की मांद में आये हुए विदेशी स्यारों को दुतकारता है–

^^'¨j¨a dh ekan esa
vk;k gS vkt L;kj
tkx¨ fQj ,d ckjA**[6]

भारतवासियों की कायरता के प्रति निराला में क्षोभ और आक्रोश रहा है। वे राष्ट्र में आत्ममुक्ति की चेतना जगाना चाहते थे। 'वीणा वादिनी' से भी वे मुक्ति का वरदान माँगते हैं। 'तुलसीदास' (1935) में स्वाधीनता की भावन का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। भारत के सांस्कृतिक सूर्य के अस्त होने पर देश में किस तरह अंधकार छाया हुआ है, इसका मार्मिक चित्रण करते हुए निराला ने दिखलाया है कि किस प्रकार एक कवि इस अंधकार को दूर करने की चेष्टा करता है। 'तुलसीदास' के रूप में निराला ने आधुनिक कवि के स्वाधीनता–संबंधी भावों के उदय और विकास का चित्रण किया है।

निराला की रचनाओं में दासता के पाश को काट फेंकने की राष्ट्रवासियों को प्रेरणा दी गई है। आर्थिक विषमता, धार्मिक अंधविश्वास एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति उनके विशाल ह्रदय में आक्रोश था। 'मजदूर', 'विधवा' तथा 'दीन' पर लिखी उनकी कविताएँ उनके मानव प्रेम के रूप में लक्षित की जा सकती है। 'विप्लव के बादल' शीर्षक कविता में बादल को संबोधित करते हुए वे किसान की व्यस्था को मिटाने का ही आग्रह करते हैं। विप्लवी बादल निराला के ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रतीक

हैं। उनके मन में सांस्कृतिक मुक्ति के साथ ही राष्ट्रीय मुक्ति की भी प्रबल आकांक्षा थी। विवेकानन्द की भाँति ही उन्होंने राष्ट्र में प्राण शक्ति का आह्वान किया था तथा धर्म एवं वर्ण की संकीर्णता को समाप्त कर देने का निर्देश दिया था। पूजा और धार्मिक अंधता को ठोकर मारी थी। ''किसी दलगत राजनीति, बंधी–बंधायी विचारधारा या वाद, राष्ट्र की संस्कृति एवं भौगोलिक सीमाओं तक ही उनकी राष्ट्रीयता सीमित थी, सो बात नहीं, वह तो देश–देशान्तर की समस्त सीमाओं को लाँघकर उसके व्यापक स्वरूप को स्पर्श करने वाली थी। निराला की राष्ट्रीयता भारत की इस मिट्टी में ही उगती है, पनपती है, परन्तु इसमें प्रफुल्लित एवं पल्लवित होती हुयी बहुत दूर जाकर वह समस्त मानवता को अपने में समेट लेती है। इसलिए उनकी राष्ट्रीय कविता का धरातल बड़ा विस्तृत और बहुरंगी है। वह जितना व्यापक है उतना ही गहरा है। उस धरातल में फूट निकलने वाले विचार–बीज इसलिए प्राणवान और तेजस्वी है।'' निराला की 'यमुना के प्रति' 'भारती जय–विजय करे', 'दिल्ली' आदि कविताओं में राष्ट्र के अतीतकालीन वैभव और सांस्कृतिक उपलब्धि को अत्यंत अनुराग से व्यंजित किया गया है। उन्होंने भारतवासियों को निरंतर जागरण का संदेश दिया है–

tkx¨ tkx¨ vk;k ÁÒkr
chfr og] chfr vU/kdkjr
>jrk Ò; T;¨fre'; Áikr ioZkpYk
ck/k¨ ck/k¨ fdj.k¨ psru
rstLoh gs ;efT t thou
vkrh Òkjr dh T;¨fr/ku efgek cYkA[7]

पंतजी युगजीवन के प्रति निरंतर संवेदनशील रहे हैं। सुन्दर के कवि होते हुए भी शिव की उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। यद्यपि अतीत की तुलना में भविष्य के प्रति उनमें आकर्षण रहा है, फिर भी आध्यात्मिक पविष संस्कृति, वेद, उपनिषद् और गीता को वे विस्मृत नहीं कर सके। पुनरुत्थान की चेतना ने पूरे राष्ट्र में सुनहले अतीत के प्रति मोह का भाव जाग्रत कर दिया था। वर्तमान के दैन्य, शोषण, सामाजिक जड़ता और धार्मिक रूढ़ियों से सुवर्णकाल का मनुष्य पीड़ित न था। स्वच्छन्द चिंतन एवं व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण संभावना वेदकालीन संस्कृति में निहित थी। सांस्कृतिक उन्नायकों की ही भाँति प्रेम और प्रकृति के पुजारी पंत भी सुवर्ण काल के प्रति मोहासक्त थे–

dgk¡ vkt og iw.kZ iqjkru] og lqo.kZ dk dkYk\

--------- --------- ---------

LoxZ dh lq"kek tc lkÒkj] /kjk ij djrh Fkh vfÒlkjA

--------- --------- ---------

dgk¡ og lR; oSn fo[;kr\
nfjr nq[k nSU; u F¨ tc Kkr
vifjfpr tjkej.k Òz ikrA[8]

इसी प्रकार राष्ट्रवासियों में स्वाधीनत की चेतना जगाने वाले गांधी के संदर्भ में राष्ट्रीय भाव से प्रेरित होकर पंत जी लिखते हैं–

rqe 'kq) cq) vkRek dsoYk

--------- ---------

rqe iw.kZ bdkbZ thou dh
ftlesa vlkj Òo 'kwU; YkhuA
lq[k Ò¨x [k¨tus vkrs lc
vk;s rqe djus lR; [k¨t\
tx dh feÍh ds iqrY¨ tu]
rqe vkRek ds eu ds eu¨tA[9]

प्रसाद, निराला तथा पंत की भाँति भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के आलोक में सदियों से वंदिनी नारी के अनेक विवश, क्षोभ और ग्लानि से भरे चित्र उरेहकर उसकी वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष एवं भावी के प्रति प्रगतिशील चेतना का संदेश दिया है। राष्ट्रीय आंदोलन की पीठिका पर उन्होंने नारी–जागरण की आकांक्षा प्रकट की है। राष्ट्रीयता की चेतना से ओत–प्रोत उनकी गद्य विधाओं में उनके कर्मठ, समाज–सुधारक एवं मानवतावादी व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। नारी होते हुए भी उन्होंने करुणा एवं समर्पण से भरकर पूरे राष्ट्र को आत्मबलिदान और आत्मविसर्जन का संदेश दिया है। माया–मोह को विस्मृत कर, स्वार्थ और आत्मकेन्द्री प्रवृत्ति को छोड़कर उन्होंने राष्ट्रवासियों में जागरण की चेतना जगायी–

ck/k Y¨x D;k r>; ;g e¨e d c/ku l thY¨\
iFk dh ck/kk cux frrfYk;¨ d ij jxhY¨\
fo'o dk dUnu ÒYkk nxh e/ki dh e/kj xuxu]
D;k Mck nx r> ;g QYk d nYk v¨l xhY¨\
r u viuh Nkg d¨ viu fYk, dkjk cukuk
tkx r>d¨ nj tkukAA[10]

काँटों की सेज और आँसुओं के ताज ने स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों का शृंगार किया था। पूरा देश अज्ञान और जड़ता को त्याग कर स्वाधीनता के स्वप्न देख रहा था। देश में नवीन उत्साह, उमंग, आशा और उल्लास का वातावरण छाया हुआ था। महादेवी जी इसी उत्साह में राष्ट्रवासियों को उद्बोधित करती हुई कहती हैं–

^^dVd¨ dh lt ftldh vklv¨ dk rkt
lÒx gl mB ml ÁQYYk xYkkc gh lk vkt]
chrh jtuh l;kj tkx!**[11]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आत्ममुक्ति, स्वाधीनता और स्वातंष्य की चेतना के साथ ही छायावादी कवियों में पूरे देश के प्रति, सांस्कृतिक उपलब्धि के प्रति अत्यन्त अनुराग था। देश की प्रकृति, धरती, पेड़–पौधे, और मानव जाति सबके प्रति उन्होंने अपने भाव–विह्वल अनुरागमय हृदय की अभिव्यक्ति की।

lnHk %

1. छायावाद–नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–पाँचवा, 1990, आवृत्ति, पृ0 17, 1998
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना विकास– राम स्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तेइसवाँ संस्करण, 2010, पृ0 110
3. चन्द्रगुप्त–जयंशकर प्रसाद–पृ0सं0 137
4. स्कन्दगुप्त– जयशंकर प्रसाद, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, संस्करण 2005, पृ0 141
5. छायावाद– नामवर सिंह, पृ0 77
6. निराला रचनावली, भाग–1, संपादक– नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0सं0 151
7. अपरा, निराला, पृ0सं0 176
8. पल्लव, सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नवाँ संस्करण, 1993, पृ0सं0 147
9. युगांत– सुमित्रानंदन पंत
10. उद्धृत : महादेवी वर्मा : काव्य कला और जीवन दर्शन, पृ0सं0 165
11. वहीं– पृ0 168

****

jkuhxat vtxjk] izrkix<+ ds izLrj vfHkys[k

vk'kh"k dqekj flag*

प्रतापगढ़ जनपद मुख्यालय से ठीक 14 किलोमीटर पश्चिम वाराणसी– लखनऊ राजमार्ग पर स्थित रानीगंज अजगरा बाजार से करीब डेढ़ किलोमीटर दक्षिण दिशा में महाभारत कालीन यक्ष युधिष्ठिर संवाद एवं पौराणिक राजा नहुष के अगस्त्य ऋषि के श्राप से अजगर सर्प होने की घटना से जुड़ा अजगरा क्षेत्र अपने अंचल में बिखरी पुरा सम्पदाओं के कारण प्राचीन काल से ही लोगों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है।[1] अजगरा से प्राप्त पुरावशेषों में सबसे महत्त्वपूर्ण यहाँ से खोजे गये प्रस्तर लेख हैं जो यहाँ की प्रमाणिकता के स्पष्टप्रमाण है।[2]

प्रथम प्रस्तर लेख जनवरी 1984 में अजगरा के डिहवा क्षेत्र से खोजा गया यह प्रस्तर लेख बादामी रंग के एक प्रस्तर स्तम्भ पर कुल चार पंक्तियों एवं बत्तीस अक्षरों में लिखा गया है। इस प्रस्तर लेख का सर्वप्रथम वाचन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभागाध्यक्ष प्रोफेसर सिद्धेश्वर नारायण राय ने करते हुए इसे निम्न रूप में पढ़ा है–

1. न हु ष क र य छ
2. ष प म य ह र द ह
3. पं न ड व रं कं द ? द स
4. न स मो छं मा प

प्राकृत भाषा में किये गये इस वाचन का संस्कृत भाषा में अनुवाद निम्न रूप में किया गया है–

1. नहुषकेर यक्ष
2. शापमयंदः ह (रति)
3. पुण्य द्वारंकृतंदर्ष
4. नस्य मोक्षंप्रा (प्नोति)

पाठन करते हुए पुरा तत्व विद्वानों ने स्पष्ट किया कि इस अभिलेख की लिपी– ब्राह्मी और भाषा–प्राकृत हैं। इस अभिलेख की प्राचीनता द्वितीय से तश्तीय शताब्दी ईसा पूर्व है।

द्वितीय प्रस्तर लेख यह बदामी रंग का प्रस्तर लेख तीन पंक्तियों में उत्कीर्ण है। यद्यपि खण्डित होने के कारण इसका पूर्ण रूपेण पाठन सम्भव नहीं हो सका फिर भी इसके पठनीय शब्दों को प्राकृत भाषा में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभागाध्यक्ष प्रोफेसर सिद्धेश्वर नारायण राय ने इस प्रकार पढ़ा हैं–

अ ग प तय ग र द वे न मः स ख प त य न मः स र प ग त न हु ड्ड स र न गः

प्राकृत भाषा में किये गये इस वाचन का संस्कृत भाषा में रूपान्तर निम्न रूप मे ंकिया गया है–अग्निपतय नमः गिरिदेवाय नमः शंख पतयेनमः सर्पत्वंगताय नहुषाय सरसिवर्तमानः नागः। प्रो0राय के अनुसार इसमें अग्नि पति गिरिदेव एवं शंख पति नागों के नाम ज्ञात होते हैं। जिनका सन्दर्भ पौराणिक वाग्डमय में हुआ है। यह अभिलेख नहुष के सर्पत्व प्राप्ति की ओर बोध कराता है। ईविंग क्रिचियन कालेज इलाहाबाद के पुरातत्व विद्वान प्रो0 विमलचन्द्र ने अपनी पुस्तक पुरानु संधान में इसका वाचन निम्न रूप में किया है–

*शोद्य छात्र (संग्रहालय विज्ञान), राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान, नई दिल्ली।

सिद्ध 5 ? ह र द ग (द) पुय जलंदअगपतय मुखेनमः सतीपतय नमः भददमतसरिय गतनहुषपसरनगः स

उनके अनुसार इसमें सरोवर के जल की महत्ता का उल्लेख तथा अग्गपति, गुरू एवं इन्द्र को नमस्कार किया गया है। इस प्रस्तर लेख में भी राजान हुष के सर्प योनि में जाने का उल्लेख है। इसकी लिपि ब्राह्मी व भाषा प्राकृत है। इसका समय द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व प्रमाणित की गयी है। लेख में नमः शब्द को छोड़कर शेष सभी प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। ब्राह्मी लिपी बायें से दायें ओर लिखी जाती हैं। लेकिन इसमें कुछ शब्द दायें से बायें ओर भी लिखे गये हैं। अभिलेख लेखन की इस शैली को विद्वानों ने वास्टो फेडन शैली के उत्तरवर्ती अवशेष के रूप में माना है। इसके प्रमाण सागर मध्य प्रदेश के एरण के मुद्रालेख तथा जनपद बस्ती उत्तर प्रदेश के पिपरहवा जिले से मिले मृद भाण्डों पर लिखे गये है। अभिलेख के बायें कोने पर इन्द्र ध्वज का अंकनराजत्व एवं वैभव का प्रतीक है। इसके निचले भाग पर अभिलेख लेखक का नाम उदयः कश्यप पढ़ा गया हैं।

तश्तीय प्रस्तर अभिलेख यह प्रस्तर लेख भी तालाब के दक्षिणी–पूर्वी कोने से खुदायी में मिला है। इसका निचला भाग खण्डित है तथा ऊपरी पर्त की पपड़ियाँ कई जगह से निकल चुकी हैं जिससे कुछ शब्द क्षतिग्रस्त हो चुके है। बादामी रंग के एक छोटे से प्रस्तर खण्ड पर कुछ छह पंक्तियों में उत्कीर्ण इस अभिलेख को प्रोफेसर राय व प्रोफेसर विमलचन्द्र ने इस प्रकार पढ़ा गया है–

1 अरजुनभी (म)

2 नकुलसहदेव

3 यतिसयहर

4 दहहत येशन

5 न (ा) गतहविड्डु (त) नयभ

6 न युधिशेष आगे का भाग खण्डित है। वाचकों ने अनुमान लगाया है कि युधि के आगे का भाग संभवतः युधिष्ठिर नाम का शेष अशं ही रहा होगा। कोष्ठक में दिये गये शब्दों की निकल गयी है। इस प्रस्तर अभिलेख में मिलावटी अक्षरों का प्रयोग किया गया है। जबकि पूर्व के दो प्रस्तर लेखों केशब्द अलग–अलग लिखे गयेहैं। स्पष्ट है कि उस समय तक लेखन कला का पूर्ण विकास हो चुका था। इसके वाचन से पाण्डवों के इस स्थल पर आने की बात प्रमाणित हो जाती है। इसकी लिपी ब्राह्मी, भाषा संस्कृत व तिथि प्रथम शती ईसा पूर्व प्रमाणित की गयी है।[3] वर्तमान समय में यह प्रस्तर अभिलेख इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय में रखा गया है।

lnHkZ %

1. सिंह, डॉ. अनिल शलभ, प्रतापगढ़ एक परिचय, शलभ प्रकाशन, प्रतापगढ़
2. शुक्ल, विमलन्द्र, 1986, पुरानुसंधान, इलाहाबाद
3. पाल, रामनरेश, 2005, प्रतापगढ़ का पुरातत्व, इलाहाबाद

****

0;aX; % ,d e'khu

i|tk xkSM+*

व्यंग्य हमारे यथार्थ की एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्ति तथा समाज की कमजोरियों, दुर्बलताओं, कथनी और करनी के बीच के अंतर को व्यंग्य एक सही दिशा में हमारे सामने लाता है। यह बात सही है कि वह कभी–कभी आक्रामक भी होता है, लेकिन इसमें भी नैतिक और सामाजिक हितों का उद्देश्य शामिल होता है।

व्यंग्य एक ऐसा शस्त्र है जिससे समाज में फैले भ्रष्टाचार का खात्मा किया जा सकता है। व्यंग्य वह मशीन है जो मनुष्य व समाज के विसंगतियों और विद्रूपताओं के प्रति उबल रहे आक्रोश की अभिव्यक्ति कराता है। इसलिए व्यंग्य अपनी पैठ में ज्यादा प्रहारक होता है। यह दिमाग में फैले हुए कचड़े को साफ करता है। इसका केवल यही सोद्देश्य होता है कि वह इन विरूपताओं के कारण यातनाग्रस्त जनमानस को नैतिक बल तथा संतोष प्रदान करे।

ए0 निकोल ने व्यंग्य के बारे में परिभाषा देते हुए लिखा है– ''व्यंग्य इस सीमा तक कटु हो जाता है कि वह किंचित भी हास्य न हो। व्यंग्य बहुत तीखा वार करता है। इसमें कोई नैतिक बोध नहीं होता। इसमें दया, विनम्रता एवं उदारता का लेशमात्र भाव भी नहीं होता। व्यक्ति के शारीरिक गठन पर कभी–कभी पूरी निर्दयता से प्रहार करता है, यह व्यक्तियों के चरित्र पर आक्रमण करता है। यह युग की समूची परिस्थितियों की धज्जियाँ किसी को भी क्षमा किये बगैर उड़ाता है।''[1]

मेरा मानना है कि इस मशीनी दौर में व्यंग्यानुरूप मशीन मनुष्य के अंतश्चेतना को तीव्र व उद्वेलित कर उसकी मानस पटल की उद्भावनाओं को उजागर कर उसे एक नया रूप देती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु– युग के रचनाकार अपने लेखन में चेतना और प्रगतिशीलता के कारण व्यंग्य का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। एक तरह से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट आदि से व्यंग्य की जिस गंभीर जीवन–दृष्टि का आरम्भ हुआ था, वह अपने आपमें एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है। दरअसल व्यंग्य को आधुनिक काल की एक उल्लेखनीय विधा माना जा रहा है। बीसवीं शताब्दी के गद्य में अनेक शैलियों और जीवन दृष्टियों तथा विधाओं का जन्म व विकास हुआ। इसके साथ ही हमारे जीवन पर आधुनिक सभ्यता का गंभीर प्रभाव पड़ा; जिसमें सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक दबाव की स्थितियाँ शामिल की जा सकती हैं। इन सारी स्थितियों में रचनाकार वस्तुओं के अन्र्तसम्बन्धों को खोजने में ज्यो–ज्यों निपुण होता गया, त्यों–त्यों उसकी दृष्टि वैज्ञानिक और एक सीमा तक निर्मम भी होती गयी। इस सन्दर्भ में किसी ने कहा है कि मानव–जीवन को रूढ़िविहीन करने और समता बंधुत्व और न्याय के आधार पर नये समाज की प्रतिष्ठा के लिए आतुर साहित्यकार ने जिन उपकरणों का आश्रय लिया, व्यंग्य उनमें से प्रमुख है।

वास्तव में, व्यंग्य ही भाषा के गतिशील होने की निशानी है। व्यंग्य अन्र्तविरोधी के उत्स को पहचानता है। वह समाज की जड़, रूढ़िवादी व विकृत परम्परा की काई को हटाकर जीवन की धारा को

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

आगे बढ़ाने में सहायक होता है। जिस–जिस युग में अन्तर्विरोध जितने जटिल और व्यापक हुए उसे व्यंग्यकार की उतनी ही अधिक आवश्यकता रही। वीरगाथा–काल रक्त–रंजित रहा; साहित्य रचा भी गया तो 'स्वाभिमानः सुखाय' की भावना से। यहां हास्य तो मिलता है किन्तु व्यंग्य कहीं नहीं। भक्तिकाल में हीन भावना और पारलौकिक सुख की कामना व्याप्त थी; अतः व्यंग्य की धारा अपेक्षित विस्तार नहीं पा सकी। इस समय कबीर ने समाज में फैले ऊँच–नीच, जाति–पांति, छुआछूत और पाखण्ड पर मर्मान्तक प्रहार किये। तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों, हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के अवगुणों पर जिस अप्रतिम साहस से सशक्त वाणी में तिलमिला देने वाली चोट की, उसी बेधड़क चोट की, उसी बेधड़क चोट करने वाली वाणी ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया......[2]

कुछ आलोचकों का कथन है कि व्यंग्यकार बने–बनाए ढांचे को ढहा देता है और उससे उत्पन्न शून्य को भरना वह आवश्यक नहीं समझता। इससे यह शंका उठती है कि यदि व्यंग्यकार ध्वस्त करने का विशेषज्ञ है, तो उसका योगदान निर्माण की दृष्टि से क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि व्यंग्यकार का कार्य तो उस बुलडोजर के समान है, जो उबड़–खाबड़ को उखाड़–पछाड़कर समतल बना देता है। ऐसी धरती को सजाने–सँवारने का दायित्व समाज का होता है। अतः व्यंग्यकार तो अपने उद्देश्य में तभी सफल हो जाता है, जब वह अपने लक्ष्य की बौद्धिक और मानसिक गन्दगी की सफाई कर उसे नई दिशा की ओर मोड़ देता है। मुक्तिबोध ने जब यह लिखा था कि ''जो कुछ है उससे बेहतर चाहिए, सारी दुनिया साफ करने के लिए एक मेहतर चाहिए'' तो वे मानों व्यंग्यकार के महान जीवनोद्देश्य की ही चर्चा कर रहे थे।

आज जो भी घटित हो रहा है वह सब कुछ परिवर्तन के द्रुत चक्र में है और मनुष्य का जीवन एक अजीब भाग दौड़ से गुजर रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे वर्तमान जीवन को छूने वाला व्यंग्य, उसकी समस्याओं पर दृक्पात करने वाला व्यंग्य अत्यंत महत्वपूर्ण बन गया है।

आज जब चारों ओर स्वार्थ, लालसा अशान्ति असुरक्षित का ही बोलबाला है, तब ऐसी स्थिति में व्यंग्य का दायित्व बढ़ जाता है। सदरलैण्ड के मतानुसार ''सफल व्यंग्य वही है जो लक्ष्य पर चढ़े हुए भ्रम और बहानों रूपी छद्मवेश को फाड़कर, नग्न, विकृत सत्य का साक्षात्कार करा दें।''[3]

साहित्य में कुछ समय पहले तक व्यंग्य को कविता, नाटक, उपन्यास आदि की कोटि में नहीं रखा जाता था। यह कहना ठीक होगा कि अगर व्यंग्य न होता तो किसी भी पत्र–पत्रिकाओं की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। इसी से हम व्यंग्य के महत्व को अच्छी तरह आक सकते है। व्यंग्य के बीना जैसे साहित्य कुछ अधूरा सा लगता।

''आज व्यंग्य अपनी ओर पूर्ण शक्ति से ध्यान आकर्षित कर रहा है। व्यक्ति और समाज उसके महत्व और आवश्यकता को स्वीकार रहा है। व्यंग्य के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। स्वातंत्रयोत्तर कालीन साहित्याकाश में व्यंग्य सम्मानित और निश्चित आसन ग्रहण करता जा रहा है। व्यंग्य समाज का सही रूप में दर्पण बन रहा है। आज का व्यक्ति और समाज अधिक प्रबुद्ध है। वह औचित्य–अनौचित्य, विवेक–अविवेक का अन्तर समझता है। अतः समाज के हित के लिए व्यंग्य एक पवित्र अस्त्र के समान कार्य कर रहा है, जो केवल भर्त्सना, तिरस्कार या आलोचना ही नहीं करता अपितु नवजागृति, नवक्रान्ति ला रहा है। व्यंग्यकार अपने विचारों को लोगों पर जबरन मढ़ता नहीं, वह तो कायल करके उसे मनवा लेता है। वह उन्हें जागरूक करता है, उन्हें जागरूक करता है उन्हें सोचने के लिए विवश कर देता है। यही व्यंग्यकार का उद्देश्य होता है और यही लक्ष्य–सिद्धि।''[4]

अंत में मैं यही कहूंगी कि व्यंग्य समाज के कलुषित पक्ष पर प्रहार करता है, वह अनाचार, भ्रष्टाचार आदि को देखकर चुप नहीं बैठ सकता। वह कुरीतियों को खत्म करना चाहता है या लोगों को सचेत करता है ताकि वे इसके विरूद्ध कदम उठा सकें।

lUnHk %

1. स्वातंन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य, शेरजंग गंग, पृ0–27, दिल्ली, 1972
2. हिन्दी व्यंग्य साहित्य और हरिशंकर परसाई– डॉ0 मदालसा व्यास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1999 ई0
3. स्वातंन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य का मूल्यांकन– डॉ0 सुरेश माहेश्वरी, विकास प्रकाशन साकेतनगर, कानपुर–14, प्रथम संस्करण : 1994
4. हिन्दी गद्य लेखन में व्यंग्य और विचार– सुरेशकान्त, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, पहला संस्करण–2004, पहली आवृत्ति–2003

****

lksjkao rglhy dh Ñf"k lalk/kuksa ij tula[;k of) dk izHkko

nsoUnz ukjk;.k ik.Ms;*

सम्पूर्ण विश्व में भूमि ठोस और वास्तविक संपत्ति मानी जाती है। कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। अगर हम जीविकोपार्जन कृषि के साथ अधिक लाभ देने वाली फसलों के उत्पादन में वृद्धि करे तो न केवल किसानों की आय में वृद्धि कर जाए तो देश की अर्थव्यवस्था में विकासात्मक तेजी दिखने लगेगी। निःसन्देह वर्तमान वैश्वीकरण के युग में कृषि का व्यवसायीकरण एक अनिवार्य वास्तविकता है। प्रतियोगिताओं में बने रहने हेतु यह आवश्यक है कि कृषि वस्तुओं में गुणवत्ता हो और यह तभी सम्भव है जब कृषि क्षेत्र को एक उद्योग के रुप में विकसित कर लाभ का धंधा बनाया जाय। ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूती प्रदान करने के लिए कृषि का व्यवसायीकरण बेहद महत्वपूर्ण साबित हो रहा है।

निःसन्देह कृषि क्षेत्र समूचे देश के लोगों का कल्याण सुनिश्चित करने की दृष्टि से एक निर्णायक तत्व है। देखा जाए तो अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार का लगभग आधा हिस्सा कृषि क्षेत्र से पैदा होता है जनगणना 2011 के आकलन के अनुसार कृषि क्षेत्र में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले 70 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिलता है। निश्चित ही गरीबी दूर करने की रणनीति में कृषि महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि कृषि से अदभुत विकास दर, कृषि इतर क्षेत्रों में विकास दर की तुलना में गरीबी मिटाने में दुगुनी प्रभावी होती है। सोरांव तहसील में भूमि संसाधनों पर जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। मानव द्वारा भूमि का अधिकाधिक प्रयोग से भूमि की उत्पादकता घट रही है और कीटनाशी दवाओं, उर्वरकों के प्रयोग से स्वास्थ तथा पर्यावरण प्रभावित हो रहा इसके समुचित प्रयोग से ही जन मानस का कल्याण हो सकेगा।

HkkSxksfyd i"BHkwfe %

सोरांव तहसील उत्तर प्रदेश राज्य के इलाहाबाद जनपद में 250 30′ से 250 45′ उत्तरी अक्षांश तथा 810 40′ से 820 0 पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है 67429 वर्ग किमी में स्थित प्रशासनिक दृष्टि से 4 विकास खण्डों में विभक्त किया गया है उच्चावचीय संरचना में टर्शियरी कल्प में गोडवाना लैण्ड दबाव के कारण हिमालय पर्वत के दक्षिणवर्ती भाग के अग्रवर्ती में गंगा यमुना नदियों के जलोढ़ निक्षेपों से हुआ है। जलवायु उष्ण कटिबन्ध शीतोष्ण प्रधान होने के कारण तहसील में मुख्यतः चार ऋतु पायी जाती है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मेरुदण्ड कृषि अध्ययन क्षेत्र की कृषि पद्धति पारम्परिक प्रकार की खाद्यान्न प्रधान है। तहसील में शुद्ध कृषि भूमि 52.7 प्रतिशत है अध्ययन क्षेत्र एक समतल मैदानी भाग है यहाँ अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण है जिसकी आजीविका का प्रधाना स्रोत कृषि है, जिसमें परिणात्मक वृद्धि होती रही है।

---

*शोधार्थी, भूगोल विभाग, एम.डी.पी.जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़।

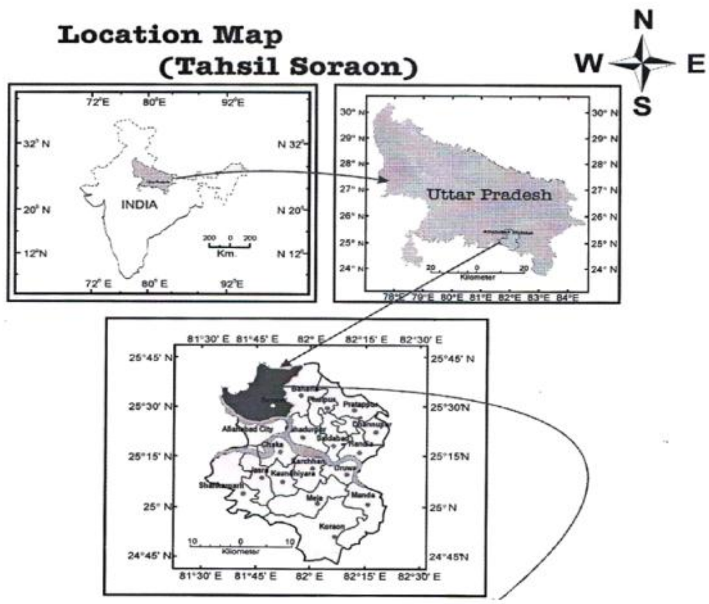

fp= l0&1 ykd'ku eSi

कृषि किसी भी देश के आर्थिक विकास एवं ग्रामीण समाज का आधार स्तम्भ है क्योंकि मानव की अपनी महत्वपूर्ण एवं आधारभूत आवश्यकता भोजन, वस्त्र एवं आवास की पूर्ति कृषि के द्वारा होती है। विकास की प्रक्रिया में कृषि ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रुप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कृषि मानव समाज के लिए खाद्य, वस्त्र गृह निर्माण का साधन मात्र नहीं है अपितु आवास, उद्योग व्यापर तथा आर्थिक एवं सामाजिक जीवन स्तर का निर्धारित करने का मापदण्ड भी है। शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन संचार आदि आधारभूत ग्रामीणों सुविधाओं का समन्वय परोक्ष रुप से कृषि विकास से ही होता है, जिसके फलस्वरुप ग्रामीण समाज में सकरात्मक परिवर्तन होता है जिससे विकास की एक आधारशिला तैयार हो जाती है। राष्ट्र प्रगति समृद्धि योजनाओं की सफलता, विदेशी मुद्रा की प्राप्ति, राजनैतिक स्थायित्व आदि सभी कुछ कृषि पर निर्भर है। अध्ययन क्षेत्र की लगभग 95 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या पूर्णतः कृषि पर आधारित है।

Lkkjko rglhy e Hkfe mi;kx dk fooj.k

क्र0 सं0	भूमि का उपयोग	वर्ष 2011 का क्षेत्रफल	प्रतिशत
1.	भूमि उपयोग के लिए प्रतिवेदित क्षेत्र	85476	0.18
2.	वन	154	0.18
3.	ऊसर एवं खेतों के अयोग्य भूमि	2389	2.79
4.	कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रयोग में लायी गयी भूमि	15565	18.2
5.	कृषि योग्य बंजर भूमि	1037	1.2
6.	वर्तमान परती भूमि	11470	13.4
7.	अन्य परती भूमि	7842	9.17
8.	शुद्ध बोया गया वास्तविक क्षेत्र	45116	52.7

तीव्रगति से बढ़ती हुई जनसंख्या की उदरपूर्ति के लिए आवश्यक है। भूमि के प्रत्येक भाग का अधिक से अधिक सदुपयोग किया जाय भूमि का व्यावहारिक उपयोग किसी निश्चित उद्देश्य के लिए किया जाता है। कृषि के लिए निःसन्देह नई सम्भावनाओं के द्वार खोलता है। जनसंख्या वृद्धि एवं आर्थिक क्रिया कलापों में प्रगति के कारण वनोद्यान भूमि का उपयोग कृषि क्षेत्र परिवहन एवं संचार साथ

ानों के विकासार्थ आदि कार्यों में किया जाने लगा। कृषि नियोजन में भूमि उपयोग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है पर्यावरण सन्तुलन के लिए समान भौगोलिक क्षेत्रफल पर मात्र 1870 हे0 पर वनोद्यान है वनोधान भूमि कमी से पारिस्थिति की संकट की समस्या उत्पन्न होती है। ऊसर सुधार उर्वरकों को एक अन्य नवीनतम वैज्ञानिक विधियों के अनुप्रयोग से ऊसर एवं कृषि अयोग्य भूमि पर कृषि कार्य विकसित हुआ। अतः कृषि तहसील के विकासार्थ एवं सुनियोजित की आवश्यकता है जिससे न्यूनतम कृषि क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन हो सके तथा भौतिक पर्यावरण का भी संवर्धन हो सके।

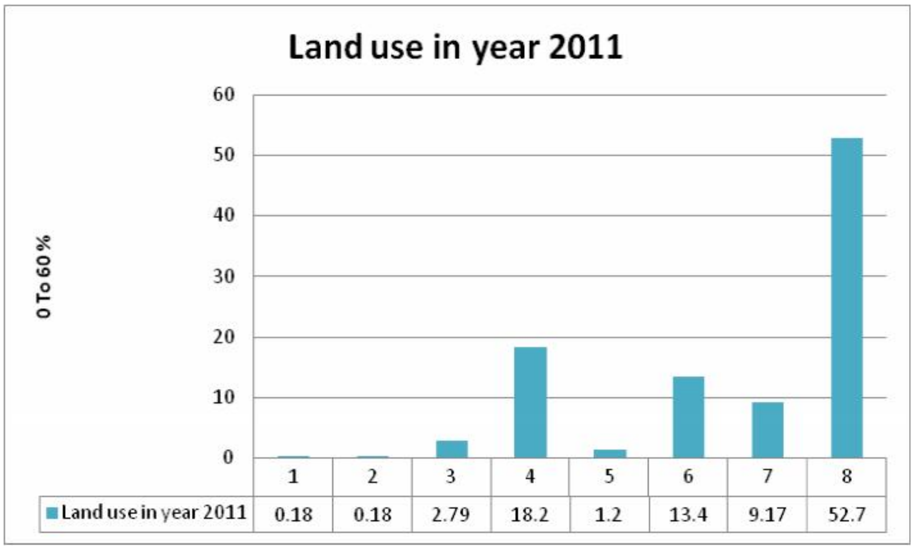

rglhy lkjko d fodkl [k.Mk e joh] [kjhQ] tk;n Qlyk dk ifr#i g0 e o"k 2011

विकास खण्ड	शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल	सकल बोया गया क्षेत्रफल					
		रवी	प्रतिशत	खरीफ	प्रतिशत	जायद	प्रतिशत
कौडिहार	16003	13853	86.5	10044	62.7	1558	9.73
होलागढ़	10134	8589	84.7	8481	83.6	1699	16.76
मऊआइमा	10017	9578	95.6	7906	78.9	1924	19.26
सोरांव	8962	8303	92.6	7578	84.5	1862	20.77
कुल जनपद	307953	265451	86.1	2034489	66.6	20056	6.51

स्रोत– सांख्यिकी पत्रिका, इलाहाबाद

अध्ययन क्षेत्र कें विकास खण्डो में फसल प्रतिरूपों का विवरण जो तालिका में दिया गया है उसमें कौडिहार विकास खण्ड में रवी फसल के अन्तर्गत 86.57 पर खरीफ के अन्तर्गत 62.7 जायद 9. 73 प्रतिशत फसलों का उत्पादन होता है होलागढ़ में रवी, खरीफ और जायद में क्रमशः 87.7, 83.6, 16.7 है मऊआइमा में रवी के अन्तर्गत 95.6, खरीफ के अन्तर्गत 78.9, जायद के अन्तर्गत 19.2 प्रतिशत पर फसलों का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है जबकि सोरांव विकास खण्ड में रवी, खरीफ, जायद में क्रमशः

92.6 प्रतिशत, 24.5 प्रतिशत, 20.7 प्रतिशत दिखाई पड़ता है जनपद में रवी के अन्तर्गत 86.1 प्रतिशत खरीफ के अन्तर्गत 60.6, जायद 6.51 प्रतिशत है। इससे स्पष्ट होता है कि फसलों के उत्पादन में तहसील की भूमि में खाद्यान्न उत्पादन में सुधार की आवश्यकता अगर की जाय तो बढ़ती जनसंख्या के भरण–पोषण में आत्मनिर्भर बन सकती है।

किसी क्षेत्र की जनांकिकीय गत्यात्मका पर जनसंख्या वृद्धि के अध्ययन का विशेष महत्व होता है क्योंकि इनके द्वारा वहाँ की आर्थिक प्रगति, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, राजनैतिक विचारों एवं दशाओं आदि का ज्ञान होता है। मानव एवं उसके कार्यकलाप भौगोलिक अध्ययन के केन्द्र बिन्दु है। अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह प्रकृति से संघर्ष एवं समायोजन करता है। मानव विविध प्रक्रियाओ द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण को सांस्कृतिक भू–दृश्य में परिवर्तित करता रहता है। जनसंख्या में अतिवृद्धि अथवा तीव्र ह्मास दोनों परिस्थितियों में विकास कार्य प्रभावित होते रहते है मानव तथा भूमि समाज के विकास एवं जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अन्तिम तत्व होता है। गंगा–यमुनी संस्कृति का प्रतीक यह अध्ययन क्षेत्र प्राचीन काल से मानव सभ्यता का केन्द्र बिन्दु रहा है।

rglhy lkjko dh dqy tula[;k of) dk rqyukRed v/;;u
o"k 1991 ls 2011 rd

वर्ष	कुल जनसंख्या	पुरुष	प्रतिशत	महिला	प्रतिशत	प्रति दशक वृद्धि
1991	518789	275097	53	247202	47	9.49
2001	645491	340196	52	193313	48	24.4
	801445	421203	52	380239	48	24.1

तहसील सोरांव में जनसंख्या वृद्धि के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि 1991 में जहॉ कुल जनसंख्या में दशकीय वृद्धि दर 9.49 प्रतिशत रही और 2001 में बढ़कर 24.4 प्रतिशत हो गयी तथा 2011 में 24.1 प्रतिशत की दर में वृद्धि हुयी। अतः यह कहा जा सकता है कि बढ़ती जनसंख्या में भूमि संसाधनों की अतिक्रमण कर लेगी तथा खाद्यान्न आवश्यकता से कम होने लगी है जिससे विकास के कार्यों में गिरावट की स्थित तथा स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

Hkfe lalk/kuk ij tula[;k of) dk iHkko %&

किसी भी क्षेत्र में निवास करने वाली जनसंख्या का वहॉ पर विद्यमान संसाधनों के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। यदि संसाधनों के दृष्टिकोण से जनसंख्या अल्प है तो साधनों का उचित मात्रा में दोहन नहीं हो पायेगा। यदि जनसंख्या अधिक है तो संसाधनो का अत्याधिक शोषण होगा। दीर्घकाल तक यही स्थिति बनी रही तो संसाधनो की अल्पता का संकट उत्पन्न हो जायेगा। पारिस्थितिक दृष्टिकोण से जनसंख्या एवं संसाधनों के महत्व का सन्तुलन होना आवश्यक है नहीं तो हम विकासात्मक कार्यक्रमों की सही ठंग से सम्पादित नहीं कर सकेगें जिससे गुणात्मक ह्मास होगा।

यदि वर्तमान सन्दर्भ में देखा जाये तो सोरांव तहसील की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव भूमि पर अधिक पड़ा है। जहॉ वनस्पतियों को काटकर अपनी आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए उसके साथ अत्याधिक दोहन किया हो। यही करण है कि निम्नलिखित समस्याएं उत्पन्न हो रही है।

- अत्यधिक जनसंख्या के कारण उपजाऊ भूमि बहुमजली इमारत तथा भवन निर्माण में खाद्यान्न की गुणवत्ता में कमी आ रही।

- पर्यावरण को सन्तुलन बनाये रखने के लिए बन जो कि भूमि अपरदन को रोकने में कारगर सिद्ध होते है लेकिन अपार जनवृद्धि ने इसको समाप्त कर रहा है और पर्यावरणीय समस्याएं उनतिधिक सम्भावित हो गयी है।
- भूमि अपनी उर्वरता शक्ति के कारण अपनी एक विशेषता को परिलक्षित करता है। लेकिन उर्वरता का क्षरण इस तरह से कर रहा है कि आने वाली पीढ़ी के लिए संकट खड़ा कर रही है। उदाहरण स्वरूप में हरित क्रान्ति का दुष्प्रभाव पंजाब, हरियाण के क्षेत्रों में आज दिखने लगा है। वहॉ के अनाज तथा चारा को लोग नकार रहे है तथा अत्यधिक उर्वरकों के प्रयोग से बच्चो में कैंसर की प्रतिशतता अधिक हो रही है।
- उर्वरक भूमि की मिट्टी को लाकर निर्माण उद्योग में लगाया जा रहा जैसे ईंट भट्टे का प्रचलन अधिक हो गया। भवन निर्माण में पक्की ईंटों का प्रयोग अधिक हो रहा है।
- भूमि में छिपे खनिज को वेतरतीब तरीके से भूमि की खोदाई की जाती है जिससे मृदा अपरदन की समस्या अधिक हो जाती है।

egRoi.k mik; %&

सतत विकास और जनकल्याण के लिए कुशल प्रबन्ध के उद्देश्य सिर्फ़ राज्यों के बीच बेहतर सहयोग और समझदारी के जरिए पूरे किये जा सकते है।

- बेहतर प्रबन्धन व्यवहारों को अपनाकर और समुचित विनिमय बजटिंग और भूमि लेखा परीक्षा अन्य उपाय है जिनके जरिए मिट्टी उपयोग की कुशलता बढ़ाई जा सकती है।
- शैक्षिक दूरदर्शन पर जल संकट को कारण निकट भविष्य उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की समस्याओं से उनके बचाव सम्बान्धित लघु नाटिका व डाक्यूमेन्ट्री फिल्म आदि दिखाई जाए।
- अधिक से अधिक वृक्ष लगाये जाने चाहिए।
- विश्वविद्यालयों / महाविद्यालयों / माध्यमिक विद्यालयों में प्रत्येक वर्ष शिक्षकों / विद्यार्थियों को भूमि संसाधन के संकट कम करने पर सहयोग देने पर उन्हें पुरस्कृत किया जाना चाहिए।
- तेजी से बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण किया जाए तथा कोई ऐसी व्यवस्था बनाई जाए जिससे भूमि की गुणवत्ता बनी रहे।

lUnHk %

1. Andersm JR : 1470, A Geography of Agriculture Dubuque Lowa Wm. C. Brown 2- Gressy G. B. (1955) Land of 500 Million me Grow Hill Book Company
2. Singh S.K., 1994, Rural Development, Polices and Progress in Sagar District
3. सिंह ब्रम्हानंद 1984 – कृषि भूमि उपयोग
4. काशीनाथ सिंह, जगदीश सिंह : आर्थिक भूगोल के मूल तत्व, 1989 पृष्ठ 55
5. सिंह आर0 एल0 – इंडिया ए रिज़नल ज्याग्रोफी, 1971 पृष्ठ 139

****

INDIAN AGRICULTURAL POLICY AND ECONOMIC GROWTH

Dr. Manoj Mishra*

The rationale in formulation and issuing a comprehensive policy statement on agriculture is to avoid conflicts and internal inconsistencies among the different objectives and priorities of the growth process.

As a peculiar characteristic of an under- developed country, agriculture formed the sole occupation of the mass of population .For agricultural development surpluses of food and raw materials for consumption, Investment and exports have to be created and made available .The economic life of a nation is an organic whole in which agriculture , industry, trade , commerce and socio-economic progress in education, health and sanitation should all be combined together(1) .

A royal commission was appointed in 1926 to examine and report on the condition of agricultural and rural economy in India and to make recommendation for the improvement of agriculture production , welfare and prosperity of the rural population. The commission issued a comprehensive report in 1928 covering a very wide field . The aim of the suggestions and recommendations made by the commission has been to bring about greater efficiency throughout the whole field of agricultural production and render the business of farming more profitable to cultivator . Their conviction was "that no substantial improvement in agriculture can be effected unless the cultivator has the will to achieve a better standard of living and the capacity in terms of mental equipment and of physical health, to take advantages of the opportunities which science, wise laws and good administration may place at his disposal. Of all the factors making for prosperous agriculture, by far the most important is the outlook of the peasant himself(2)."

The recommendation of the commissions were comprehensive in nature including subjects like sub-division and fragmentations of holdings improvement of livestock , irrigation, marketing and rural reconstruction.

NATIONAL AGRICULTURE POLICY (2000):MAIN FEATURES:

The government on 28th july , 2000 made public a national agriculture policy to evolve a development policy for the agricultural sector which is a major and primary sector of the Indian Economy . The national policy on agricultural seeks to actualize the vast untapped growth potential of Indian agriculture which is to be achieved through a combination of measures including structural , institutional ,agronomic etc. The policy , with a time frame of two decades , provides for a high growth rate of over four percent per annum in the agricultural sector . The National Agricultural Policy envisaged the following type of growth :

- Growth that is based on efficient use of resources and conserves our soil , water and bio-diversity.
- Growth with equity i.e. growth which is wide spread across regions and covers all farmers.

* Associate Professor, P.G. Department of Economics, M.D.P.G. College Pratapgarh (UP)

- Growth that is demand driven and caters to domestic markets as well as maximizes benefits from exports of agricultural products in face of challenges arising from economic liberalization and globalization.
- Growth that is sustainable technologically, environmentally and economically.

The growth envisaged is both efficient and equitable .The focus of the new policy is on efficient use of resources and technology, adequate availability of credit to farmers as also other inputs. Rural electrification would be given higher priority as a prime mover for agricultural development.

In the process of achievement of the objectives and the development of agricultural sector , the policy covers almost all the aspects of agriculture: investment, growth, productivity, terms of trade, technology , environment , land and water resources and institutional factor . Measures will be taken " to contain biotic pressures on land and to control indiscriminate diversion of agricultural lands and for non-agricultural purposes." Special emphasis will be laid on conserving soil and enriching their fertility. A long term perspective plan for sustainable rainfed agriculture through water - shed approach will be vigorously pursued for development of two third of India's cropped area which is depended on rains . As for water , the policy gives the highest priority to conjunctive use of surface and ground water . In respect of technology the National Seeds Corporation Of India (NSCI) will be reconstructed for efficient utilization of investment and Man power . In view of dismantling of quantitative reconstructions (QRs) on imports as per WTO agreement of agriculture, the new agriculture policy has recommended formulation of commodity wise strategies and arrangement to protect farmers from adverse impact of undue price fluctuations in the world market and promote exports.

HOW AGRICULTURAL POLICY CAN HELP IN OUR ECONOMIC GROWTH :

The agricultural base in our country has being considerably strengthened since the adoption of new strategies and much greater resilience has been achieved on food grains production front(3) . The policy orientation since early 1970's had helped to consolidate the grains of selective approach of technical changes known "green revolution" .The overall assessment of agricultural policy during five year plans has to focus on the salient features of the strategy of agricultural progress and the contribution of this sector to the economic growth in the country(4). However , this sector still suffers from various shortcoming and a large section of small and marginal farmers is caught in a cycle of low productivity , low incomes and low investment. A low and declining rate of agricultural production during nineties , uneven and inequitable growth across regions ,crops and farmers , low investment etc. Has led to be formation of the national agriculture policy (2000) . The national policy has given a new frame work to tackle the current problem facing the farm economy and suggested concrete steps in a coordinated manner . The national agriculture policy covers almost all the aspects of agriculture : investment, growth , productivity, terms of trade , bio - diversity and environment. An earlier draft APR had clearly stipulated that the resource allocation process in agriculture needs to be reshaped " with a view to rechannelising available resources from current support measures towards capital formation infrastructure building . The NAP has further endorsed the policy of raising public investment in irrigation which has fallen significantly over successive plan periods. Besides , a conducive climate will be created through a favourable price and trade regime to promote farmer own investments as also investment by industries producing inputs for agriculture and agro- based industries.

Private sector investment in agriculture will also be encouraged , more particularly in areas like agricultural research , human resource development , post harvest management and marketing (5). The main elements of agriculture policy as enunciated above are designed to promote growth, stability and social justice and result in a continuous improvement in

output , employment and income(6) . In case of some apparent conflicts and internal inconsistencies among objective and priorities " the strategy should be to have a judicious mix of policies so that the objectives are attained without detriment to either . Where capital is scarce , economic necessity and social references have to be suitably balanced to attain both economic and social goals." Such areas of conflict may arise for example in regard to fulfil the objectives of increasing marketable surplus of food- grains to meet the rising urban demands and do away with imports .For this adequate emphasis has to be placed on increasing the production of farmers who are likely to have larger marketable surpluses . On the other hand with the view to bring the small farm producer above the poverty line higher priority has to be given for increase in their production and consumption. Similar area of conflict arise (a) In choosing a strategy securing immediate increase in production through concentration of efforts in more favourable areas with assured irrigation or alternatively to safeguard balanced regional development, keeping in check the increase in the disparity in levels of income and employment (b) The policy of mechanization and employment (c) Giving the highest incentive price to the farmers and assuring cheaper grains to the consumers particularly to vunerable section of the population etc.

The growth in the agricultural sector is the key to sustain growth in national income at a reasonably high rates in the country (7) . The growth in this sector assumes critical importance since population in India has crossed 121 crores in 2011. The responsibility of the agricultural sector in providing food products to growing population and rising incomes can hardly be overemphasized . Apart from imparting stability to the economy, self sufficiency in food- grains and important cash crops will help the country in various ways: elimination of the burden on foreign exchange resources, facilitate import of capital goods and will reduce uncertainities associated with the procurement of supplies from international sources . Besides a developed agricultural sector accelerates by providing g industrial raw materials, employment, capital and exchange earning . In the wake of economic liberalization in the country certain policy issues have come up in relation to the agricultural sector in India. Developing countries have been asked to reduce their import duties so as to provide greater market access(8) . However , the exposure to volatile international market who affect domestic prices and the incomes of the small and marginal farmers and other poor sections of the rural population .At recent WTO Conferences it was suggested that tariff reduction by developing countries should be matched by substantial reduction of input and export subsidies on agricultural products by the developed countries. It would be difficult for us to agree to negotiation , which could potentially placed at high risk the very livelihood of 650 millions people in India . The national agricultural policy has recommended formulation of commodity wise strategies and arrangements to protect farmers from adverse impact of undue price fluctuations in the world market and promote exports.

The agricultural sector has a large potential to contribute to the national income while at the same time providing direct employment and income to the numerically large and vulnerable sections of the society .There is no inherent conflict between growth and social justice, provided appropriate policies are evolved to ensure both .the main thrust of the policy should be to secure demand-supply balance in various agricultural commodities and distributive justice over a period of time .both institutional and technological factor have to be reoriented and improve to achieved this basic goal of planning our agricultural sector with its vastness and varied problems . The experience of five decades of planned effort will itself provide guidelines and new paths of development . The focus of the National Agriculture Policy is on efficient use of resources and agricultural growth with equity . Ways and means should be devised for actively involving the large mass of peasants and labours in modern agriculture in which adoption of technology is the key input . The need is

to build a commercially and economically viable agricultural sector which is significantly integrated with other sectors of the Indian economy in the coming decades so as to meet the requirements of the growing rural and urban population .The policies of agricultural development aim to increase productivity and overall production in the agriculture sector.

References:

(1) Alak Ghosh - Indian Economy , Its Nature and Problems , World Press Calcutta , 1980

(2) A.N Agrawal - Indian Economy , Wishwa Prakashan , New Delhi

(3) C.H Shah (ed)- Agricultural Development of India , Policy and Problems, Orient Longman , Bombay ,1979

(4) C.H Hanumantha Rao - Technological Change and Distribution of Gains in Indian Agriculture ,Macmillan , New Delhi,1975

(5) C.H Hanumantha Rao - Agricultural Growth , Rural Poverty and Environmental Degradation in India , Oxford Press , New Delhi ,1994

(6) I.S.A.E- Agriculture Development in I ndia-The Next Stage , Himalaya Publishing House, Bombay ,1988

(7) R.K Govil and B.B Tripathi - Agricultural Economy of India , Kitab Mahal , Allahabad 1996

(8) M.L Dantwala (ed)Indian Agricultural Development Since Independence , Oxford and I.B.H Publishing Company , Private Limited 1991

****

WOMEN IN SCIENCE EDUCATION

Rajini Gupta*

Introduction :

After Sixty-eight years of independence of India, girls in India do not have the opportunities to educate themselves, in spite of education being fundamental rights in the constitution of India.

Modern education has been hailed to be proceeds of social change, but social changes involved the development of education. As the position of women is treated to be indicating the status of civilization, education attracted the attention of the advocates of social change, globally. In India , the position of women engaged the attention of the state, policy designers and the larger civil society for they are relatively backward and happen to be the 'victims' of tradition as interpreted by men. Within the 'Society', they are accorded a second class status. However, as the forces of modernity touched various communities with different degrees of intensity, People began to concede the 'right' of education to their women.

Today science education in women plays an important role. We analyze that how society thinks about women science education and its contemporary challenges and how they promoting the culture of science education among the girls.We determine the issues of women science education by using innovative methods and technologies.

Role of Women in Science

About two decades ago to think of a female Indian scientist were virtually impossible. It is only in the twentieth century that some women could get some training in physics and other basic sciences. In the field of medicine of course a very limited opportunity opened up in 1880s and one finds a few Indian women doctors like KadambiniBasu, AnandiBai and HemvatiSen(Kumar, CSIR).

Yet, the number of women in science and medicine remained low over the years. By 1890 women had secured admission to medical colleges or schools in Delhi, Agra, Bombay, Calcutta and Lahore.

During year 1941-42, the enrolment pattern in Indian universities for the shows that the total number of girls enrolled for undergraduate course in science was 903 in comparison to 11, 217 boys. Only 83 girls were enrolled for a postgraduate course in science in contrast to 1,321 boys. While in medicine their number was 778 against 6,093 boys, in the engineering only 1 was enrolled with 2,718 boys (Kumar, CSIR).

Hansaben Mehtaas early as1946, not only became a Vice Chancellor, but could make outstanding contributions to the development of education in India.

The debates, however, continued over the subjects taught to women. ACommittee on differentiation of'curricula for Boys' and Girls'were established in 1964. Science and technology in India could witness expansion in the Post-Independence Era. What has been the situation of women?

* M. Phil., Central University of Gujarat.

When, we have studied a few books dealing with women's educational status. They include Sabyasachi Bhattacharya ed., Education and the Disprivileged: Nineteenth and Twentieth India (Orient Longman,2002), Modernizing Women: Gender & Social Change in the Middle East and Nita Kumar's The Politics of Gender, Community and Modernity: Essay on Education in India (OUP,2007) have been studied for understanding the theory related to the question of marginally and the quest of the marginalized for making a just society We have also consulted the reports of the Sachar Committee and Rangnath Mishra Commission, which furnish a pool of data on the educational status of women, among other things.

Educationalist has left a significant mark on thinking about this concept. Paulo Freire (1921- 1997), assume that the learners must understand their own reality as part of their learning activity.As Stephen Castles emphasizes 'Social transformation' implies an underlying notion of the way society and culture change in response to such factors as economic growth, war or political specific sense. According to Castle, it should be established an analytical framework which is particularly relevant to the current historical period. In other words, 'Social transformation' studies could be seen as a new interdisciplinary paradigm which we wish to develop social transformation studies emerge as a research field that can lead to theorizing positive social and political actors to protect locals and communities against the negative consequences of the globalization process (Castle 2000).

Science education among the rural girls. On one hand NGO with the partnership of bank is providing assistance to poor family to invest in the education of their girls, especially for science education and on the other side to promote the culture of education of girls, Bank and NGO give certificate to the father in the public program who are educating their daughters. The most challenging task is to create the motivation among rural communities for the science education.

According to ChetnaSinhapeople are frustrated with the education system and services, in villages. One would see every year some private school opens up in village and people feel, they may get better education and would send them to the private school and within few days that school would be closed for several reasons and one of the reason would be the permission from the government and even government schools are not running properly. People find themselves in the vulnerable situation. Secondly, some people send their children in the high school and the standard of the high school is so bad practical labs are not working in proper way that their children cannot compete further in colleges. And if they did the education is so irrelevant that if they cannot get government jobs (which are impossible) they cannot create employment for themselves by what they have learnt in the schools and colleges. There is need of long term campaign to change the education pattern and make government accountable for the education services they give.

Identification of the Problem(Dominic, 2011)

- The major problem in the practical implication of the concept social change of women is the lack of acceptance in understanding of the concept and its implications in its true spirit.
- The statistical problems are related to applying qualitative tools to measure a concept, which is both quantitative as well as qualitative… In India there is no foolproof design for measuring transformation. The measurements of these issues are different from that of the rural and urban area.
- In spite of the aforesaid specific steps for improving the status of women in science education we experience a transformation of women in India through their

writings.Programmes should conduct through media for the empowerment of women.

Conclusion :

Our focus would be to study the attitudinal changes taking place among girls. We study their craving or otherwise for receiving education, particularly higher education, their self- conception, perception, of their religious and citizenship rights, their ability to cope up with the pressures between family expectations and their own aspirations, their readiness to carve out a space for themselves given the limited opportunities.

Girls are ready to change their own status and that of the nation at large. While they may not completely accept 'modernity' in terms of dressing, hair dressing, free mobility, etc., they have ability to take tradition hand to hand with 'modernity'. The more they are educated in their religion, the more they are becoming conscious of their rights sanctioned by foundational texts. Employment of religious idioms, for asserting 'modern rights', has been observed to have served a positive role, as a few have preferred to call ongoing process.

Educational opportunities have empowered women to question the variousbasic digits of patriarchy. Also will be identified is the fact that 'modernity' differs in multiple ways to different religions and classes.

Women's negotiation of modernity differs because of their different locations.Science education system in India essentially reflect masculine ethos! Vertical as well as hierarchical segregation in terms of gender remains a persistent phenomenon. Though, there is lack of systematic and comprehensive data, it is clear that only a handful of women hold the positions of authority or decision-making, such as Rector or Dean. This aspect will also be explored.

References :

1. Dominic, B. (2011). 'Women's Education a Tool of Social Transformation'-A Historical Study Based on Kerala Society. International Journal of Scientific & Engineering Research, 2229-5518.
2. DPEP Bureau: Three Years of DPEP - Assessment and Challenges, Department of Education, MHRD, GOI New Delhi, March 1998
3. GOI: Elementary Education - A fundamental right, Department of Education, MHRD, GOI, New Delhi 1997.
4. GOI: Report of the Committee for the Re-constitution of National Elementary Education Mission; Department of Education, MHRD, GOI New Delhi 1998 NCERT: Sixth Educational Survey, New Delhi, 1993
5. Lingard, T. G. (2010). Educational Research by Association. Rotterdam/ Boston/Taipei: Sense.
6. S.Susan, K. (2007). Handbook of Achieving Gender equity through Education.
7. Srivastva, G. (2000). women's higher education in the 19th Century. New Delhi: Ashok Kumar Mittal Concept Publishing Company.

****

علامہ اقبال کا اصلاحی نقطۂ نظر

تمنا شاہین (ریسرچ اسکالر، شعبۂ اردو، بی ایچ یو)

نہیں تیرا نشیمن قصر سلطانی کے گنبد پر
تو شاہیں ہے بسیرا کر پہاڑوں کی چٹانوں میں

علامہ اقبال اس ہمہ جہت شخصیت کا نام ہے جس کی زندگی اور شاعری کے ایک ایک گوشے پر ہزاروں صفحات لکھے جا سکتے ہیں۔ یہ حقیقت ہے کہ اقبال نے اپنی شاعری سے پیغامبری کا کام لیا ہے۔ لیکن اس کا یہ مطلب ہرگز نہیں کہ ان کی شاعری فنی خوبیوں سے خالی ہے۔ بلکہ سچائی تو یہ ہے کہ شاعری کے رموز وعلائم پر ان کی گہری نظر تھی۔ انھوں نے فن شاعری میں ندرت پیدا کی۔ نئی نئی تشبیہات واستعارات ایجاد کئے جس سے اردو شاعری کی دنیا ہی بدل گئی۔ ان کی فکری توانائی انھیں وہی شاعر کا درجہ عطا کرتی ہے۔ ان کا یہ خیال تھا کہ شعروادب کا ذوق خدا کا عظیم عطیہ ہے جس سے معاشرے میں انقلاب لایا جاسکتا ہے۔ اس لئے وہ چاہتے تھے کہ شاعر وادیب اپنے قلم میں قوت تسخیر پیدا کریں۔ انھوں نے خود بھی اپنے خامۂ شوق میں وہ تاثیر پیدا کی جس نے حساس دلوں کو جھنجھوڑ کر رکھ دیا۔ انھوں نے نہ صرف ماضی وحال کے واقعات کو اپنی شاعری کا موضوع بنایا بلکہ اپنی دوراندیشی اور فکری بصیرت سے ملک وقوم کے مستقبل تک رسائی حاصل کی اور عوام کو ان خطروں سے آگاہ کیا جو عنقریب ہی انھیں پیش آنے والے تھے۔ وہ خود کہتے ہیں:

مجھے رازدو عالم دل کا آئینہ دکھاتا ہے
وہی کہتا ہوں جو کچھ سامنے آنکھوں کے آتا ہے

چھپا کر آستیں میں بجلیاں رکھی ہیں گردوں نے
عنادل باغ سے غافل نہ بیٹھیں آشیانوں میں

وطن کی فکر کر ناداں مصیبت آنے والی ہے
تری بربادیوں کے مشورے ہیں آسمانوں میں

اقبال ایک زندہ دل شاعر ہونے کے ساتھ مصلح قوم بھی تھے۔ ان کی شاعری میں ان کا اصلاحی نقطۂ نظر صاف دکھائی دیتا ہے۔ کیونکہ درحقیقت اپنے اشعار کے ذریعہ وہ ملک میں تبدیلی لانا چاہتے تھے۔ ان کے سینے میں ایک دردمند دل تھا جو قوم کی تکلیف پر تڑپ اٹھتا تھا۔ حالانکہ قومی یکجہتی اور عوامی بیداری کا آغاز سرسید پہلے ہی کر چکے تھے۔ ان کا مقصد ہندوستانیوں کو اس مقام تک پہچانا تھا جہاں انھیں احساس کم تری کا شکار نہ ہونا پڑے۔ معاشرے کی اصلاح کے لئے انھوں نے بڑی جدوجہد کی۔ اگر کہا جائے کہ سرسید کے اصلاحی مشن کو علامہ اقبال نے پایۂ تکمیل تک پہچایا تو غلط نہ ہوگا۔ علامہ اقبال بلند حوصلے کے مالک تھے۔ وہ اپنے ہم وطنوں میں جوش اور ولولہ پیدا کرنے کے متمنی تھے۔ ان کے سامنے بہت سے مسائل تھے، جن میں سب سے بڑا مسئلہ ملک کی آزادی کا تھا کیونکہ اس وقت ملک غلامی کی زنجیر میں جکڑا ہوا تھا۔ ہندوستانی عوام بالخصوص ہندوستانی

مسلمانوں کے حالات ناگفتہ بہ تھے،ان کی تہذیبی قدریں پامال ہورہی تھیں،انگریزوں کا ظلم وستم عروج پر تھا اور معصوم ہندوستانیوں کو ان منتشر حالات سے نبرد آزمائی کی کوئی صورت نظر نہیں آرہی تھی اس لئے وہ بے توجہی کا شکار ہو چکے تھے،خود کو بے بس ومجبور تسلیم کرکے یہ بھول چکے تھے کہ وہ تمام مخلوقات میں افضل ہیں۔ظاہر ہے جب انسان کو روٹی کے بھی لالے پڑ جائیں تو اس کی عقل بھلا کیسے کام کرے گی،کوئی کسی پر یقین کیا کرتا لوگوں کا اعتبار اپنی ذات سے بھی اٹھ گیا تھا،وہ مکمل طور پر حالات کے آگے سپر ڈال چکے تھے۔

آج ہم آزاد ہندوستان میں سانس لے رہے ہیں جن حالات کے تصور سے ہمارے رونگٹے کھڑے ہو جاتے ہیں ان حالات کو اقبال نے اپنی آنکھوں سے دیکھا اور دل کی گہرائیوں سے محسوس بھی کیا،انھوں نے قوم کو بے اعتمادی کے دلدل سے نکال کر اعتماد بخشا۔ ہندوستانیوں کے اندر موجود خامیوں کا احاطہ کیا اور انھیں دور کرنے کے لئے شعروادب کا سہارا لیا۔وہ معاشرے میں تبدیلی لانا چاہتے تھے،ان کے سامنے جو صورت حال تھی اس سے چھٹکارا حاصل کرنا آسان تو نہ تھا لیکن انھیں یقین تھا کہ اگر جدوجہد کی جائے تو اچھے نتیجے برآمد ہو سکتے ہیں۔ بھلے ہی چاروں طرف خوف کے بادل منڈلا رہے ہوں، یاس وناامیدی کی چادر آنکھوں پر پڑی ہو، پھر بھی اگر حالات کا مقابلہ کرنے کے لئے کمر بستہ ہو جائیں تو روشنی کی ایک نئی کرن پھوٹتی ہے۔اس لئے وہ مایوس نہیں ہوتے بلکہ ناسازگار حالات کو بہتر بنانے کی کوشش کرتے ہیں اور عوام کے شکستہ وجود میں حرارت بھرنے کے لئے کہتے ہیں :

نہیں ہے نا امید اقبال اپنی کِشت ویراں سے
ذرا نم ہو تو یہ مٹی بہت زرخیز ہے ساقی

اٹھ کہ خورشید کا سامان سفر تازہ کریں
نفس سوختۂ شام و سحر تازہ کریں

یعنی اقبال نے اپنی شاعری کے ذریعہ عوام کے اندر جوش وتوانائی کی ایک نئی لہر پیدا کی۔انھوں نے قوم کو صحت منداحساس بخشا۔صدیوں سے دکھ درد میں ڈوبے عوام کو رنج وغم سے باہر نکالنے کے لئے ایسے طریقے اختیار کیے جو بڑی حد تک کارگر ثابت ہوئے۔

اقبال نے مختلف وسیلوں سے محکوم عوام کو ان کے حقوق پہچاننے پر آمادہ کیا ان کی محنت کچھ حد تک رنگ لائی اور قوم نے متحد ہو کر اپنے مشن کے تحت علم اتحاد بلند کیا جس کے نتیجے میں ہمارے ملک ہندوستان میں بہت سی تبدیلیاں رونما ہوئیں اور پس ماندہ قوم جاگ اٹھی۔ کہا جاتا ہے کہ شاعر اپنی شاعری سے بڑے بڑے کام لیتا ہے۔اقبال نے بھی اپنی شاعری کے ذریعہ بڑا کام لیا ہے۔انھوں نے عوام کو حالات حاضرہ سے باخبر کرنے کے ساتھ ساتھ انھیں حالات سے مقابلہ کرنے کے لئے آمادہ کیا۔وہ ہمیشہ قومی ایکتا کے قائل رہے۔ یہ الگ بات ہے کہ سفر یورپ کے بعد ان کا قومیت ووطنیت کا تصور بدل گیا تھا،لیکن یہ بھی حقیقت ہے کہ وہ دم آخر تک قوم کے غم میں مبتلا اور وطن کی محبت میں سرشار رہے، وہ ہمیشہ اخوت و بھائی چارے کا پیغام دیتے رہے کیونکہ جذبۂ ہمدردی ان کی رگ وپے میں سرایت کر چکا تھا جسے وہ انسانیت کی معراج تصور کرتے تھے۔انھوں نے بچوں کے لئے بھی کئی نظمیں لکھی ہیں جن میں انھوں نے بڑی سادگی سے دوسروں کی مدد، ہمدردی اور خلوص کا پیغام دیتے ہوئے غرور وتمکنت سے بچنے کی نصیحت کی ہے:

ہیں وہی لوگ جہاں میں اچھے
آتے ہیں جو کام دوسروں کے

ایک ایسے عہد میں جب قوم غلام ہونے کے باوجود آپسی اختلاف میں الجھی ہوئی تھی،اسے صحیح اور غلط کی کوئی پہچان نہ تھی،اس کی زندگی کا کوئی نصب العین نہیں تھا تب یہ حساس شاعر بے ساختہ یہ کہنے پر مجبور ہو گیا :

ہوس نے کر دیا ہے ٹکرے ٹکڑے نوع انساں کو
اخوت کا بیاں ہوجا، محبت کی زباں ہوجا

اقبال کے آس پاس ایسے ہندوستانی بھی تھے جو خود کو مظلوم ظاہر کرتے لیکن باطنی طور پر وہ ظالموں میں شامل تھے۔ وہ اپنے وقتی فائدے کے لئے ملک وقوم کا سودا کرنے پر تلے ہوئے تھے۔ایسے مسلمان بھی تھے جو فرقہ پرستی کی آڑ میں دوسرے ہی گل کھلا رہے تھے۔اقبال یہ سارے

مناظر اپنی آنکھوں سے دیکھ رہے تھے اور دل سے محسوس کر رہے تھے اس لئے اپنے ہم وطنوں کو نصیحت کرنے کے ساتھ ساتھ سوالیہ انداز میں ان پر طنز بھی کرتے ہیں :

اجاڑا ہے تمیزِ ملت و آئیں نے قوموں کو
مرے اہل وطن کے دل میں کچھ فکر وطن بھی ہے؟

اقبال بخوبی جانتے تھے کہ کوئی بھی قوم اپنے ماضی کو فراموش نہیں کر سکتی وہ خود بھی یہ نہیں چاہتے تھے۔ ماضی کے اچھے واقعات یاد کر کے خوش ہونا انسان کی فطرت میں داخل ہے۔ اقبال کو اس بات کا بہ خوبی علم تھا اس لئے بڑے ہی دوستانہ اور مخلصانہ لہجے میں مستقبل کی فکر پر آمادہ کرتے ہیں:

طلوعِ فردا کا منتظر رہ، کہ دوشِ امروز ہے فسانہ

ذرا دیکھ اس کو جو کچھ ہو رہا ہے ہونے والا ہے
دھرا کیا ہے بھلا عہد کہن کی داستانوں میں؟

انسان فطری طور پر برا نہیں ہوتا بلکہ حالات اس کو برے راستے پر چلنے کے لئے مجبور کرتے ہیں۔ انسان جب بھی کوئی غلط قدم اٹھاتا ہے تو اس کا ضمیر ہزار بار اسے ٹوکتا ہے، یہ ضمیر کوئی اور نہیں بلکہ اس کے اندر موجود وہ اچھا انسان ہے جسے فطرت نے پیدا تو کیا ہے، لیکن اسے تلاش کرنا بڑا مشکل ہے۔ یہ اچھا انسان وقتاً فوقتاً اپنی موجودگی کا احساس دلاتا رہتا ہے اور انسان کو افعال نیک کی جانب راغب کرتا ہے پھر بھی بعض اوقات وہ غلط راستہ اختیار کر لیتا ہے۔ زندگی کے رموز و علائم کو سمجھنے کی کوشش نہیں کرتا بلکہ لمحہ بھر کی تسکین کے لئے وہ ان راستوں پر چل پڑتا ہے جو اسے رسوائی کے سوا کچھ نہیں دیتے۔ اقبال انسان کی اس حقیقت سے بخوبی طور پر واقف تھے اس لئے وہ انسان کو اس کی اہمیت کا احساس دلاتے ہوئے نصیحت اور طنز دونوں کرتے ہیں:

نہیں ہے چیز نکمی کوئی زمانے میں
کوئی برا نہیں قدرت کے کارخانے میں

اپنے من میں ڈوب کر پا جا سراغ زندگی
تو اگر میرا نہیں بنتا، نہ بن، اپنا تو بن

اقبال خود اعتمادی اور خدا اعتمادی کی اہمیت سے اچھی طرح واقف تھے۔ انسانی زندگی میں یہ دونوں چیزیں اہم کردار ادا کرتی ہیں۔ اگر یہ دونوں چیزیں اسے حاصل ہو جائیں تو وقت جیسا بادشاہ بھی اس کا غلام بن جاتا ہے، زندگی کے نشیب و فراز سے الجھنے کے بجائے وہ خندہ پیشانی سے ان کا مقابلہ کرتا ہے اور مایوسی و ناامیدی کے بادل اس سے یوں بھاگتے ہیں جیسے بندر کوے سے بھاگتا ہے، اسی لئے اقبال بار بار یقین و اعتماد کی تلقین کرتے ہیں:

یقیں پیدا کر اے ناداں یقیں سے ہاتھ آتی ہے
وہ درویشی کہ جس کے سامنے جھکتی ہے فغفوری

خدائے لم یزل کا دست قدرت تو زباں تو ہے
یقیں پیدا کر اے غافل کہ مغلوب گماں تو ہے

یقیں محکم، عمل پیہم، محبت فاتح عالم
جہاد زندگانی میں ہیں یہ مردوں کی شمشیریں

علامہ اقبال کا اصلاحی نقطۂ نظر عام اصلاح سے مختلف تھا۔ وہ قوم کو ہر لحاظ سے مکمل دیکھنا چاہتے تھے، زندگی کے ہر شعبے میں اسے کامیاب وکامران دیکھنے کے خواہش مند تھے، کیونکہ ان کا یہ خیال تھا کہ دنیا کا کوئی بھی کام ناممکن نہیں، اگر انسان چاہے تو وہ دنیا کے سارے کام بہ خوبی کر سکتا ہے اس لئے مسلسل جدوجہد کی تلقین کرتے ہوئے اس کی اہمیت واضح کرتے ہیں:

نقش ہیں سب ناتمام خون جگر کے بغیر
نغمہ ہے سودائے خام خون جگر کے بغیر

بے محنت پیہم کوئی جوہر نہیں کھلتا
روشن شرر تیشہ سے ہے خانۂ فرہاد

مشرق سے ہو بیزار ، نہ مغرب سے حذر کر
فطرت کا تقاضہ ہے کہ ہر شب کو سحر کر

اقبال بندۂ مومن کو ہمیشہ آگے بڑھنے کی نصیحت کرتے ہیں۔ مختلف انداز میں اسے حرکت و عمل کے لئے آمادہ کرتے ہیں۔ ان کے نزدیک انسان کی ایک بڑی خصوصیت اس کا متحرک رہنا بھی ہے۔ اسی لئے وہ اسے 'شاہین' کہہ کر مخاطب کرتے ہیں۔ دراصل شاہین ایک ایسا پرندہ ہے جس کی کچھ انفرادی خصوصیات ہیں، مثلاً اس پرندے کو اپنی خودداری بے حد عزیز ہے، یہ ہمیشہ متحرک رہتا ہے، ہمت و حوصلے سے حالات کا مقابلہ کرتا مقابلہ کرنا، کسی کا محتاج نہ رہنا اس کی بنیادی خوبیاں ہیں شاید اسی لئے یہ اقبال کا محبوب استعارہ ہے اس سلسلے کے چند اشعار ملاحظہ ہوں:

گزر اوقات کر لیتا ہے یہ کوہ وبیاباں میں
کہ شاہیں کے لئے ذلت ہے کار آشیاں بندی

تو شاہیں ہے پرواز ہے کام تیرا
ترے سامنے آشیاں اور بھی ہیں

شاہیں کبھی پرواز سے تھک کر نہیں گرتا
پُردم ہے اگر تو ، تو نہیں خطرۂ افتاد

اگر اقبال کے فلسفۂ خودی کا بغور مطالعہ کیا جائے تو اندازہ ہوگا کہ اس کے پس پشت بھی ان کا اصلاحی نقطۂ نظر کارفرما ہے۔ انھوں نے خودی کے تعلق سے سیکڑوں اشعار کہے ہیں جو قاری کو مسحور کرنے کے ساتھ ساتھ بے چین و بے قرار بھی کرتے ہیں، بعض اشعار اتنے پُر تاثیر ہیں کہ قاری کی سوچ کا رُخ بدل دیتے ہیں اور وہ خود کو شاعر کا ہم نوا پاتا ہے۔ چند اشعار بطور نمونہ پیش کئے جا رہے ہیں جو قاری کے دماغ کو جھنجھوڑتے ہوئے اس کے وجود میں لرزہ طاری کرتے ہیں اور اسے اپنی خودداری برقرار رکھتے ہوئے نئی منزل کی طرف راغب کرتے ہیں، ایسی منزل اور ایسی دنیا جو اس کی خود ساختہ ہو، جہاں پہنچ کر وہ اپنے اصل منصب کو پہچان سکے اور آدم خاکی ہونے کا صحیح حق ادا کر سکے:

تو راز کن فکاں ہے اپنی آنکھوں پر عیاں ہو جا
خودی کا رازداں ہو جا، خدا کا ترجماں ہو جا

اپنی دنیا آپ پیدا کر اگر زندوں میں ہے
سرِّ آدم ہے ضمیر کن فکاں ہے زندگی

خودی کو کر بلند اتنا کہ ہر تقدیر سے پہلے
خدا بندے سے خود پوچھے بتا تیری رضا کیا ہے؟

خودی کا نشیمن ترے دل میں ہے
فلک جس طرح آنکھ کے تل میں ہے

علامہ اقبال کو ساری زندگی اس شخص کا انتظار رہا جو ان کی باتیں سمجھ سکے کیونکہ ان کے اردگرد ضعیف الاعتقادیوں کی تعداد زیادہ تھی جو عملی اقدام اٹھانے کے بجائے تقدیر کو الزام دیتے تھے۔ آج بھی ایسے لوگ موجود ہیں جو سائنسی ایجادات اور ترقیات کے باوجود خود کو تقدیر کے حوالے کر دیتے ہیں اور ناساز حالات کو بدلنے کے بجائے خاموش تماشائی بنے رہتے ہیں۔ حالانکہ اقبال ساری زندگی مایوسی و ناامیدی سے بچنے کی نصیحت کرتے رہے لیکن ایک ایسا وقت بھی آیا جب ان کے لہجے میں مایوسی نظر آنے لگی:

خبر نہیں کیا ہے نام اس کا خدا فریبی کہ خود فریبی
عمل سے فارغ ہوا مسلماں، بنا کے تقدیر کا بہانہ

بہر حال اگر ہم انصاف سے کلام اقبال کا مطالعہ کریں اور ان کی شاعری کو مختلف خانوں میں تقسیم کر دیں تو اندازہ ہوگا کہ ان کی اصلاحی شاعری بھی انھیں زندہ رکھنے کے لئے کافی ہے، کیونکہ ان کے اصلاحی اشعار میں بھی فکری گہرائی کے ساتھ ساتھ سادگی نظر آتی ہے۔ ان کے یہاں شوکتِ الفاظ کے ساتھ تہذیبی عناصر بھی پائے جاتے ہیں۔ داغؔ کی زبان، شبلیؔ و حالیؔ کی قومیات کے علاوہ غالبؔ کا فلسفہ اور اکبرؔ الٰہ بادی کا طنز بھی ان کے یہاں موجود ہے، جو قاری کو متاثر کرتے ہوئے اسے فکری توانائی اور ذہنی بالیدگی عطا کرتا ہے۔ اگر ہم اقبال کی متذکرہ تمام خصوصیات کو بالائے طاق رکھ کر ان کے شعری محاسن کو نظر انداز کرنے کی کوشش کریں پھر بھی وہ ایک مصلح قوم کی حیثیت سے زندہ رہیں گے، کیونکہ عوام میں انقلاب لانے کے لئے وہ یہاں تک کہہ گئے:

تو اپنی سرنوشت اب اپنے قلم سے لکھ
خالی رکھی ہے خامۂ حق نے تری جبیں

☆☆☆

सम्पादकीय सम्पर्क :
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान
सी–23, आवास विकास कालोनी,
प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत
मो0– 09415627372, 08004802456
ई–मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrakr.maurya@gmail.com

ISSN 2394-2207
₹ 300/-